चौथा कर्मग्रन्थ।

श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः।

श्रीदेवेन्द्रसूरि-विरचित—

'षडशीति'-अपरनाम—

चौथा कर्मग्रन्थ।

पं० सुखलालजी-कृत—

हिन्दी-अनुवाद और टीका-टिप्पणी आदि-सहित।

श्रीआत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मण्डल,
रोशनमुहल्ला, आगरा द्वारा प्रकाशित।

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशीमें मुद्रित।

वीर सं० २४४८, विक्रम सं० १९७८
आत्म सं० २७
शक सं० १८४३, ईस्वी सं० १९२२

मूल्य १)

प्रकाशक—
श्रीआत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मण्डल,
रोशनमुहल्ला, आगरा।

मुद्रक—
गणपति कृष्ण गुर्जर
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस,
जतनबड़, काशी। १४–२२

विषयानुक्रमणिका ।

विषय ।	पृष्ठ ।
मङ्गल और विषय	१
जीवस्थान आदि विषयोंकी व्याख्या...	३
विषयोंके क्रमका अभिप्राय	७
[१] जीवस्थान-अधिकार	६
जीवस्थान	६
जीवस्थानोंमें गुणस्थान	११
जीवस्थानोंमें योग	१५
जीवस्थानोंमें उपयोग	२०
जीवस्थानोंमें लेश्या-बन्ध आदि	२४
प्रथमाधिकारके परिशिष्ट	३३
परिशिष्ट "क"	३३
परिशिष्ट "ख"	३६
परिशिष्ट "ग"	३८
परिशिष्ट "घ"	४०
परिशिष्ट "च"	४३
परिशिष्ट "छ"	४५
[२] मार्गणास्थान-अधिकार	४७
मार्गणाके मूल भेद	४७
मार्गणाओंकी व्याख्या	४७
मार्गणास्थानके अवान्तर भेद	५६

विषय	पृष्ठ
गतिमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५१
इन्द्रियमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५२
कायमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५२
योगमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५२
वेदमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५३
कषायमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५५
ज्ञानमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५६
संयममार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५७
दर्शनमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६२
लेश्यामार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६३
भव्यत्वमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६५
सम्यक्त्वमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६५
संज्ञीमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६७
मार्गणाओंमें जीवस्थान	६८
आहारमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६८
मार्गणाओंमें गुणस्थान	८०
मार्गणाओंमें योग	९०
मनोयोगके भेदोंका स्वरूप	९०
वचनयोगके भेदोंका स्वरूप	९१
काययोगके भेदोंका स्वरूप	९२
मार्गणाओंमें योगका विचार	९४
मार्गणाओंमें उपयोग	१०५
मार्गणाओंमें लेश्या	११४
मार्गणाओंका अल्प-बहुत्व	११५
गतिमार्गणाका अल्प-बहुत्व	११५

विषय	पृष्ठ
इन्द्रिय और काय-मार्गणाका अल्प-बहुत्व	१२२
योग और वेद-मार्गणाका अल्प बहुत्व	१२४
कषाय, ज्ञान, संयम और दर्शन-मार्गणाका अल्प-बहुत्व	१२५
लेश्या आदि पाँच मार्गणाओंका अल्प-बहुत्व ...	१२८
द्वितीयाधिकारके परिशिष्ट	१३४
परिशिष्ट "ञ"	१३४
परिशिष्ट "झ"	१३६
परिशिष्ट "ट"	१४१
परिशिष्ट "ठ"	१४३
परिशिष्ट "ड"	१४६
परिशिष्ट "ढ"	१४८
परिशिष्ट "त"	१४९
परिशिष्ट "थ"	१५४
परिशिष्ट "द"	१५५
परिशिष्ट "ध"	१५७
[३] गुणस्थानाधिकार	१६१
गुणस्थानोंमें जीवस्थान	१६१
गुणस्थानोंमें योग	१६३
गुणस्थानोंमें उपयोग	१६७
सिद्धान्तके कुछ मन्तव्य	१६८
गुणस्थानोंमें लेश्या तथा बन्ध-हेतु	१७२
बन्ध-हेतुओंके उत्तरभेद तथा गुणस्थानोंमें मूल बन्ध-हेतु	१७५
एक सौ बीस प्रकृतियोंके यथासंभव मूल बन्ध-हेतु ...	१७९

विषय	पृष्ठ
गुणस्थानोंमें उत्तर बन्ध-हेतुओंका सामान्य तथा विशेष वर्णन	१८१
गुणस्थानोंमें बन्ध	१८७
गुणस्थानोंमें सत्ता तथा उदय	१८९
गुणस्थानोंमें उदीरणा	१९०
गुणस्थानोंमें अल्प बहुत्व	१९२
छह भाव और उनके भेद	१९६
कर्मके और धर्मास्तिकाय आदि अजीव द्रव्योंके भाव	२०४
गुणस्थानोंमें मूल भाव	२०६
संख्याका विचार	२०८
संख्याके भेद-प्रभेद	२०८
संख्याके तीन भेदोंका स्वरूप	२०९
पल्योंके नाम तथा प्रमाण	२१०
पल्योंके भरने आदिकी विधि	२१२
सर्षप-परिपूर्ण पल्योंका उपयोग	२१७
असंख्यात और अनन्तका स्वरूप	२१८
असंख्यात तथा अनन्तके भेदोंके विषयमें कार्मग्रन्थिक मत	२२१
तृतीयाधिकारके परिशिष्ट	२२७
परिशिष्ट "प"	२२७
परिशिष्ट "फ"	२२९
परिशिष्ट "ब"	२३१
परिशिष्ट नं० १	२३३
परिशिष्ट नं० २	२३९
परिशिष्ट नं० ३	२४०

प्रस्तावनाका शुद्धिपत्र.

अशुद्ध.	शुद्ध.	पृष्ठ.	पंक्ति.
प्रन्थमें	ग्रन्थमें	३	१
पर्यनियोग	पर्यनुयोग	३	११
नवीन	नवीनमें	३	१९
दी	दो	३	२१
उद्धार	उद्धार	४	१
किसी	किस	४	४
कोई कोई	कोई कोई विषय	४	१०
शुद्ध, अशुद्ध	शुद्ध स्वरूपका और दूसरे अशुद्ध	९	१६
पर आत्माका	आत्माका	१०	१३
उसके	पर उसके	१०	१४
दोस	होस	१३	१९
विधायाई	विघायाई	१३	२१
जह वा विग्घा	जह बहुविग्घा	१३	२३
दो है	होता है	१४	२०
जंतडवियद्दं	जंतडविपट्ट	१५	९
यत्ता	पत्ता	१५	१०
यडिनियत्ता	पडिनियत्ता	१५	११
ट्टिई यद्दो	ट्टिई पद्दो	१५	१३
रागद्धोसा	रागद्दोसा	१५	१४
पिपासवः	यियासवः	१५	१८
सति	सित	१६	६
चौरुरुद्धस्तु	चौररुद्धस्तु	१६	१७
कणदीप्र	कणदीप	१७	१८

यिथो	मिथो	१८	१५
विध्यापति	विध्यापति	१९	२१
,,	,,	१९	२२
प्रकार द्वेषकी	प्रकार रागद्वेषकी	२१	६
और अन्तमें	अन्तमें	२६	२०
मच न तो	सच अर्थात् न तो	२९	१२
वुद्धि	वृद्धि	३३	२
सांसारि	सांसारिक	३६	३
स्त्वात्मदेवाशु	स्त्वात्मनैवाशु	३७	१२
भविष्यदुःख	भविष्यद्दुःख	३८	१८
वस्थाया	वस्थायां	३८	१९
विवारणा	विचारणा	३८	२३
सहोऽपि	सहायोऽपि	४३	७
जो शास्त्र	जो जैनशास्त्र	४८	१
परावर्त्तके 'जैन	परावर्त्तके	४८	२
मायात् धर्म	मापातधर्म	५०	१८
भवाभिनन्द	भवाभिनन्दि	५१	७
भोगसमन्विम्	भोगसमन्वितम्	५२	२०
	बौद्ध शास्त्रमें पाया जानेवाला गुणस्थान जैसा विचार—	५३	१३
सम्पादित मराठि- भाषान्तरित—	सम्पादित	५३	२३
अविनिपात, धर्मानियत	अविनिपातधर्मा, नियत	५४	८
विचिकच्छा	विचिकिच्छा	५५	२०
मज्झिमनिकाय	दीघनिकाय	५५	२४



चौथे कर्मग्रंथका शुद्धिपत्र.

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ.	पंक्ति.
भेद अपर्याप्तरूपसे	भेद पर्याप्त अपर्याप्तरूपसे	१	१०
होती है	होती है[1]	११	७
समुदाको	समुदायको	२८	३
अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण	अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण[1]	२८	१०
समयकी	समयकी[1]	२९	५
नौ वर्ष	आठ वर्ष	३०	७
दव्वसुयाभोव	दव्वसुयाभावे	४५	१८
समाइ छेय अपरिहार	सामाइअ छेय परिहार	५७	१३
अहंखाय	अहखाय	५७	१३
बादर	स्थावर	६२	१२
ईंगके	रंगके	६४	१८
आकार	आकर	८८	३
भव्यमिति	भव्यमति	९५	१२
श्रीमुनिभद्रसूरि	श्रीमुनिचन्द्रसूरि	१५०	११
करार	कर	१५३	५
मिथ्यात्व[2]	मिथ्यात्व[3]	१७६	८
सयोगनि	सयोगिनि	१८५	१५
नयट्टी	नियट्टी	१९२	५
मिथ्यात्वनि	मिथ्यात्वानि	१९४	३
त्रया	त्रयो	१९६	७
पइठिइ संख	पइठिइ असंख	२२३	१२
अन्य	अन्यत्र	२४६	२२



सूचना.

क—जो विद्वान् संस्कृत प्राकृत आदि चरित्र ग्रन्थोंका तथा तत्त्वज्ञानके ग्रन्थोंका हिन्दीमें अनुवाद, सार या स्वतंत्र निबंध लिख सकते हों और लिखना चाहते हों उनसे हमारा निवेदन हैं कि वे हमसे पत्रव्यवहार करें, अगर वे चाहेंगे तो उक्त कार्य के लिये मंडल उन्हें पुरस्कार भी देगा. अनुवादके लिये ये ग्रन्थ अभी दिये जा सकते हैं—अनेकान्त जयपताका, शास्त्रवार्ता समुच्चय, षड्दर्शन समुच्चय, योग-शास्त्र, अर्हन्नीति महावीरचरित्र आदि।

ख—जो धनिक महाशय हिन्दी जैन साहित्यके खास प्रेमी हैं उनसे हमारा अनुरोध है कि वे अगर अपने धनका उपयोग सर्वोपयोगी साहित्यमें करना चाहें तो मंडलको सहायता देकर वैसा कर सकते हैं. मंडलका मुख्य ध्येय हिन्दीमें जैन साहित्य तैयार करनेका है. अभी तकमें उसके द्वारा प्रकाशित ग्रन्थोंका परिचय सूचीपत्र मंगाकर किया जा सकता है. प्रस्तुत चौथे कर्मग्रन्थके उपरांत ये ग्रन्थ बिलकुल तैयार हैं.

१	देवसी राइ प्रतिक्रमण हिन्दी अनुवाद सह.	भेट.
२	पंचप्रतिक्रमण हिंदी अनुवाद सह.	भेट.
३	पातंजल योगदर्शन तथा हारिभद्री योगविंशिका (यशोविजयजी कृत वृत्ति तथा हिंदी सार सहित)	कि० रु. १॥)

जो महाशय अपने किसी पूज्य व्यक्तिके स्मरणार्थ या ज्ञान प्रचारार्थ कोई खास ग्रंथ तैयार कराना चाहें और तदर्थ पूरा खर्च उठा सकें उनकी इच्छाके अनुकूल मंडल प्रबंध कर सकेगा. पत्रद्वारा खुलासा कर लेना चाहिए.

निवेदक—

मंत्री आत्मानंद जैनपुस्तकप्रचारक मंडल.



सेठ नरोत्तमदास हेमचन्द

वक्तव्य।

—*—

प्रस्तुत पुस्तकको पाठकोंके समक्ष उपस्थित करते हुए मुझे थोड़ा-सा निवेदन करना है। पहले तो इस पुस्तकके लिये आर्थिक मदद देनेवाले महानुभावोंका नाम स्मरण करके, संस्थाकी ओरसे उन सबको सप्रेम धन्यवाद देना मैं अपना फर्ज़ समझता हूँ।

एक हज़ार रुपये जितनी बड़ी रकम तो सेठ हेमचन्द अमरचन्द मांगरोलवालेकी है। जो उनके स्वर्गवासी पुत्र सेठ नरोत्तमदास, जिनका फोटो इस पुस्तकके आरम्भमें दिया गया है, उनके स्मरणार्थ सेठ हेमचन्द भाईकी भ्रातृजाया श्रीमती मणी बहनने महाराज श्रीवल्लभविजयजीकी सम्मतिसे मण्डलकी संस्थाको भेट की है। श्रीमती मणी बहनकी कुलक्रमागत उदारता और गुणग्राहकता कितनी प्रशंसनीय है, यह बात एक बार भी उनके परिचयमें आनेवाले सज्जनको विदित ही है। यहाँ उक्त सेठकी विशेष जीवनी न लिख कर सिर्फ़ कुछ वाक्योंमें उनका परिचय कराया जाता है।

सेठ हेमचंदभाई काठियावाड़में मांगरोलके निवासी थे। वे बम्बईमें कपड़ेके एक अच्छे व्यापारी थे। उनकी विद्यारसिकता इसी-से सिद्ध है कि उन्होंने देश तथा विदेशमें उद्योग, हुन्नर आदिकी शिक्षा पानेवाले अनेक विद्यार्थियोंको मदद दी है। महाराज श्री-वल्लभविजयजीको बम्बई आमन्त्रित करने और महावीरजैनविद्यालय संस्थाकी स्थापनाकी कल्पनामें सेठ हेमचन्द भाईका उत्साह खास

कारण था। उक्त सेठकी धार्मिकताका परिचय तो उनकी जैन धार्मिक परीक्षाकी इनामी योजनासे जैन समाजको मिल ही चुका है, जो उन्होंने अपने पिता सेठ अमरचन्द तलकचन्दके स्मरणार्थ की थी। उक्त सेठसे जैन समाजको बड़ी आशा थी, पर वे पैंतीस वर्ष-जितनी छोटी उम्रमें ही अपना कार्य करके इस दुनियासे चल बसे। सेठ हेमचन्द भाईके स्थानमें उनके पुत्र नरोत्तमदास भाईके ऊपर लोगोंकी दृष्टि ठहरी थी, पर यह बात कराल कालको मान्य न थी। इसलिये उसने उनको भी बाईस वर्ष-जितनी छोटी उम्रमें ही अपना अतिथि बना लिया। निःसन्देह ऐसे होनहार व्यक्तियोंकी कमी बहुत खटकती है, पर दैवकी गतिके सामने किसका उपाय !

ढाई सौ रुपयेकी मदद बसाई निवासी सेठ दीपचन्द तलाजी सादडीवालेने प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजी महाराजकी प्रेरणासे दी है। इसकेलिये वे भी मण्डलकी ओरसे धन्यवादके भागी हैं।

दो सौ रुपयेकी रक़म अहमदाबादवाले सेठ हीराचन्द ककलके यहाँ निम्नलिखित तीन व्यक्तियोंकी जमा थी, जो सन्मित्र कर्पूरविजयजी महाराजकी प्रेरणासे मण्डलको मिली। इसलिये इन तीन व्यक्तियोंकी उदारताको भी मण्डल कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता है।

१. कच्छवाले सेठ आशली आजी भवानजी रु० १०० (साध्वीजी गुणश्रीजके संसारी पुत्र)

२. श्रीमती गंगाबाई रु० ५० (अहमदाबादवाले सेठ लालभाईकी माता)

३. श्रीमती शृंगारबाई रु० ५० (अहमदाबादवाले सेठ उमाभाई हठीसंगकी विधवा)

यह पुस्तक लिखकर तो बहुत दिनोंसे तैयार थी, पर छापेखानेकी सुविधा ठीक न होनेसे इसे प्रकाशित करनेमें इतना विलम्ब हुआ। जल्दी प्रकाशित करनेके इरादेसे बम्बई, पूना, आग्रा और कानपुरमें खास तजवीज की गई। बड़ा खर्च उठानेके बाद भी उक्त स्थानोंमें छपाईका ठीक मेल न बैठा, अन्तमें काशीमें छपाना निश्चित हुआ। इसलिये पं० सुखलालजी गुजरातसे अपने सहायकोंके साथ काशी गये और चार महीने ठहरे। फिर भी पुस्तक पूरी न छपी और तबीयत बिगड़नेके कारण उनको गुजरातमें वापिस जाना पड़ा। छापेका काम काशीमें और पं० सुखलालजी हजार मील-जितनी दूरीपर, इसलिये पुस्तक पूर्ण न छपनेमें बहुत अधिक विलम्ब हुआ, जो क्षम्य है।

ऊपर जिस मददका उल्लेख किया गया है, उसको देखकर पाठकोंके दिलमें प्रश्न हो सकता है कि इतनी मदद मिलनेपर भी पुस्तकका मूल्य इतना क्यों रक्खा गया? इसका सच्चा समाधान करना आवश्यक है। मण्डलका उद्देश्य यह है कि जहाँ तक हो सके कम मूल्यमें हिंदी भाषामें जैन धार्मिक ग्रन्थ सुलभ कर दिये जायँ। ऐसा उद्देश्य होनेपर भी, मण्डल लेखक पण्डितोंसे कभी ऐसी जल्दी नहीं कराता, जिसमें जल्दीके कारण लेखक अपने इच्छानुसार पुस्तकको न लिख सकें। मण्डलका लेखक पण्डितोंपर पूरा भरोसा है कि वे खुद अपने शौकसे लेखनकार्यको करते हैं, इसलिये वे न तो समय ही वृथा बिता सकते हैं और न अपनी जानिबसे लिखनेमें कोई कसर ही उठा रखते हैं। अभीतक लेखनकार्यमें मण्डल और लेखकका व्यापारिक सम्बन्ध न होकर साहित्यसेवाका नाता रहा है, इसलिये यथेष्ट वाचन, मनन आदि करनेमें लेखक स्वतन्त्र रहते हैं। यही कारण है कि पुस्तक तैयार होनेमें अन्य संस्थाओंकी अपेक्षा अधिक विलम्ब होता है।

पर इस अधिक विलम्बका फल भी मिल जाता है। जिसकेलिये हम इस पुस्तकके अधिकारियोंसे इतना ही निवेदन करते हैं कि वे एक बार इस पुस्तकको साङ्गोपाङ्ग पढ़ लेवें। इसके सिवाय लड़ाईके दिनोंमें बहुत मँहगीके समय काग़ज़ ख़रीदे गये, छपाई आदिका चार्ज कितना बढ़ गया है, यह बात कौन नहीं जानता ? छपवानेकेलिये गुजरातसे पं० सुखलालजी आदिका काशी जाना और वहाँ रहना, यह भी व्ययसाध्य है। इन सब कारणोंसे इस पुस्तकके प्रकाशित होनेतकमें मण्डलको बहुत खर्च पड़ा है। ऊपर जितनी मदद्का उल्लेख किया गया है, वह सब काग़ज़, छपाई, बँधवाई और संशोधनकेलिये लगभग काफ़ी है। सिर्फ़ लिखवाईके कामकेलिये पण्डितोंके निमित्त जो खर्च हुआ है, उसीकी दृष्टिसे पुस्तकका यह मूल्य रक्खा गया है। यह कौन नहीं जानता कि पुस्तकें बिकनेका क्षेत्र जैनसमाजमें बहुत ही छोटा है। दूसरे, पुस्तक यदि तत्त्वज्ञानविषयक हो तो उसके अधिकारी कितने ? तीसरे, गुजराती जाननेवाले जैनोंकी बड़ी संख्यामें हिन्दी पुस्तककी पहुँच भी कम। चौथे, कुछ पुस्तकें तो ख़ास-ख़ास स्थानोंमें, ख़ास-ख़ास व्यक्तियोंको भेट भी देनी पड़ती हैं; इत्यादि अनेक कारणोंसे इस पुस्तकका इतना मूल्य रक्खा गया है। जो पाठक हमें जानते हैं, उनको मण्डलकी ओरसे इतना ही विश्वास दिलाया जा सकता है कि मण्डलका उद्देश्य अर्थसंग्रह नहीं, सिर्फ़ धार्मिक आदि साहित्यका प्रचार ही है। जैसा कि मण्डलका इरादा है, वैसा लेखक, संशोधक, छापेखाने आदिका एक ही स्थानमें प्रबन्ध होता, तब तो अवश्य कुछ खर्च कम पड़ता; पर कई कारणोंसे अभी ऐसा नहीं हो सका है, तबतक मण्डलने यही विचार कर रक्खा है कि चाहे खर्च और कठिनाई अधिक भी हो,

पर किसी भी तरह काम चालू रक्खा जाय। आशा है, ऐसे ही चलते-चलते आगे कोई अनुकूलता हो जायगी, जिससे मण्डल अपना पूरा उद्देश्य सरलतासे सिद्ध कर सके। अभी तो चुप बैठनेसे कुछ करने-की नीति ही अच्छी है।

निवेदक—

डालचन्द जौहरी।

मन्त्री-आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल,

रोशन मुहल्ला, आगरा।

निवेदन ।

इस पुस्तकका लेखक मैं हूँ, इसलिये इसके सम्बन्धमें दो-चार आवश्यक बातें मुझको कह देनी हैं। क़रीब पाँच साल हुए यह पुस्तक लिखकर छापनेको दे दी गई, पर कारणवश वह न छप सकी। मैं भी पूनासे लौटकर आगरा आया। पुस्तक न छपी देखकर और लेखनविषयक मेरी अभिरुचि कुछ बढ़ जानेके कारण मैंने अपने मित्र और मण्डलके मन्त्री बाबू डालचंदजीसे अपना विचार प्रकट किया कि जो यह पुस्तक लिखी गई है, उसमें परिवर्तन करनेका मेरा विचार है। उक्त बाबूजीने अपनी उदार प्रकृतिके अनुसार यही उत्तर दिया कि समय व खर्च-की परवा नहीं, अपनी इच्छाके अनुसार पुस्तकको निःसंकोच भावसे तैयार कीजिये। इस उत्तरसे उत्साहित होकर मैंने थोड़ेसे परिवर्तनके स्थानमें पुस्तकको बिलकुल दुबारा ही लिख डाला। पहले नोटें नहीं थीं, पर दुबारा लेखनमें कुछ नोटें लिखनेके उपरान्त भावार्थका क्रम भी बदल दिया। एक तरफ छपाईका ठीक सुभीता न हुआ और दूसरी तरफ नवीन वाचन तथा मनन-का अधिकाधिक अवसर मिला। लेखन कार्यमें मेरा और मण्डलका सम्बन्ध व्यापारिक तो था ही नहीं, इसलिये विचारने और लिखनेमें मैं स्वस्थ ही था और अब भी हूँ। इतनेमें मेरे मित्र रमणलाल आगरा आये और सहायक हुए। उनके अवलोकन और अनुभवका भी मुझे सविशेष सहारा मिला। चित्रकार चित्र तैयार कर उसके ग्राहकको जबतक नहीं देता, तबतक उसमें कुछ-न-कुछ नयापन लानेकी चेष्टा करता ही रहता है। मेरी भी वही दशा हुई।

छपाईमें जैसे-जैसे विलम्ब होता गया, वैसे-वैसे कुछ-न-कुछ सुधारने-का, नवीन भाव दाखिल करनेका और अनेक स्थानोंमें क्रम बदलते रहनेका प्रयत्न चालू ही रहा। अन्य कार्य करते हुए भी जब-कभी नवीन कल्पना हुई, कोई नई बात पढ़नेमें आई और प्रस्तुत पुस्तकके-लिये उपयुक्त जान पड़ी, तभी उसको इस पुस्तकमें स्थान दिया। यही कारण है कि इस पुस्तकमें अनेक नोटें और अनेक परिशिष्ट विविध प्रासङ्गिक विषयपर लिखे गये हैं। इस तरह छपाईके विलम्बसे पुस्तक प्रकट होनेमें बहुत अधिक समय लग गया। मण्डलको खर्च भी अधिक उठाना पड़ा और मुझको श्रम भी अधिक लगा, फिर भी वाचकोंको तो फ़ायदा ही है; क्योंकि यदि यह पुस्तक जल्दी प्रकाशित हो जाती तो इसका रूप वह नहीं होता, जो आज है।

दूसरी बात यह है कि मैंने जिन ग्रन्थोंका अवलोकन और मनन करके इस पुस्तकके लिखनेमें उपयोग किया है, उन ग्रन्थोंकी तालिका साथ दे दी जाती है, इससे मैं बहुश्रुत होनेका दावा नहीं करता, पर पाठकोंका ध्यान इस ओर खींचता हूँ कि उन्हें इस पुस्तकमें किन और कितने ग्रन्थोंका कम-से-कम परिचय मिलेगा। मूल ग्रन्थके साधारण अभ्यासियोंकेलिये अर्थ और भावार्थ लिखा गया है। कुछ विशेष जिज्ञासुओंकेलिये साथ-ही-साथ उपयुक्त स्थानोंमें नोटें दी हैं, और विशेषदर्शी विचारकोंकेलिये खास-खास विषयोंपर विस्तृत नोटें लिखकर उनको ग्रन्थ-गत तीनों अधिकारके बाद क्रमशः परिशिष्टरूपमें दे दिया है। उक्त छोटी और बड़ी नोटों-में क्या-क्या बात है, उसका संकलन खतौनीके तौरपर आखिरी चार परिशिष्टोंमें किया है। इसके बाद जिन पारिभाषिक शब्दोंका मैंने अनु-वादमें उपयोग किया है, उनका तथा मूल ग्रन्थके शब्दोंका इस तरह

दो कोष दिये हैं। अनुवादके आरम्भमें एक विस्तृत प्रस्तावना दी है, जिसमें गुणस्थानके ऊपर एक विस्तृत निबन्ध है और साथ ही वैदिक तथा बौद्ध दर्शनमें पाये जानेवाले गुणस्थान-सदृश विचारोंका दिग्दर्शन कराया है। मेरा पाठकोंसे इतना ही निवेदन है कि सबसे पहले अन्तिम चार परिशिष्टोंको पढ़ें, जिससे उन्हें कौनसा-कौनसा विषय, किस-किस जगह देखने योग्य है, इसका साधारण ख़याल आ जायगा। और पीछे प्रस्तावनाको, ख़ासकर उसके गुणस्थान-सम्बन्धी विचारवाले भागको एकाग्रतापूर्वक पढ़ें, जिससे आध्यात्मिक प्रगतिके क्रमका बहुत-कुछ बोध हो सकेगा।

तीसरी बात कृतज्ञता प्रकाश करनेकी है। श्रीयुत रमणीकलाल मगनलाल मोदी बी॰ ए॰ से मुझको बड़ी सहायता मिली है। मेरे सहृदय सखा पं॰ भगवानदास हरखचन्द और भाई हीराचन्द देवचन्दने लिखित कापी देखकर उसमें अनेक जगह सुधारणा की है। उदारचेता मित्र पं॰ भामण्डलदेवने संशोधनका बोझा उठाकर उस सम्बन्धकी मेरी चिन्ता बहुत अंशोंमें कम कर दी। यदि उक्त महाशयोंका सहारा मुझे न मिलता तो यह पुस्तक वर्तमान स्वरूपमें प्रस्तुत करनेकेलिये कमसे कम मैं तो असमर्थ ही था। इस कारण मैं उक्त सब मित्रोंका हृदयसे कृतज्ञ हूँ।

अन्तमें त्रुटिके सम्बन्धमें कुछ कहना है। विचार व मनन करके लिखनेमें भरसक सावधानी रखनेपर भी कुछ कमी रह जानेका अवश्य सम्भव है, क्योंकि मुझको तो दिन-ब-दिन अपनी अपूर्णताका ही अनुभव होता जाता है। छपाईकी शुद्धिकी ओर मेरा अधिक ख़याल था, तदनुकूल प्रयास और ख़र्च भी किया, पर लाचार, बीमार होकर काशीसे अहमदाबाद चले आनेके कारण

तथा प्रस्तावनाका भाग तो बिलकुल परोक्षतामें छपनेके कारण कुछ ग़लतियाँ छपाईमें अवश्य रह गई हैं, जिनका दुःख वाचकोंकी अपेक्षा मुझको ही अधिक है। इसलिये विचारशील पाठकोंसे यह निवेदन है कि वे त्रुटियाँ सुधार लेवें, अगर वे मुझको सूचना देंगे तो मैं उनका कृतज्ञ रहूँगा।

भावनगर
संवत् १९७८
फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी।

निवेदक—
सुखलाल संघवी।

जिन पुस्तकोंका उपयोग प्रस्तुत अनुवादमें हुआ है, उनकी सूची।



ग्रन्थ-नाम।	कर्ता।
आचाराङ्गनिर्युक्ति	भद्रबाहुस्वामी
,, टीका	शीलाङ्काचार्य
सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति	भद्रबाहुस्वामी
,, टीका	शीलाङ्काचार्य
भगवतीसूत्र	सुधर्मस्वामी
,, टीका	अभयदेवसूरि
आवश्यकनिर्युक्ति	भद्रबाहुस्वामी
,, टीका	हरिभद्रसूरि
नन्दीसूत्र	देववाचक
,, टीका	मलयगिरि
उपासकदशाङ्ग	सुधर्मस्वामी
औपपातिकोपाङ्ग	आर्ष
अनुयोगद्वार	आर्ष
,, टीका	मलधारी हेमचन्द्रसूरि
जीवाभिगम	आर्ष

प्रज्ञापनोपाङ्ग	श्यामाचार्य
,, चूर्णि	पूर्व ऋर्षि
,, टीका	मलयगिरि
उत्तराध्ययनसूत्र	आर्ष
,, टीका	वादिवेताल शान्तिसूरि
विशेषावश्यक भाष्य	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
,, ,, टीका	मलधारी हेमचन्द्रसूरि
विशेषणवती	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण
ध्यानशतक	,, ,,
बृहत्संग्रहणी	,, ,,
,, टीका	मलयगिरि
सम्मतितर्क	सिद्धसेन दिवाकर
द्वात्रिंशिका	,,
प्रशमरति	उमास्वाति
तत्त्वार्थसूत्र	,,
,, भाष्य	,,
,, ,, वृत्ति	सिद्धसेन
,, सर्वार्थसिद्धि	पूज्यपादाचार्य
,, राजवार्त्तिक	अकलङ्कदेव
कर्मप्रकृतिचूर्णि	पूर्वाचार्य
,, टीका	यशोविजयोपाध्याय
पञ्चसंग्रह	चन्द्रर्षिमहत्तर
,, टीका	मलयगिरि
प्राचीन बन्धस्वामित्व	पूर्वाचार्य

प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ	जिनवल्लभगणि
,, भाष्य	पूर्वाचार्य
,, टीका	हरिभद्रसूरि
,, ,,	मलयगिरि
प्राचीन पञ्चम कर्मग्रन्थबृहच्चूर्णि	पूर्वाचार्य
सप्ततिकाचूर्णि	,,
नव्य द्वितीय कर्मग्रन्थ	देवेन्द्रसूरि
नव्य तृतीय कर्मग्रन्थ(बन्धस्वामित्व)	,,
नव्य चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका	,,
नव्य पञ्चम कर्मग्रन्थ	,,
नव्य कर्मग्रन्थका टबा	जयसोमसूरि
,, ,, ,,	जीवविजय
नव्य प्रथम कर्मग्रन्थ हिंदीभाषान्तर	पं० व्रजलाल
सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार	जिनवल्लभगणि
धर्मसंग्रहणी	हरिभद्रसूरि
पञ्चाशक	,,
ललितविस्तरा	,,
,, पञ्जिका	मुनिचन्द्रसूरि
योगशास्त्र	हेमचन्द्राचार्य
लोकप्रकाश	विनयविजयोपाध्याय
शास्त्रवार्त्तासमुच्चयटीका	यशोविजयोपाध्याय
ज्ञानसार अष्टक	,, ,,
द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका	,, ,,
अध्यात्ममतपरीक्षा टीका	,, ,,

ज्ञानबिन्दु	यशोविजयोपाध्याय
धर्मसंग्रह	मानविजयोपाध्याय
विशेषशतक	समयसुन्दरोपाध्याय
द्रव्यगुणपर्यायरास	यशोविजयोपाध्याय
नयचक्रसार	देवचन्द्र
आगमसार	,,
जैनतत्त्वादर्श	विजयानन्दसूरि
नियमसार	कुन्दकुन्दाचार्य
लब्धिसार	नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती
त्रिलोकसार	,,
गोम्मटसार	,,
द्रव्यसंग्रह	,,
षट्पाहुड	कुन्दकुन्दाचार्य
प्रमेयकमलमार्तण्ड	प्रभाचन्द्राचार्य
मज्झिमनिकाय मराठीभाषान्तर	प्रो० सि० वी० राजवाडे
दीघनिकाय ,,	,,
सांख्यदर्शन	कपिलर्षि
पातञ्जलयोगदर्शन	पतञ्जलि
,, भाष्य	व्यासर्षि
,, वृत्ति	वाचस्पति
,, ,,	यशोविजयोपाध्याय
योगवासिष्ठ	पूर्वर्षि
महाभारत	महर्षि व्यास
श्वेताश्वतरोपनिषद्	पूर्व-ऋषि

भगवद्गीता	महर्षि व्यास
वैशेषिकदर्शन	कणाद
न्यायदर्शन	गौतम ऋषि
सुभाषितरत्नभाण्डागार	
काव्यमीमांसा	राजशेखर
मानवसंततिशास्त्र	
चिल्डर्न्स पाली अँग्रेजी कोष	



प्रस्तावनाका विषयक्रम।



विषय।	पृष्ठ।
नाम	१
संगति	२
प्राचीन और नवीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ	३
चौथा कर्मग्रन्थ और आगम, पंचसंग्रह तथा गोम्मटसार	४
विषय-प्रवेश	६
गुणस्थानका विशेष स्वरूप	१०
दर्शनान्तरके साथ जैनदर्शनका साम्य	३२
योग सम्बन्धी विचार	४५
योगके भेद और उनका आधार	४८
योगके उपाय और गुणस्थानोंमें योगावतार ...	४९
पूर्व सेवा आदि शब्दोंकी व्याख्या	५२
योगजन्य विभूतियाँ	५३
गुणस्थान जैसा बौद्ध शास्त्रगत विचार	५३



प्रस्तावना ।

—:*:—

नाम ।

प्रस्तुत प्रकरणका 'चौथा कर्मग्रन्थ' यह नाम प्रसिद्ध है, किन्तु इसका असली नाम षडशीतिक है। यह 'चौथा कर्मग्रन्थ' इसलिये कहा गया है कि छह कर्मग्रन्थोंमें इसका नम्बर चौथा है; और 'षडशीतिक' नाम इसलिये नियत है कि इसमें मूल गाथाएँ छियासी हैं। इसके सिवाय इस प्रकरणको 'सूक्ष्मार्थ विचार' भी कहते हैं, सो इसलिये कि ग्रन्थकारने ग्रन्थके अन्तमें "सुहुमत्थ वियारो" शब्द-का उल्लेख किया है। इस प्रकार देखनेसे यह स्पष्ट ही मालूम होता है कि प्रस्तुत प्रकरणके उक्त तीनों नाम अन्वर्थ—सार्थक हैं।

यद्यपि टबावाली प्रति जो श्रीयुत् भीमसी माणिक द्वारा 'निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई' से प्रकाशित 'प्रकरण रत्नाकर चतुर्थ भाग' में छपी है, उसमें मूल गाथाओंकी संख्या नवासी है, किन्तु वह प्रकाशककी भूल है। क्योंकि उसमें जो तीन गाथाएँ दूसरे, तीसरे और चौथे नम्बर पर मूल रूपमें छपी हैं, वे वस्तुतः मूल रूप नहीं हैं, किन्तु प्रस्तुत प्रकरणकी विषय-संग्रह गाथाएँ हैं। अर्थात् इस प्रकरणमें मुख्य क्या क्या विषय हैं और प्रत्येक मुख्य विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य कितने विषय हैं, इसका प्रदर्शन करानेवाली वे गाथाएँ हैं। अतएव ग्रन्थकारने उक्त तीन गाथाएँ स्वोपज्ञ टीकामें उद्धृत की हैं, मूल रूपसे नहीं ली हैं और न उनपर टीका की है।

संगति ।

पहले तीन कर्मग्रन्थोंके विषयोंकी संगति स्पष्ट है । अर्थात् पहले कर्मग्रन्थमें मूल तथा उत्तर कर्म प्रकृतियोंकी संख्या और उनका विपाक वर्णन किया गया है। दूसरे कर्मग्रन्थमें प्रत्येक गुणस्थानको लेकर उसमें यथासम्भव बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्तागत उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या बतलाई गई है और तीसरे कर्मग्रन्थमें प्रत्येक मार्गणास्थानको लेकर उसमें यथासम्भव गुणस्थानोंके विषयमें उत्तर कर्मप्रकृतियोंका बन्धस्वामित्व वर्णन किया है। तीसरे कर्म-ग्रन्थमें मार्गणास्थानोंमें गुणस्थानोंको लेकर बन्धस्वामित्व वर्णन किया है सही, किन्तु मूलमें कहीं भी यह विषय स्वतन्त्र रूपसे नहीं कहा गया है कि किस किस मार्गणास्थानमें कितने-कितने और किन-किन गुणस्थानोंका सम्भव है।

अतएव चतुर्थ कर्मग्रन्थमें इस विषयका प्रतिपादन किया है और उक्त जिज्ञासाकी पूर्ति की गई है। जैसे मार्गणास्थानोंमें गुण-स्थानोंकी जिज्ञासा होती है. वैसे ही जीवस्थानोंमें गुणस्थानोंकी और गुणस्थानोंमें जीवस्थानोंकी भी जिज्ञासा होती है । इतना ही नहीं, बल्कि जीवस्थानोंमें योग, उपयोग आदि अन्यान्य विषयोंकी और मार्गणास्थानोंमें जीवस्थान, योग, उपयोग आदि अन्यान्य विषयों-की तथा गुणस्थानोंमें योग, उपयोग आदि अन्यान्य विषयोंकी भी जिज्ञासा होती है। इन सब जिज्ञासाओंकी पूर्तिके लिये चतुर्थ कर्मग्रन्थकी रचना हुई है। इसीसे इसमें मुख्यतया जीवस्थान, मार्गणास्थान, और गुणस्थान, ये तीन अधिकार रक्खे गये हैं। और प्रत्येक अधिकारमें क्रमशः आठ, छह तथा दस विषय वर्णित हैं, जिनका निर्देश पहली गाथाके भावार्थमें पृष्ठ २ पर तथा स्फुट नोटमें संग्रह गाथाओंके द्वारा किया गया है। इसके सिवाय प्रसंग-

वश इस ग्रन्थमें ग्रन्थकारने भावोंका और संख्याका भी विचार किया है ।

यह प्रश्न हो ही नहीं सकता कि तीसरे कर्मग्रन्थकी संगतिके अनुसार मार्गणास्थानोंमें गुणस्थानों मात्रका प्रतिपादन करना आवश्यक होने पर भी, जैसे अन्य-अन्य विषयोंका इस ग्रन्थमें अधिक वर्णन किया है, वैसे और भी नये-नये कई विषयोंका वर्णन इसी ग्रन्थमें क्यों नहीं किया गया ? क्योंकि किसी भी एक ग्रन्थमें सब विषयोंका वर्णन असम्भव है। अतएव कितने और किन विषयों-का किस क्रमसे वर्णन करना, यह ग्रन्थकारकी इच्छा पर निर्भर है; अर्थात् इस बातमें ग्रन्थकार स्वतन्त्र है। इस विषयमें नियोग-पर्य-नियोग करनेका किसीको अधिकार नहीं है।

प्राचीन और नवीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ ।

'षडशीतिक' यह मुख्य नाम दोनोंका समान है, क्योंकि गाथाओं-की संख्या दोनोंमें बराबर छियासी ही है। परन्तु नवीन ग्रन्थकारने 'सूक्ष्मार्थ विचार' ऐसा नाम दिया है और प्राचीनकी टीकाके अन्तमें टीकाकारने उसका नाम 'आगमिक वस्तु विचारसार' दिया है। नवीनकी तरह प्राचीनमें भी मुख्य अधिकार जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान, ये तीन ही हैं। गौण अधिकार भी जैसे नवीन क्रमशः आठ, छह तथा दस हैं, वैसे ही प्राचीनमें भी हैं। गाथाओंकी संख्या समान होते हुए भी नवीनमें यह विशेषता है कि उसमें वर्णनशैली संक्षिप्त करके ग्रन्थकारने दो और विषय विस्तारपूर्वक वर्णन किये हैं। पहला विषय 'भाव' और दूसरा 'संख्या' है। इन दोनोंका स्वरूप नवीनमें सविस्तर है और प्राचीनमें बिल्कुल नहीं है। इसके सिवाय प्राचीन और नवीनका विषय-साम्य तथा क्रम-साम्य बराबर है। प्राचीन पर टीका, टिप्पणी,

विवरण, उद्धार, भाष्य आदि व्याख्याएँ नवीनकी अपेक्षा अधिक हैं। हाँ, नवीन पर, जैसे गुजराती टबे हैं, वैसे प्राचीन पर नहीं हैं।

इस सम्बन्धकी विशेष जानकारीके लिये अर्थात् प्राचीन और नवीन पर कौन-कौन सी व्याख्या किस-किस भाषामें और किसी किसकी बनाई हुई है, इत्यादि जाननेके लिये पहले कर्मग्रन्थके आरम्भमें जो कर्मविषयक साहित्यकी तालिका दी है, उसे देख लेना चाहिये।

चौथा कर्मग्रन्थ और आगम, पंचसंग्रह तथा गोम्मटसार।

यद्यपि चौथे कर्मग्रन्थका कोई-कोई (जैसे गुणस्थान आदि) वैदिक तथा बौद्ध साहित्यमें नामान्तर तथा प्रकारान्तरसे वर्णन किया हुआ मिलता है, तथापि उसकी समान कोटिका कोई खास ग्रन्थ उक्त दोनों सम्प्रदायोंके साहित्यमें दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

जैन-साहित्य श्वेताम्बर और दिगम्बर, दो सम्प्रदायोंमें विभक्त है। श्वेताम्बर-सम्प्रदायके साहित्यमें विशिष्ट विद्वानोंकी कृति स्वरूप 'आगम' और 'पञ्चसंग्रह' ये प्राचीन ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें कि चौथे कर्मग्रन्थका सम्पूर्ण विषय पाया जाता है, या यों कहिये कि जिनके आधारपर चौथे कर्मग्रन्थकी रचना ही की गई है।

यद्यपि चौथे कर्मग्रन्थमें और जितने विषय जिस क्रमसे वर्णित हैं, वे सब उसी क्रमसे किसी एक आगम तथा पञ्चसंग्रहके किसी एक भागमें वर्णित नहीं हैं, तथापि भिन्न-भिन्न आगम और पञ्च-संग्रहके भिन्न-भिन्न भागमें उसके सभी विषय लगभग मिल जाते हैं। चौथे कर्मग्रन्थका कौनसा विषय किस आगममें और पञ्च-संग्रहके किस भागमें आता है, इसकी सूचना प्रस्तुत अनुवादमें

उस उस विषयके प्रसंगमें टिप्पणीके तौर पर यथासंभव कर दी गई है, जिससे कि प्रस्तुत ग्रन्थके अभ्यासियोंको आगम और पञ्च-संग्रहके कुछ उपयुक्त स्थल मालूम हों तथा मतभेद और विशेषताएँ ज्ञात हों।

प्रस्तुत ग्रन्थके अभ्यासियोंके लिये आगम और पञ्चसंग्रहका परिचय करना लाभदायक है; क्योंकि उन ग्रन्थोंके गौरवका कारण सिर्फ उनकी प्राचीनता ही नहीं है, बल्कि उनकी विषय-गम्भीरता तथा विषयस्फुटता भी उनके गौरवका कारण है।

'गोम्मटसार' यह दिगम्बर सम्प्रदायका कर्म-विषयक एक प्रतिष्ठित ग्रन्थ है, जो कि इस समय उपलब्ध है। यद्यपि वह श्वेताम्बरीय आगम तथा पञ्चसंग्रहकी अपेक्षा बहुत अर्वाचीन है, फिर भी उसमें विषय-वर्णन, विषय-विभाग और प्रत्येक विषयके लक्षण बहुत स्फुट हैं। गोम्मटसारके 'जीवकाण्ड' और 'कर्मकाण्ड', ये मुख्य दो विभाग हैं। चौथे कर्मग्रन्थका विषय जीवकाण्डमें ही है और वह इससे बहुत बड़ा है। यद्यपि चौथे कर्मग्रन्थके सब विषय प्रायः जीवकाण्डमें वर्णित हैं, तथापि दोनोंकी वर्णनशैली बहुत अंशोंमें भिन्न है।

जीवकाण्डमें मुख्य बीस प्ररूपणाएँ हैं:—१ गुणस्थान, १ जीवस्थान, १ पर्याप्ति, १ प्राण, १ संज्ञा, १४ मार्गणाएँ और १ उपयोग, कुल बीस। प्रत्येक प्ररूपणाका उसमें बहुत विस्तृत और विशद वर्णन है। अनेक स्थलोंमें चौथे कर्मग्रन्थके साथ उसका मतभेद भी है।

इसमें सन्देह नहीं कि चौथे कर्मग्रन्थके पाठियोंके लिये जीवकाण्ड एक खास देखनेकी वस्तु है; क्योंकि इससे अनेक विशेष बातें मालूम हो सकती हैं। कर्मविषयक अनेक विशेष बातें जैसे श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें लभ्य हैं, वैसे ही अनेक विशेष बातें, दिगम्बरीय ग्रन्थोंमें भी लभ्य हैं। इस कारण दोनों सम्प्रदायके

विशेष जिज्ञासुओंको एक दूसरेके समान विषयक ग्रन्थ अवश्य देखने चाहिएँ। इसी अभिप्रायसे अनुवादमें उस उस विषयका साम्य और वैषम्य दिखानेके लिये जगह-जगह गोम्मटसारके अनेक उपयुक्त स्थल उद्धृत तथा निर्दिष्ट किये हैं।

विषय-प्रवेश।

जिज्ञासु लोग जब तक किसी भी ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयका परिचय नहीं कर लेते तब तक उस ग्रन्थके अध्ययनके लिये प्रवृत्ति नहीं करते। इस नियमके अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थके अध्ययनके निमित्त योग्य अधिकारियोंकी प्रवृत्ति करानेके लिये यह आवश्यक है कि शुरूमें प्रस्तुत ग्रन्थके विषयका परिचय कराया जाय। इसी-को "विषय-प्रवेश" कहते हैं।

विषयका परिचय सामान्य और विशेष दो प्रकारसे कराया जा सकता है।

(क) ग्रन्थ किस तात्पर्यसे बनाया गया है; उसका मुख्य विषय क्या है और वह कितने विभागोंमें विभाजित है; प्रत्येक विभागसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य कितने-कितने और कौन-कौन विषय हैं; इत्यादि वर्णन करके ग्रन्थके शब्दात्मक कलेवरके साथ विषय-रूप आत्माके सम्बन्धका स्पष्टीकरण कर देना अर्थात् ग्रन्थका प्रधान और गौण विषय क्या-क्या है तथा वह किस-किस क्रमसे वर्णित है, इसका निर्देश कर देना, यह विषयका सामान्य परिचय है।

(ख) लक्षण द्वारा प्रत्येक विषयका स्वरूप बतलाना यह उसका विशेष परिचय है।

प्रस्तुत ग्रन्थके विषयका विशेष परिचय तो उस-उस विषयके वर्णन-स्थानमें ही यथासम्भव मूलमें किंवा विवेचनमें करा दिया

गया है। अतएव इस जगह विषयका सामान्य परिचय कराना ही आवश्यक एवं उपयुक्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ बनानेका तात्पर्य यह है कि सांसारिक जीवोंकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंका वर्णन करके यह बतलाया जाय कि अमुक-अमुक अवस्थायें औपाधिक, वैभाविक किंवा कर्म-कृत होनेसे अस्थायी तथा हेय हैं; और अमुक-अमुक अवस्था स्वाभाविक होनेके कारण स्थायी तथा उपादेय है। इसके सिवा यह भी बतलाना है कि, जीवका स्वभाव प्रायः विकाश करनेका है। अतएव वह अपने स्वभावके अनुसार किस प्रकार विकास करता है और तद्द्वारा औपाधिक अवस्थाओंको त्याग कर किस प्रकार स्वाभाविक शक्तियोंका आविर्भाव करता है।

इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये प्रस्तुत ग्रन्थमें मुख्यतया पाँच विषय वर्णन किये हैं:—

(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान, (३) गुणस्थान, (४) भाव और (५) संख्या।

इनमेंसे प्रथम मुख्य तीन विषयोंके साथ अन्य विषय भी वर्णित हैं:—जीवस्थानमें (१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा और (८) सत्ता ये आठ विषय वर्णित हैं। मार्गणास्थानमें (१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या और (६) अल्प-बहुत्व, ये छः विषय वर्णित हैं। तथा गुणस्थानमें (१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध-हेतु, (६) बन्ध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता और (१०) अल्प-बहुत्व, ये दस विषय वर्णित हैं। पिछले दो विषयोंका अर्थात् भाव और संख्याका वर्णन अन्य अन्य विषयके वर्णनसे मिश्रित नहीं है, अर्थात् उन्हें लेकर अन्य कोई विषय वर्णन नहीं किया है।

इस तरह देखा जाय तो प्रस्तुत ग्रन्थके शब्दात्मक कलेवरके मुख्य पाँच हिस्से हो जाते हैं।

पहिला हिस्सा दूसरी गाथासे आठवीं गाथा तकका है, जिसमें जीवस्थानका मुख्य वर्णन करके उसके सम्बन्धी उक्त आठ विषयोंका वर्णन किया गया है। दूसरा हिस्सा नवीं गाथासे लेकर चौवालिसवीं गाथा तकका है, जिसमें मुख्यतया मार्गणास्थानको लेकर उसके सम्बन्धसे छः विषयोंका वर्णन किया गया है। तीसरा हिस्सा पैंतालीसवीं गाथासे लेकर त्रेसठवीं गाथा तकका है, जिसमें मुख्यतया गुणस्थानको लेकर उसके आश्रयसे उक्त दस विषयोंका वर्णन किया गया है। चौथा हिस्सा चौंसठवीं गाथासे लेकर सत्तरवीं गाथा तकका है, जिसमें केवल भावोंका वर्णन है। पाँचवाँ हिस्सा इकहत्तरवीं गाथासे छियासीवीं गाथा तकका है, जिसमें सिर्फ संख्याका वर्णन है। संख्याके वर्णनके साथ ही ग्रन्थकी समाप्ति होती है।

जीवस्थान आदि उक्त मुख्य तथा गौण विषयोंका स्वरूप पहली गाथाके भावार्थमें लिख दिया गया है; इसलिये फिरसे यहाँ लिखनेकी जरूरत नहीं है। तथापि यह लिख देना आवश्यक है कि प्रस्तुत ग्रन्थ बनानेका उद्देश्य जो ऊपर लिखा गया है, उसकी सिद्धि जीवस्थान आदि उक्त विषयोंके वर्णनसे किस प्रकार हो सकती है।

जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान और भाव ये सांसारिक जीवोंकी विविध अवस्थाएँ हैं। जीवस्थानके वर्णनसे यह मालूम किया जा सकता है कि जीवस्थान रूप चौदह अवस्थाएँ जाति-सापेक्ष हैं किंवा शारीरिक रचनाके विकास या इन्द्रियोंकी न्यूनाधिक संख्या पर निर्भर हैं। इसीसे सब कर्म-कृत या वैभाविक होनेके कारण अन्तमें हेय हैं। मार्गणास्थानके बोधसे यह विदित हो जाता है कि सभी मार्गणाएँ जीवकी स्वाभाविक अवस्था-रूप

नहीं है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिक-चारित्र और अनाहारकत्वके सिवाय अन्य सब मार्गणाएँ न्यूनाधिक रूपमें अस्वाभाविक हैं। अतएव स्वरूपकी पूर्णताके इच्छुक जीवोंके लिये अन्तमें वे हेय ही हैं। गुण स्थानके परिज्ञानसे यह ज्ञात हो जाता है कि गुणस्थान यह आध्यात्मिक उत्क्रान्ति करनेवाले आत्माकी उत्तरोत्तर-विकास-सूचक भूमिकाएँ हैं। पूर्व-पूर्व भूमिकाके समय उत्तर-उत्तर भूमिका उपादेय होने पर भी परिपूर्ण विकास हो जानेसे वे सभी भूमिकाएँ आप ही आप छुट जाती हैं। भावोंकी जानकारी से यह निश्चय हो जाता है कि क्षायिक भावोंको छोड़ कर अन्य सब भाव चाहे वे उत्क्रान्ति कालमें उपादेय क्यों न हों, पर अन्तमें हेय ही हैं। इस प्रकार जीवका स्वाभाविक स्वरूप क्या है और अस्वाभाविक क्या है, इसका विवेक करनेके लिए जीवस्थान आदि उक्त विचार जो प्रस्तुत ग्रन्थमें किया गया है, वह आध्यात्मिक विद्याके अभ्यासियोंके लिए अतीव उपयोगी है।

आध्यात्मिक ग्रन्थ दो प्रकारके हैं। एक तो ऐसे हैं जो सिर्फ आत्माके शुद्ध, अशुद्ध तथा मिश्रित स्वरूपका वर्णन करते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ दूसरी कोटिका है। अध्यात्म-विद्याके प्राथमिक और माध्यमिक अभ्यासियोंके लिये ऐसे ग्रन्थ विशेष उपयोगी हैं; क्योंकि उन अभ्यासियोंकी दृष्टि व्यवहार-परायण होनेके कारण ऐसे ग्रन्थोंके द्वारा ही क्रमशः केवल पारमार्थिक स्वरूप-ग्राहिणी बनाई जा सकती है।

अध्यात्मिक-विद्याके प्रत्येक अभ्यासीकी यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि आत्मा किस प्रकार और किस क्रमसे आध्यात्मिक विकास करता है, तथा उसे विकासके समय कैसी-कैसी अवस्थाका अनुभव होता है। इस जिज्ञासाकी पूर्तिकी दृष्टिसे देखा जाय तो अन्य विषयोंकी अपेक्षा गुणस्थानका महत्त्व अधिक है। इस

खयालसे इस जगह गुणस्थानका स्वरूप कुछ विस्तारके साथ लिखा जाता है। साथ ही यह भी बतलाया जायगा कि जैन-शास्त्रकी तरह वैदिक तथा बौद्ध-शास्त्रमें भी आध्यात्मिक विकासका कैसा वर्णन है। यद्यपि ऐसा करनेमें कुछ विस्तार अवश्य हो जायगा, तथापि नीचे लिखे जानेवाले विचारसे जिज्ञासुओंकी यदि कुछ भी ज्ञान-वृद्धि तथा रुचि-शुद्धि हुई तो यह विचार अनुपयोगी न समझा जायगा।

गुणस्थानका विशेष स्वरूप।

गुणों (आत्मशक्तियों) के स्थानोंको अर्थात् विकासकी क्रमिक अवस्थाओंको गुणस्थान कहते हैं। जैनशास्त्रमें गुणस्थान इस पारिभाषिक शब्दका मतलब आत्मिक शक्तियोंके आविर्भावकी—उनके शुद्ध कार्यरूपमें परिणत होते रहनेकी तर-तम-भावापन्न अवस्थाओंसे है। पर आत्माका वास्तविक स्वरूप शुद्ध-चेतना और पूर्णानन्दमय है। उसके ऊपर जबतक तीव्र आवरणोंके घने बादलोंकी घटा छाई हो, तब तक उसका असली स्वरूप दिखाई नहीं देता। किन्तु आवरणोंके क्रमशः शिथिल या नष्ट होते ही उसका असली स्वरूप प्रकट होता है। जब आवरणोंकी तीव्रता आखिरी हद्दकी हो, तब आत्मा प्राथमिक अवस्थामें—अविकसित अवस्थामें पड़ा रहता है। और जब आवरण बिल्कुल ही नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा चरम अवस्था—शुद्ध स्वरूपकी पूर्णतामें वर्तमान हो जाता है। जैसे-जैसे आवरणोंकी तीव्रता कम होती जाती है, वैसे-वैसे आत्मा भी प्राथमिक अवस्थाको छोड़कर धीरे धीरे शुद्ध स्वरूपका लाभ करता हुआ चरम अवस्थाकी ओर प्रस्थान करता है। प्रस्थानके समय इन दो अवस्थाओंके बीच उसे अनेक नीची-ऊँची अव-

स्थाओंका अनुभव करना पड़ता है। प्रथम अवस्थाको अविकास-की अथवा अधःपतनकी पराकाष्ठा और चरम अवस्थाको विकास-की अथवा उत्क्रान्तिकी पराकाष्ठा समझना चाहिये। इस विकास-क्रमकी मध्यवर्तिनी सब अवस्थाओंको अपेक्षासे उच्च भी कह सकते हैं और नीच भी। अर्थात् मध्यवर्तिनी कोई भी अवस्था अपनेसे ऊपरवाली अवस्थाकी अपेक्षा नीच और नीचेवाली अवस्थाकी अपेक्षा उच्च कही जा सकती है। विकासकी ओर अग्रसर आत्मा वस्तुतः उक्त प्रकारकी संख्यातीत आध्यात्मिक भूमिकाओंका अनुभव करता है। पर जैनशास्त्रमें संक्षेपमें वर्गीकरण करके उनके चौदह विभाग किये हैं, जो "चौदह गुणस्थान" कहलाते हैं।

सब आवरणोंमें मोहका आवरण प्रधान है। अर्थात् जब तक मोह बलवान् और तीव्र हो, तब तक अन्य सभी आवरण बलवान् और तीव्र बने रहते हैं। इसके विपरीत मोह के निर्बल होते ही अन्य आवरणोंकी वैसी ही दशा हो जाती है। इसलिए आत्माके विकास करनेमें मुख्य बाधक मोहकी प्रबलता और मुख्य सहायक मोहकी निर्बलता समझनी चाहिये। इसी कारण गुणस्थानोंकी— विकास-क्रम-गत अवस्थाओंकी कल्पना मोह-शक्तिकी उत्कटता, मन्दता तथा अभाव पर अवलम्बित है।

मोहकी प्रधान शक्तियाँ दो हैं। इनमेंसे पहली शक्ति, आत्माको दर्शन अर्थात् स्वरूप पररूपका निर्णय किंवा जड़-चेतनका विभाग या विवेक करने नहीं देती; और दूसरी शक्ति आत्माको विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति अर्थात् अध्यास—पर परिणतिसे छुटकर स्वरूप-लाभ नहीं करने देती। व्यवहारमें पैर पैरपर यह देखा जाता है कि किसी वस्तुका यथार्थ दर्शन-बोध कर लेने पर ही उस वस्तुको पाने या त्यागनेकी चेष्टा की जाती है और वह सफल भी होती है। आध्यात्मिक-विकास-गामी आत्माके लिये भी मुख्य दो ही

कार्य है। पहला स्वरूप तथा पररूपका यथार्थ दर्शन किंवा भेदज्ञान करना और दूसरा स्वरूपमें स्थित होना। इनमेंसे पहले कार्यको रोकनेवाली मोहकी शक्ति जैनशास्त्रमें "दर्शन-मोह" और दूसरे कार्यको रोकनेवाली मोहकी शक्ति "चारित्रमोह" कहलाती है। दूसरी शक्ति पहली शक्तिकी अनुगामिनी है। अर्थात् पहली शक्ति प्रबल हो, तब तक दूसरी शक्ति कभी निर्बल नहीं होती; और पहली शक्तिके मन्द, मन्दतर और मन्दतम होते ही दूसरी शक्ति भी क्रमशः वैसी ही होने लगती है। अथवा यों कहिये कि एक बार आत्मा स्वरूप-दर्शन कर पावे तो फिर उसे स्वरूप-लाभ करनेका मार्ग प्राप्त हो ही जाता है।

अविकसित किंवा सर्वथा अधःपतित आत्माकी अवस्था प्रथम गुणस्थान है। इसमें मोहकी उक्त दोनों शक्तियोंके प्रबल होनेके कारण आत्माकी आध्यात्मिक स्थिति बिल्कुल गिरी हुई होती है। इस भूमिकाके समय आत्मा चाहे आधिभौतिक उत्कर्ष कितना ही क्यों न कर ले, पर उसकी प्रवृत्ति तात्त्विक लक्ष्यसे सर्वथा शून्य होती है। जैसे दिग्भ्रमवाला मनुष्य पूर्वको पश्चिम मानकर गति करता है और अपने इष्ट स्थानको नहीं पाता; उसका सारा श्रम एक तरहसे वृथा ही जाता है, वैसे प्रथम भूमिकावाला आत्मा पर-रूपको स्वरूप समझ कर उसीको पानेके लिये प्रतिक्षण लालायित रहता है और विपरीत दर्शन या मिथ्यादृष्टिके कारण राग-द्वेषकी प्रबल चोटोंका शिकार बनकर तात्त्विक सुखसे वञ्चित रहता है। इसी भूमिकाको जैनशास्त्रमें "बहिरात्मभाव" किंवा "मिथ्या-दर्शन" कहा है। इस भूमिकामें जितने आत्मा वर्त्तमान होते हैं, उन सबोंकी भी आध्यात्मिक स्थिति एक सी नहीं होती। अर्थात् सबके ऊपर मोहकी सामान्यतः दोनों शक्तियोंका आधिपत्य होने पर भी उसमें थोड़ा-बहुत तर-तम-भाव अवश्य होता है। किसी

पर मोहका प्रभाव गाढ़तम, किसी पर गाढ़तर और किसी पर उससे भी कम होता है। विकास करना यह प्रायः आत्माका स्वभाव है। इसलिये जानते या अनजानते, जब उस पर मोहका प्रभाव कम होने लगता है, तब वह कुछ विकासकी ओर अग्रसर हो जाता है और तीव्रतम राग-द्वेषको कुछ मन्द करता हुआ मोहकी प्रथम शक्तिको छिन्न-भिन्न करने योग्य आत्मबल प्रकट कर लेता है। इसी स्थितिको जैनशास्त्रमें "ग्रन्थिभेद"* कहा है।

ग्रन्थिभेदका कार्य बड़ा ही विषम है। राग-द्वेषका तीव्रतम विष-ग्रन्थि-एक बार शिथिल व छिन्न-भिन्न हो जाय तो फिर बेड़ा पार हो समझिये; क्योंकि इसके बाद मोहकी प्रधान शक्ति दर्शन-मोहको शिथिल होनेमें देरी नहीं लगती और दर्शनमोह शिथिल हुआ कि चारित्रमोहकी शिथिलताका मार्ग आप ही आप खुल जाता है। एक तरफ राग-द्वेष अपने पूर्ण बलका प्रयोग करते हैं और दूसरी तरफ विकासोन्मुख आत्मा भी उनके प्रभावको कम करनेके लिए अपने वीर्य-बलका प्रयोग करता है। इस आध्यात्मिक युद्धमें यानी मानसिक विकार और आत्माकी प्रतिद्वन्द्विता‌में कभी एक तो कभी दूसरा जयलाभ करता है। अनेक आत्मा ऐसे

* गंठित्ति सुदुब्भेओ कक्खड घण रूढ गूढ गंठिव्व ।
जीवस्स कम्म जणिओ घण राग दोस परिणामो ॥११९५॥
भिन्नम्मि तम्मिलाभो सम्मत्ताईण मोक्ख हेऊणं ।
सोय दुल्लभो परिस्समचित्त विघायाई विग्घेहिं ॥११९६॥
सो तत्थ परिस्सम्मई घोर महासमर निग्गयाइव्व ।
विज्जाय सिद्धिकाले जहवाविग्घा तहा सोवि ॥११९७॥
विशेषावश्यक भाष्य ।

भी होते हैं जो करीब करीब ग्रन्थिभेद करने लायक बल प्रकट करके भी अन्तमें राग-द्वेषके तीव्र प्रहारोंसे आहत होकर व उनसे हार खाकर अपनी मूल स्थितिमें आ जाते हैं और अनेक बार प्रयत्न करने पर भी राग-द्वेष पर जयलाभ नहीं करते। अनेक आत्मा ऐसे भी होते हैं, जो न तो हार खाकर पीछे गिरते हैं और न जय-लाभ कर पाते हैं, किन्तु वे चिरकाल तक उस आध्यात्मिक युद्धके मैदानमें ही पड़े रहते हैं। कोई-कोई आत्मा ऐसा भी होता है जो अपनी शक्तिका यथोचित प्रयोग करके उस आध्यात्मिक युद्धमें राग-द्वेष पर जयलाभ कर ही लेता है। किसी भी मानसिक विकार-की प्रतिद्वन्द्वितामें इन तीनों अवस्थाओंका अर्थात् कभी हार खाकर पीछे गिरनेका, कभी प्रतिस्पर्धामें डटे रहनेका और जयलाभ करने-का अनुभव हमें अकसर नित्य प्रति हुआ करता है। यही संघर्ष कहलाता है। संघर्ष विकासका कारण है। चाहे विद्या, चाहे धन, चाहे कीर्ति, कोई भी लौकिक वस्तु इष्ट हो, उसको प्राप्त करते समय भी अचानक अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं और उनकी प्रतिद्वन्द्वितामें उक्त प्रकारकी तीनों अवस्थाओंका अनुभव प्रायः सबको होता रहता है। कोई विद्यार्थी, कोई धनार्थी या कोई कीर्ति-काङ्क्षी जब अपने इष्टके लिये प्रयत्न करता है। तब या तो वह बीचमें अनेक कठिनाइयोंको देखकर प्रयत्नको छोड़ ही देता है या कठिनाइयोंको पारकर इष्ट-प्राप्तिके मार्गकी ओर अग्रसर हो ा है। जो अग्रसर होता है, वह बड़ा विद्वान्, बड़ा धनवान् या बड़ा कीर्तिशाली बन जाता है। जो कठिनाइयोंसे डरकर पीछे भागता है, वह पामर, अज्ञान, निर्धन या कीर्तिहीन बना रहता है। और जो न कठिनाइयोंको जीत सकता है और न उनसे हार मानकर पीछे भागता है, वह साधारण स्थितिमें ही पड़ा रहकर कोई ध्यान खींचने योग्य उत्कर्ष-लाभ नहीं करता।

इस भावको समझानेके लिये शास्त्र* में एक यह दृष्टान्त दिया गया है कि तीन प्रवासी कहीं आ रहे थे। बीचमें भयानक चोरोंको देखते ही तीनमेंसे एक तो पीछे भाग गया। दूसरा उन चोरोंसे डर कर नहीं भागा, किन्तु उनके द्वारा पकड़ा गया। तीसरा तो असाधारण बल तथा कौशलसे उन चोरोंको हराकर आगे बढ़ ही गया। मानसिक विकारोंके साथ आध्यात्मिक युद्ध करनेमें जो जय-पराजय होता है, उसका थोड़ा बहुत ख्याल उक्त दृष्टान्तसे आ सकता है।

---

* जह वा तिन्नि मणुस्सा, जंतडवियहं सहाव गमणेणं।
वेला इक्क मभिया, तुरंति यत्तायदो चोरा ॥१२११॥
दट्ठुं मग्ग तडत्थे, ते एगो मग्गओ पडिनियत्तो।
बितिओ गहिओ तइओ, सम इक्कंतु पुरंपत्तो ॥१२१२॥
अडवी भवो मणूसा, जीवा कम्मट्ठीई यहो दीहो।
गंठीय भयट्ठाणं, रागद्दोसा य दो चोरा ॥१२१३॥
भग्गो ठिई परिवुड्ढी, गहिओ पुण गंठिओ गओ तइओ।
सम्मत्त पुरं एवं, जो एज्जातिण्णी करणाणि ॥१२१४॥"

—विशेषावश्यक भाष्य।

यथा जनास्त्रयः केऽपि, महापुरं पिपासवः।
प्राप्ताः क्वचन कान्तारे, स्थानं चौरैः भयंकरम् ॥६१९॥
तत्र द्रुतं द्रुतं यान्तो, ददृशुस्तस्करद्वयम्।
तद्दृष्ट्वा त्वरितं पश्चादेको भीतः पलायितः ॥६२०॥
गृहीतश्चापरस्ताभ्यामन्यस्त्ववगणय्य तौ।
भयस्थानमतिक्रमम्य, पुरं प्राप पराक्रमी ॥६२१॥

प्रथम गुणस्थानमें रहनेवाले विकासगामी ऐसे अनेक आत्मा होते हैं, जो राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को थोड़ा सा दबाये हुए होते हैं, पर मोहकी प्रधान शक्तिको अर्थात् दर्शनमोहको शिथिल किये हुए नहीं होते। इसलिये वे यद्यपि आध्यात्मिक लक्ष्यके सर्वथा अनुकूलगामी नहीं होते, तो भी उनका बोध व चरित्र अन्य अविकसित आत्माओंकी अपेक्षा अच्छा ही होता है। यद्यपि ऐसे आत्माओंकी आध्यात्मिक दृष्टि सर्वथा आत्मोन्मुख न होनेके कारण वस्तुतः मिथ्या दृष्टि, विपरीत दृष्टि या असत् दृष्टि ही कहलाती है, तथापि वह सद्दृष्टिके समीप ले जानेवाली होनेके कारण उपादेयमानी गई है* ।

बोध, वीर्य व चारित्रके तर-तम भावकी अपेक्षासे उस असत् दृष्टिके चार भेद करके मिथ्या दृष्टि गुणस्थानकी अन्तिम अवस्था-

---

दृष्टान्तोपनयश्चात्र, जना जीवा भवोऽटवी ।
पन्थाः कर्मस्थितिर्ग्रन्थि देशस्त्विह भयास्पदम् ॥६२२॥
रागद्वेषौ तस्करौ द्वौ तद्भीतो बलितस्तु सः ।
ग्रन्थिं प्राप्यापि दुर्भावा, द्यो ज्येष्ठस्थितिबन्धकः ॥६२३॥
चौररुद्धस्तु स ज्ञेयस्तादृग् रागादिबाधितः ।
ग्रन्थिं भिनत्ति यो नैव, न चापि वलते ततः ॥६२४॥
स त्वभीष्टपुरं प्राप्तो, योऽपूर्वकरणाद् द्रुतम् ।
रागद्वेषावपाकृत्य, सम्यग्दर्शनमाप्तवान् ॥६२५॥"

—लोकप्रकाश सर्ग ३ ।

"मिथ्यात्वे मन्दतां प्राप्ते, मित्राद्या अपि दृष्टयः ।
मार्गाभिमुखभावेन, कुर्वते मोक्षयोजनम् ॥३१॥

श्रीयशोविजयजी-कृत योगावतारद्वात्रिंशिका ।

का शास्त्रमें अच्छा चित्र खींचा गया है। इन चार दृष्टियोंमें जो वर्त्तमान होते हैं, उनको सद्दृष्टि लाभ करनेमें फिर देरी नहीं लगती।

सद्बोध, सद्वीर्य व सच्चरित्र-के तर-तम-भावकी अपेक्षासे सद्-दृष्टिके* भी शास्त्रमें चार विभाग किये हैं, जिनमें मिथ्यादृष्टि त्यागकर अथवा मोहकी एक या दोनों शक्तियोंको जीतकर आगे बढ़े हुए सभी विकसित आत्माओंका समावेश हो जाता है। अथवा दूसरे प्रकारसे यों समझाया जा सकता है कि जिसमें आत्माका स्वरूप भासित हो और उसकी प्राप्तिकेलिये मुख्य प्रवृत्ति हो, वह सद्दृष्टि। इसके विपरीत जिसमें आत्माका स्वरूप न तो यथावत् भासित हो और न उसकी प्राप्तिकेलिये ही प्रवृत्ति हो, वह असत्दृष्टि। बोध, वीर्य व चरित्र-के तर-तम-भावको लक्ष्यमें रखकर शास्त्रमें दोनों दृष्टिके चार-चार विभाग किये गये हैं, जिनमें सब विकासगामी आत्माओंका समावेश हो जाता है और जिनका वर्णन पढ़नेसे आध्यात्मिक विकासका चित्र आँखोंके सामने नाचने लगता है †।

---

*—"सच्छ्रद्धासंगतो बोधो, दृष्टिः सा चाष्टधोदिता।
मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा ॥२५॥
तृणगोमयकाष्ठाग्नि,-कणदीप्रप्रभोपमा।
रत्नताराकर्चन्द्राभा, क्रमेणेक्ष्वादिसन्निभा ॥२६॥"
"आद्याश्चतस्रः सापाय,-पाता मिथ्यादृशामिह।
तत्त्वतो निरपायाश्च, भिन्नग्रन्थेस्तथोत्तराः ॥२८॥"
योगावतारद्वात्रिंशिका।

† इसकेलिये देखिये, श्रीहरिभद्रसूरि-कृत योगदृष्टिसमुच्चय तथा उपाध्याय यशोविजयजी-कृत २१से २४ तककी चार द्वात्रिं-शिकाएँ।

शारीरिक और मानसिक दुःखोंकी संवेदनाके कारण अज्ञात-रूपमेंही गिरि-नदी-पाषाण * न्यायसे जब आत्माका आवरण कुछ शिथिल होता है और इसके कारण उसके अनुभव तथा वीर्योल्लास-की मात्रा कुछ बढ़ती है, तब उस विकासगामी आत्माके परिणामों-की शुद्धि व कोमलता कुछ बढ़ती है। जिसकी बदौलत वह रागद्वेष-की तीव्रतम—दुर्भेद ग्रन्थिको तोड़नेकी योग्यता बहुत अंशोंमें प्राप्त कर लेता है। इस अज्ञानपूर्वक दुःख संवेदना-जनित अति अल्प आत्म-शुद्धिको जैनशास्त्रमें 'यथाप्रवृत्तिकरण' † कहा है। इसके बाद जब कुछ और भी अधिक आत्म-शुद्धि तथा वीर्योल्लासकी मात्रा बढ़ती है तब राग-द्वेषकी उस दुर्भेद ग्रन्थिका भेदन किया जाता है। इस ग्रन्थिभेदकारक आत्म-शुद्धिको 'अपूर्वकरण' ‡ कहते हैं।

---

* यथाप्रवृत्तकरणं, नन्वनाभोगरूपकम् ।
भवत्यनाभोगतश्च, कथं कर्मक्षयोऽङ्गिनाम् ॥६०७॥
"यथा मिथो घर्षणेन, ग्रावाणोऽद्रिनदीगताः ।
स्युश्चित्राकृतयो ज्ञान,-शून्या अपि स्वभावतः ॥६०८॥
तथा यथाप्रवृत्तात्स्यु,-रप्यनाभोगलक्षणात् ।
लघुस्थितिककर्माणो, जन्तवोऽत्रान्तरेऽथ च ॥६०९॥"
—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

† इसको दिगम्बरसम्प्रदायमें 'अथाप्रवृत्तकरण' कहते हैं। इसकेलिये देखिये, तत्त्वार्थ-अध्याय ९ के १ ले सूत्रका १३ वाँ राजवार्तिक।

‡ "तीव्रधारपर्शुकल्पा,ऽपूर्वाख्यकरणेन हि ।
आविष्कृत्य परं वीर्य, ग्रन्थिं भिन्दन्ति केचन ॥६१८॥"
—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

क्योंकि ऐसा करण—परिणाम * विकासगामी आत्माकेलिये अपूर्व—प्रथम ही प्राप्त है। इसके बाद आत्म-शुद्धि व वीर्योल्लासकी मात्रा कुछ अधिक बढ़ती है, तब आत्मा मोहकी प्रधानभूत शक्ति—दर्शनमोहपर अवश्य विजयलाभ करता है। इस विजय-कारक आत्म-शुद्धिको जैनशास्त्रमें "अनिवृत्तिकरण" † कहा है, क्योंकि इस आत्म-शुद्धिके हो जानेपर आत्मा दर्शनमोहपर जय-लाभ बिना किये नहीं रहता, अर्थात् वह पीछे नहीं हटता। उक्त तीन प्रकारकी आत्म-शुद्धियोंमें दूसरी अर्थात् अपूर्वकरण-नामक शुद्धि ही अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि राग-द्वेषके तीव्रतम वेगको

* "परिणामविशेषोऽत्र, करणं प्राणिनां मतम् ॥५९९॥"

—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

† "अथानिवृत्तिकरणेना,-तिस्वच्छाशयात्मना ।
करोत्यन्तरकरण,-मन्तर्मुहूर्त्तसंमितम् ॥६२७॥
कृते च तस्मिन्मिथ्यात्व,-मोहस्थितिर्द्विधा भवेत् ।
तत्राद्यान्तरकरणा,-दधस्तन्यपरोर्ध्वगा ॥६२८॥
तत्राद्यायां स्थितौ मिथ्या,-दृक् स तद्दलवेदनात् ।
अतीतायामथैतस्यां, स्थितावन्तर्मुहूर्त्ततः ॥६२९॥
प्राप्नोत्यन्तरकरणं, तस्याद्यक्षण एव सः ।
सम्यक्त्वमौपशमिक,-मपौद्गलिकमाप्नुयात् ॥६३०॥
यथा वनदवो दग्धे,-न्धनः प्राप्यातृणं स्थलम् ।
स्वयं विध्यापति तथा, मिथ्यात्वोग्रदवानलः ॥६३१॥
अवाप्यान्तरकरणं, क्षिप्रं विध्यापति स्वयम् ।
तदौपशमिकं नाम, सम्यक्त्वं लभतेऽसुमान् ॥६३२॥"

—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

रोकनेका अत्यन्त कठिन कार्य इसीकेद्वारा किया जाता है, जो सहज नहीं है। एक बार इस कार्यमें सफलता प्राप्त हो जानेपर फिर चाहे विकासगामी आत्मा ऊपरकी किसी भूमिकासे गिर भी पड़े तथापि वह पुनः कभी-न-कभी अपने लक्ष्यको—आध्यात्मिक पूर्ण स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। इस आध्यात्मिक परिस्थितिका कुछ स्पष्टीकरण अनुभवगत व्यावहारिक दृष्टान्तकेद्वारा किया जा सकता है।

जैसे; एक ऐसा वस्त्र हो, जिसमें मलके अतिरिक्त चिकनाहट भी लगी हो। उसका मल ऊपर-ऊपरसे दूर करना उतना कठिन और श्रम-साध्य नहीं, जितना कि चिकनाहटका दूर करना। यदि चिकनाहट एक बार दूर हो जाय तो फिर बाकीका मल निकालनेमें किंवा किसी कारण-वश फिरसे लगे हुए गर्देको दूर करनेमें विशेष श्रम नहीं पड़ता और वस्त्रको उसके असली स्वरूपमें सहज ही लाया जा सकता है। ऊपर-ऊपरका मल दूर करनेमें जो बल दरकार है, उसके सदृश "यथाप्रवृत्तिकरण" है। चिकनाहट दूर करनेवाले विशेष बल व श्रम-के समान "अपूर्वकरण" है। जो चिकनाहटके समान राग-द्वेषकी तीव्रतम ग्रन्थिको शिथिल करता है। बाकी बचे हुए मलको किंवा चिकनाहट दूर होनेके बाद फिरसे लगे हुए मलको कम करनेवाले बल-प्रयोगके समान "अनिवृत्तिकरण" है। उक्त तीनों प्रकारके बल-प्रयोगोंमें चिकनाहट दूर करनेवाला बल-प्रयोग ही विशिष्ट है।

अथवा जैसे; किसी राजाने आत्मरक्षाकेलिये अपने अङ्गरक्षकोंको तीन विभागोंमें विभाजित कर रक्खा हो, जिनमें दूसरा विभाग शेष दो विभागोंसे अधिक बलवान् हो, तब उसीको जीतनेमें विशेष बल लगाना पड़ता है। वैसे ही दर्शनमोहको जीतनेके पहले उसके रक्षक राग-द्वेषके तीव्र संस्कारोंको शिथिल करनेके-

लिये विकासगामी आत्माको तीन बार बल-प्रयोग करना पड़ता है। जिनमें दूसरी बार किया जानेवाला बल-प्रयोग ही, जिसकेद्वारा राग-द्वेषकी अत्यन्त तीव्रतारूप ग्रन्थि भेदी जाती है, प्रधान होता है। जिस प्रकार उक्त तीनों दलोंमेंसे बलवान् दूसरे अङ्गरक्षक दलके जीत लिये जानेपर फिर उस राजाका पराजय सहज होता है, इसी प्रकार द्वेषकी अतितीव्रताको मिटा देनेपर दर्शनमोहपर जयलाभ करना सहज है। दर्शनमोहको जीता और पहले गुणस्थानकी समाप्ति हुई।

ऐसा होते ही विकासगामी आत्मा स्वरूपका दर्शन कर लेता है अर्थात् उसकी अब तक जो पररूपमें स्वरूपकी भ्रान्ति थी, वह दूर हो जाती है। अत एव उसके प्रयत्नकी गति उलटी न होकर सीधी हो जाती है। अर्थात् वह विवेकी बन कर कर्तव्य-अकर्तव्यका वास्तविक विभाग कर लेता है। इस दशाको जैन-शास्त्रमें "अन्तरात्म भाव" कहते हैं; क्योंकि इस स्थितिको प्राप्त करके विकासगामी आत्मा अपने अन्दर वर्तमान सूक्ष्म और सहज शुद्ध परमात्म-भावको देखने लगता है, अर्थात् अन्तरात्मभाव, यह आत्म-मन्दिरका गर्भद्वार है, जिसमें प्रविष्ट होकर उस मन्दिर-में वर्तमान परमात्म-भावरूप निश्चय देवका दर्शन किया जाता है।

यह दशा विकासक्रमकी चतुर्थी भूमिका किंवा चतुर्थ गुण-स्थान है, जिसे पाकर आत्मा पहले पहल आध्यात्मिक शान्तिका अनुभव करता है। इस भूमिकामें आध्यात्मिक दृष्टि यथार्थ (आत्मस्वरूपोन्मुख) होनेके कारण विपर्यास-रहित होती है। जिसको जैनशास्त्रमें सम्यग्दृष्टि किम्वा सम्यक्त्व * कहा है।

---

* "जिनोक्तादविपर्यस्ता, सम्यग्दृष्टिर्निगद्यते।
सम्यक्त्वशालिनां सा स्या,-त्तच्चैवं जायतेऽङ्गिनाम् ॥५९६॥"
—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

चतुर्थीसे आगेकी अर्थात् पञ्चमी आदि सब भूमिकाएँ सम्यग्दृष्टिवाली ही समझनी चाहिये; क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर विकास तथा दृष्टि-की शुद्धि अधिकाधिक होती जाती है। चतुर्थ गुणस्थानमें स्वरूप-दर्शन करनेसे आत्माको अपूर्व शान्ति मिलती है और उसको विश्वास होता है कि अब मेरा साध्य-विषयक भ्रम दूर हुआ, अर्थात् अब तक जिस पौद्गलिक व बाह्य सुखको मैं तरस रहा था, वह परिणाम-विरस, अस्थिर एवं परिमित है; परिणाम-सुन्दर, स्थिर व अपरिमित सुख स्वरूप-प्राप्तिमें ही है। तब वह विकासगामी आत्मा स्वरूप-स्थितिकेलिये प्रयत्न करने लगता है।

मोहकी प्रधान शक्ति—दर्शनमोहको शिथिल करके स्वरूप-दर्शन कर लेनेके बाद भी, जब तक उसकी दूसरी शक्ति—चारित्र-मोहको शिथिल न किया जाय, तब तक स्वरूप-लाभ किंवा स्वरूप-स्थिति नहीं हो सकती। इसलिये वह मोहकी दूसरी शक्तिको मन्द करनेकेलिये प्रयास करता है। जब वह उस शक्तिको अंशतः शिथिल कर पाता है; तब उसकी और भी उत्क्रान्ति हो जाती है। जिसमें अंशतः स्वरूप-स्थिरता या परपरिणति-त्याग होनेसे चतुर्थ भूमिकाकी अपेक्षा अधिक शान्ति-लाभ होता है। यह देशविरति-नामक पाँचवाँ गुणस्थान है।

इस गुणस्थानमें विकासगामी आत्माको यह विचार होने लगता है कि यदि अल्प-विरतिसे ही इतना अधिक शान्ति-लाभ हुआ तो फिर सर्व-विरति—जड़ भावोंके सर्वथा परिहारसे कितना शान्ति-लाभ न होगा। इस विचारसे प्रेरित होकर व प्राप्त आध्यात्मिक शान्तिके अनुभवसे बलवान् होकर वह विकासगामी आत्मा चारित्रमोहको अधिकांशमें शिथिल करके पहलेकी अपेक्षा भी अधिक स्वरूप-स्थिरता व स्वरूप-लाभ प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है। इस चेष्टामें कृतकृत्य होते ही उसे सर्व-विरति

संयम प्राप्त होता है। जिसमें पौद्गलिक भावोंपर मूर्च्छा बिलकुल नहीं रहती, और उसका सारा समय स्वरूपकी अभिव्यक्ति करनेके काममें ही खर्च होता है। यह "सर्वविरति"-नामक षष्ठ गुणस्थान है। इसमें आत्म-कल्याणके अतिरिक्त लोक-कल्याणकी भावना और तदनुकूल प्रवृत्ति भी होती है। जिससे कभी-कभी थोड़ी-बहुत मात्रामें प्रमाद आ जाता है।

पाँचवे गुणस्थानकी अपेक्षा, इस छठे गुणस्थानमें स्वरूप-अभिव्यक्ति अधिक होनेके कारण यद्यपि विकासगामी आत्माको आध्यात्मिक शान्ति पहलेसे अधिक ही मिलती है तथापि बीच-बीच-में अनेक प्रमाद उसे शान्ति-अनुभवमें जो बाधा पहुँचाते हैं, उसको वह सहन नहीं कर सकता। अत एव सर्व-विरति-जनित शान्तिके साथ अप्रमाद-जनित विशिष्ट शान्तिका अनुभव करनेकी प्रबल लालसासे प्रेरित होकर वह विकासगामी आत्मा प्रमादका त्याग करता है और स्वरूपकी अभिव्यक्तिके अनुकूल मनन-चिन्तनके सिवाय अन्य सब व्यापारोंका त्याग कर देता है। यही 'अप्रमत्त-संयत' नामक सातवाँ गुणस्थान है। इसमें एक ओर अप्रमाद-जन्य उत्कट सुख का अनुभव आत्माको उस स्थितिमें बने रहने-केलिये उत्तेजित करता है और दूसरी ओर प्रमाद-जन्य पूर्व वास-नाएँ उसे अपनी ओर खींचती हैं। इस खींचातानीमें विकासगामी आत्मा कभी प्रमादकी तन्द्रा और कभी अप्रमादकी जागृति अर्थात् छठे और सातवें गुणस्थानमें अनेक बार जाता आता रहता है। भँवर या वातभ्रमीमें पड़ा हुआ तिनका इधरसे उधर और उधर-से इधर जिस प्रकार चलायमान होता रहता है, उसी प्रकार छठें और सातवें गुणस्थानके समय विकासगामी आत्मा अनवस्थित बन जाता है।

प्रमादके साथ होनेवाले इस आन्तरिक युद्धके समय विकास-

गामी आत्मा यदि अपना चारित्र-बल विशेष प्रकाशित करता है तो फिर वह प्रमादों—प्रलोभनोंको पार कर विशेष अप्रमत्त-अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस अवस्थाको पाकर वह ऐसी शक्ति-वृद्धि-की तैयारी करता है कि जिससे शेष रहे-सहे मोह-बलको नष्ट किया जा सके। मोहके साथ होनेवाले भावी युद्धकेलिये की जानेवाली तैयारीकी इस भूमिकाको आठवाँ गुणस्थान कहते हैं।

पहले कभी न हुई ऐसी आत्म-शुद्धि इस गुणस्थानमें हो जाती है। जिससे कोई विकासगामी आत्मा तो मोहके संस्कारोंके प्रभावको क्रमशः दबाता हुआ आगे बढ़ता है तथा अन्तमें उसे बिलकुल ही उपशान्त कर देता है। और विशिष्ट आत्म-शुद्धिवाला कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा भी होता है, जो मोहके संस्कारोंको क्रमशः जड़ मूलसे उखाड़ता हुआ आगे बढ़ता है तथा अन्तमें उन सब संस्कारोंको सर्वथा निर्मूल ही कर डालता है। इस प्रकार आठवें गुणस्थानसे आगे बढ़नेवाले अर्थात् अन्तरात्म-भावके विकासद्वारा परमात्म-भाव-रूप सर्वोपरि भूमिकाके निकट पहुँचने-वाले आत्मा दो श्रेणियोंमें विभक्त हो जाते हैं।

एक श्रेणिवाले तो ऐसे होते हैं, जो मोहको एक बार सर्वथा दबा तो लेते हैं, पर उसे निर्मूल नहीं कर पाते। अत एव जिस प्रकार किसी बर्तनमें भरी हुई भाफ कभी-कभी अपने वेगसे उस बर्तन-को उड़ा ले भागती है या नीचे गिरा देती है अथवा जिस प्रकार राखके नीचे दबा हुआ अग्नि हवाका झकोरा लगते ही अपना कार्य करने लगता है; किंवा जिस प्रकार जलके तलमें बैठा हुआ मल थोड़ासा क्षोभ पाते ही ऊपर उठकर जलको गँदला कर देता है, उसी प्रकार पहले दबाया हुआ भी मोह आन्तरिक युद्धमें थके हुए उन प्रथम श्रेणिवाले आत्माओंको अपने वेगकेद्वारा नीचे पटक देता है। एक बार सर्वथा दबाये जानेपर भी मोह, जिस

भूमिकासे आत्माको हार दिलाकर नीचे की ओर पटक देता है, वही ग्यारहवाँ गुणस्थान है। मोहको क्रमशः दबाते-दबाते सर्वथा दबाने तकमें उत्तरोत्तर अधिक-अधिक विशुद्धिवाली दो भूमिकाएँ अवश्य प्राप्त करनी पड़ती हैं। जो नौवाँ तथा दसवाँ गुणस्थान कहलाता है। ग्यारहवाँ गुणस्थान अधःपतनका स्थान है; क्योंकि उसे पानेवाला आत्मा आगे न बढ़कर एक बार तो अवश्य नीचे गिरता है।

दूसरी श्रेणिवाले आत्मा मोहको क्रमशः निर्मूल करते-करते अन्तमें उसे सर्वथा निर्मूल कर ही डालते हैं। सर्वथा निर्मूल करनेकी जो उच्च भूमिका है, वही बारहवाँ गुणस्थान है। इस गुणस्थानको पाने तकमें अर्थात् मोहको सर्वथा निर्मूल करनेसे पहले बीचमें नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करना पड़ता है। इसी प्रकार देखा जाय तो चाहे पहली श्रेणिवाले हों, चाहे दूसरी श्रेणिवाले, पर वे सब नौवाँ-दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करते ही हैं। दोनों श्रेणिवालोंमें अन्तर इतना ही होता है कि प्रथम श्रेणिवालोंकी अपेक्षा दूसरी श्रेणिवालोंमें आत्म-शुद्धि व आत्म-बल विशिष्ट प्रकारका पाया जाता है। जैसेः—किसी एक दर्जेके विद्यार्थी भी दो प्रकारके होते हैं। एक प्रकारके तो ऐसे होते हैं, जो सौ कोशिश करनेपर भी एक बारगी अपनी परीक्षामें पास होकर आगे नहीं बढ़ सकते। पर दूसरे प्रकारके विद्यार्थी अपनी योग्यताके बलसे सब कठिनाईयोंको पार कर उस कठिनतम परीक्षाको बेधड़क पास कर ही लेते हैं। उन दोनों दलके इस अन्तरका कारण उनकी आन्तरिक योग्यताकी न्यूनाधिकता है। वैसे ही नौवें तथा दसवें गुणस्थानको प्राप्त करनेवाले उक्त दोनों श्रेणिगामी आत्माओंकी आध्यात्मिक विशुद्धि न्यूनाधिक होती है। जिसके कारण एक श्रेणिवाले तो दसवें गुणस्थानको पाकर अन्तमें ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहसे हार खाकर नीचे गिरते हैं और अन्य श्रेणिवाले दसवें गुण-

स्थानको पाकर इतना अधिक आत्म-बल प्रकट करते हैं कि अन्तमें वे मोहको सर्वथा क्षीण कर बारहवें गुणस्थानको प्राप्त कर ही लेते हैं।

जैसे ग्यारहवाँ गुणस्थान अवश्य पुनरावृत्तिका है, वैसे ही बारहवाँ गुणस्थान अपुनरावृत्तिका है। अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानको पानेवाला आत्मा एक बार उससे अवश्य गिरता है और बारहवें गुणस्थानको पानेवाला उससे कदापि नहीं गिरता; बल्कि ऊपरको ही चढ़ता है किसी एक परीक्षामें नहीं पास होनेवाले विद्यार्थी जिस प्रकार परिश्रम व एकाग्रतासे योग्यता बढ़ाकर फिर उस परीक्षाको पास कर लेते हैं; उसी प्रकार एक बार मोहसे हार खानेवाले आत्मा भी अप्रमत्त-भाव व आत्म-बल-की अधिकतासे फिर मोहको अवश्य क्षीण कर देते हैं। उक्त दोनों श्रेणिवाले आत्माओंकी तर-तम-भावापन्न आध्यात्मिक विशुद्धि मानों परमात्म भाव-रूप सर्वोच्च भूमिकापर चढ़नेकी दो नसेनियाँ हैं। जिनमेंसे एकको जैनशास्त्रमें 'उपशमश्रेणि' और दूसरीको 'क्षपकश्रेणि' कहा है। पहली कुछ दूर चढ़ाकर गिरानेवाली और दूसरी चढ़ानेवाली ही है। पहली श्रेणिसे गिरनेवाला आध्यात्मिक अधःपतनकेद्वारा चाहे प्रथम गुणस्थान तक क्यों न चला जाय, पर उसकी वह अधःपतित स्थिति क़ायम नहीं रहती। कभी-न-कभी फिर वह दूने बलसे और दूनी सावधानीसे तैयार होकर मोह-शत्रुका सामना करता है और और अन्तमें दूसरी श्रेणिकी योग्यता प्राप्त कर मोहका सर्वथा क्षय कर डालता है। व्यवहारमें अर्थात् आधिभौतिक क्षेत्रमें भी यह देखा जाता है कि जो एक बार हार खाता है, वह पूरी तैयारी करके हरानेवाले शत्रुको फिरसे हरा सकता है।

परमात्म-भावका स्वराज्य प्राप्त करनेमें मुख्य बाधक मोह ही है। जिसको नष्ट करना अन्तरात्म-भावके विशिष्ट विकासपर निर्भर है। मोहका सर्वथा नाश हुआ कि अन्य आवरण जो जैन-

शास्त्रमें 'घातिकर्म' कहलाते हैं, वे प्रधान सेनापतिके मारे जानेके बाद अनुगामी सैनिकोंकी तरह एक साथ तितर-बितर हो जाते हैं। फिर क्या देरी, विकासगामी आत्मा तुरन्त ही परमात्म-भावका पूर्ण आध्यात्मिक स्वराज्य पाकर अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूपको पूर्णतया व्यक्त करके निरतिशय ज्ञान, चारित्र आदिका लाभ करता है तथा अनिर्वचनीय स्वाभाविक सुखका अनुभव करता है। जैसे, पूर्णिमाकी रातमें निरभ्र चन्द्रकी सम्पूर्ण कलाएँ प्रकाशमान होती हैं, वैसे ही उस समय आत्माकी चेतना आदि सभी मुख्य शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। इस भूमिकाको जैनशास्त्रमें तेरहवाँ गुण-स्थान कहते हैं।

इस गुणस्थानमें चिरकाल तक रहनेके बाद आत्मा दग्ध रज्जुके समान शेष आवरणोंकी अर्थात् अप्रधानभूत अघातिकर्मोंको उड़ा-कर फेंक देनेकेलिये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यानरूप पवनका आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारोंको सर्वथा रोक देता है। यही आध्यात्मिक विकासकी पराकाष्ठा किंवा चौदहवाँ गुणस्थान है। इसमें आत्मा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति शुक्ल-ध्यानद्वारा सुमेरुकी तरह निष्प्रकम्प स्थितिको प्राप्त करके अन्तमें शरीर-त्याग-पूर्वक व्यवहार और परमार्थ दृष्टिसे लोकोत्तर स्थानको प्राप्त करता है। यही निर्गुण ब्रह्मस्थिति * है, यही सर्वाङ्गीण पूर्णता है, यही पूर्ण कृतकृत्यता है, यही परम पुरुषार्थकी अन्तिम सिद्धि

---

* "योगसंन्यासतस्त्यागी, योगानप्यखिलाँस्त्यजेत्।
इत्येवं निर्गुणं ब्रह्म, परोक्तमुपपद्यते ॥७॥
वस्तुतस्तु गुणैः पूर्ण-मनन्तैर्भासते स्वतः।
रूपं त्यक्तात्मनः साधो,-र्निरभ्रस्य विधोरिव ॥८॥"

—ज्ञानसार, त्यागाष्टक।

है और यही अपुनरावृत्ति-स्थान है। क्योंकि संसारका एकमात्र कारण मोह है। जिसके सब संस्कारोंका निश्शेष नाश हो जानेके कारण अब उपाधिका संभव नहीं है।

यह कथा हुई पहिलेसे चौदहवे गुणस्थान तकके बारह गुणस्थानोंकी; इसमें दूसरे और तीसरे गुणस्थानकी कथा, जो छूट गई है, वह यों है कि सम्यक्त्व किंवा तत्त्वज्ञानवाली ऊपरकी चतुर्थी आदि भूमिकाओंके राजमार्गसे च्युत होकर जब कोई आत्मा तत्वज्ञान-शून्य किंवा मिथ्यादृष्टिवाली प्रथम भूमिकाके उन्मार्गकी ओर झुकता है, तब बीचमें उस अधःपतनोन्मुख आत्माकी जो कुछ अवस्था होती है, वही दूसरा गुणस्थान है। यद्यपि इस गुणस्थानमें प्रथम गुणस्थानकी अपेक्षा आत्म-शुद्धि अवश्य कुछ अधिक होती है, इसीलिये इसका नम्बर पहलेके बाद रक्खा गया है, फिर भी यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि इस गुणस्थानको उत्क्रान्ति-स्थान नहीं कह सकते। क्योंकि प्रथम गुणस्थानको छोड़कर उत्क्रान्ति करनेवाला आत्मा इस दूसरे गुणस्थानको सीधे तौरसे प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु ऊपरके गुणस्थानसे गिरनेवाला ही आत्मा इसका अधिकारी बनता है। अधःपतन मोहके उद्रेकसे होता है। अत एव इस गुणस्थानके समय मोहकी तीव्र काषायिक शक्तिका आविर्भाव पाया जाता है। खीर आदि मिष्ट भोजन करनेके बाद जब वमन हो जाता है, तब मुखमें एक प्रकारका विलक्षण स्वाद अर्थात् न अतिमधुर न अति-अम्ल जैसे प्रतीत होता है। इसी प्रकार दूसरे गुणस्थानके समय आध्यात्मिक स्थिति विलक्षण पाई जाती है। क्योंकि उस समय आत्मा न तो तत्त्व-ज्ञानकी निश्चित भूमिकापर है और न तत्त्व-ज्ञान-शून्य निश्चित भूमिकापर। अथवा जैसे कोई व्यक्ति चढ़नेकी सीढ़ियोंसे खिसक कर जब तक ज़मीनपर आकर नहीं ठहर जाता, तब तक बीचमें एक विलक्षण अवस्थाका

अनुभव करता है, वैसे ही सम्यक्त्वसे गिरकर मिथ्यात्वको पाने तकमें अर्थात् बीचमें आत्मा एक विलक्षण आध्यात्मिक अवस्थाका अनुभव करता है। यह बात हमारे इस व्यावहारिक अनुभवसे भी सिद्ध है कि जब किसी निश्चित उन्नत-अवस्थासे गिरकर कोई निश्चित अवनत-अवस्था प्राप्त की जाती है, तब बीचमें एक विलक्षण परिस्थिति खड़ी होती है।

तीसरा गुणस्थान आत्माकी उस मिश्रित अवस्थाका नाम है, जिसमें न तो केवल सम्यक् दृष्टि होती है और न केवल मिथ्या दृष्टि, किन्तु आत्मा उसमें दोलायमान आध्यात्मिक स्थितिवाला बन जाता है। अत एव उसकी बुद्धि स्वाधीन न होनेके कारण सन्देह-शील होती है अर्थात् उसके सामने जो कुछ आया, वह सब सच। न तो वह तत्त्वको एकान्त अतत्त्वरूपसे ही जानती है और न तत्त्व-अतत्त्वका वास्तविक पूर्ण विवेक ही कर सकती है।

कोई उत्क्रान्ति करनेवाला आत्मा प्रथम गुणस्थानसे निकलकर शीघ्र ही तीसरे गुणस्थानको प्राप्त कर सकता है और कोई अप-क्रान्ति करनेवाला आत्मा भी चतुर्थ आदि गुणस्थानसे गिरकर तीसरे गुणस्थानको प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार उत्क्रान्ति करनेवाले और अपक्रान्ति करनेवाले—दोनों प्रकारके आत्माओंका आश्रय-स्थान तीसरा गुणस्थान है। यही तीसरे गुणस्थानकी दूसरे गुणस्थानसे विशेषता है।

ऊपर आत्माकी जिन चौदह अवस्थाओंका विचार किया है, उनका तथा उनके अन्तर्गत अवान्तर संख्यातीत अवस्थाओंका बहुत संक्षेपमें वर्गीकरण करके शास्त्रमें शरीरधारी आत्माकी सिर्फ़ तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं:—(१) बहिरात्म-अवस्था, (२) अन्तरात्म-अवस्था और (३) परमात्म-अवस्था।

पहली अवस्थामें आत्माका वास्तविक—विशुद्ध रूप अत्यन्त

आच्छन्न रहता है, जिसके कारण आत्मा मिथ्याध्यासवाला होकर पौद्गलिक विलासोंको ही सर्वस्व मान लेता है और उन्हींकी प्राप्तिके-लिये सम्पूर्ण शक्तिका व्यय करता है।

दूसरी अवस्थामें आत्माका वास्तविक स्वरूप पूर्णतया तो प्रकट नहीं होता, पर उसके ऊपरका आवरण गाढ़ न होकर शिथिल, शिथिलतर, शिथिलतम बन जाता है, जिसके कारण उसकी दृष्टि पौद्गलिक विलासोंकी ओरसे हट कर शुद्ध स्वरूपकी ओर लग जाती है। इसीसे उसकी दृष्टिमें शरीर आदिकी जीर्णता व नवीनता अपनी जीर्णता व नवीनता नहीं है। यह दूसरी अवस्था ही तीसरी अवस्थाका दृढ़ सोपान है।

तीसरी अवस्थामें आत्माका वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है अर्थात् उसके ऊपरके घने आवरण बिलकुल विलीन हो जाते हैं।

पहला, दूसरा और तीसरा गुणस्थान बहिरात्म-अवस्थाका चित्रण है। चौथेसे बारहवें तकके गुणस्थान अन्तरात्म-अवस्थाका दिग्दर्शन है और तेरहवाँ, चौदहवाँ गुणस्थान परमात्म-अवस्थाका वर्णन * है।

---

* "अन्ये तु मिथ्यादर्शनादिभावपरिणतो बाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादिपरिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादिपरिणतस्तु परमात्मा। तत्राद्य-गुणस्थानत्रयं बाह्यात्मा, ततः परं क्षीणमोहगुणस्थानं यावदन्तरात्मा, ततः परन्तु परमात्मेति। तथा व्यक्त्या बाह्यात्मा, शक्त्या परमात्मान्तरात्मा च। व्यक्त्यान्तरात्मा तु शक्त्या परमात्मा अनुभूतपूर्वनयेन च बाह्यात्मा, व्यक्त्या परमात्मा, अनुभूतपूर्वनयेनैव बाह्यात्मान्तरात्मा च।" —अध्यात्ममतपरीक्षा, गाथा १२५।

आत्माका स्वभाव ज्ञानमय है, इसलिये वह चाहे किसी गुणस्थानमें क्यों न हो, पर ध्यानसे कदापि मुक्त नहीं रहता। ध्यानके सामान्य रीतिसे (१) शुभ और (२) अशुभ, ऐसे दो विभाग और विशेष रीतिसे (१) आर्त, (२) रौद्र, (३) धर्म और (४) शुक्ल, ऐसे चार विभाग शास्त्रमें * किये गये हैं। चारमेंसे पहले दो अशुभ और पिछले दो शुभ हैं। पौद्गलिक दृष्टिकी मुख्यताके किंवा आत्म-विस्मृतिके समय जो ध्यान होता है, वह अशुभ और पौद्गलिक दृष्टिकी गौणता व आत्मानुसन्धान-दशामें जो ध्यान होता है, वह शुभ है। अशुभ ध्यान संसारका कारण और शुभ ध्यान मोक्षका कारण है। पहले तीन गुणस्थानोंमें आर्त्त और रौद्र, ये दो ध्यान ही तर-तम-भावसे पाये जाते हैं। चौथे और पाँचवें गुणस्थानमें उक्त दो ध्यानोंके अतिरिक्त सम्यक्त्वके प्रभावसे धर्मध्यान भी होता है। छठे गुणस्थानमें आर्त्त और धर्म, ये दो ध्यान होते हैं। सातवें गुणस्थानमें सिर्फ धर्मध्यान होता है। आठवेंसे बारहवें तक पाँच गुणस्थानोंमें धर्म और शुक्ल, ये दो ध्यान होते हैं।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें सिर्फ शुक्लध्यान होता है †।

"बाह्यात्मा चान्तरात्मा च, परमात्मेति च त्रयः।
कायाधिष्ठायकध्येयाः, प्रसिद्धा योगवाङ्मये ॥ १७ ॥
अन्ये मिथ्यात्वसम्यक्त्व,-केवलज्ञानभागिनः।
मिश्रे च क्षीणमोहे च, विश्रान्तास्ते त्वयोगिनि ॥ १८ ॥"
—योगावतारद्वात्रिंशिका।

"आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि।"—तत्त्वार्थ-अध्याय ९, सूत्र २९।

† इसकेलिये देखिये, तत्त्वार्थ अ० ९, सूत्र ३५ से ४०। ध्यानशतक, गा० ६३ और ६४ तथा आवश्यक-हारिभद्री टीका पृ० ६०२। इस विषयमें तत्त्वार्थके उक्त सूत्रोंका राजवार्तिक विशेष देखने योग्य है, क्योंकि उसमें श्वेताम्बरग्रन्थोंसे थोड़ासा मतभेद है।

गुणस्थानोंमें पाये जानेवाले ध्यानोंके उक्त वर्णनसे तथा गुणस्थानोंमें किये हुए बहिरात्म-भाव आदि पूर्वोक्त विभागसे प्रत्येक मनुष्य यह सामान्यतया जान सकता है कि मैं किस गुणस्थानका अधिकारी हूँ। ऐसा ज्ञान, योग्य अधिकारीकी नैसर्गिक महत्त्वाकाङ्क्षाको ऊपरके गुणस्थानोंकेलिये उत्तेजित करता है।

दर्शनान्तरके साथ जैनदर्शनका साम्य।

जो दर्शन, आस्तिक अर्थात् आत्मा, उसका पुनर्जन्म, उसकी विकासशीलता तथा मोक्ष-योग्यता माननेवाले हैं, उन सबोंमें किसी-न-किसी रूपमें आत्माके क्रमिक विकासका विचार पाया जाना स्वाभाविक है। अत एव आर्यावर्त्तके जैन, वैदिक और बौद्ध, इन तीनों प्राचीन दर्शनोंमें उक्त प्रकारका विचार पाया जाता है। यह विचार जैनदर्शनमें गुणस्थानके नामसे, वैदिक दर्शनमें भूमिकाओंके नामसे और बौद्धदर्शनमें अवस्थाओंके नामसे प्रसिद्ध है। गुणस्थानका विचार, जैसा जैनदर्शनमें सूक्ष्म तथा विस्तृत है, वैसा अन्य दर्शनोंमें नहीं है, तो भी उक्त तीनों दर्शनोंकी उस विचारके सम्बन्धमें बहुत-कुछ समता है। अर्थात् संकेत, वर्णनशैली आदिकी भिन्नता होनेपर भी वस्तुतत्त्वके विषयमें तीनों दर्शनोंका भेद नहींके बराबर ही है। वैदिकदर्शनके योगवाशिष्ठ, पातञ्जल योग आदि ग्रन्थोंमें आत्माकी भूमिकाओंका अच्छा विचार है।

जैनशास्त्रमें मिथ्यादृष्टि या बहिरात्माके नामसे अज्ञानी जीवका लक्षण बतलाया है कि जो अनात्मामें अर्थात् आत्म-भिन्न जड़तत्त्वमें आत्म-बुद्धि करता है, वह मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा * है। योग-

* "तत्र मिथ्यादर्शनोदयवशीकृतो मिथ्यादृष्टिः।"
—तत्त्वार्थ-अध्याय ९, सू० १, राजवार्त्तिक १२।

वाशिष्ठमें * तथा पातञ्जलयोग सूत्र † में अज्ञानी जीवका वही लक्षण है। जैनशास्त्रमें मिथ्यात्वमोहनीयका संसार-बुद्धि और दुःखरूप फल वर्णित है ‡। वही बात योगवाशिष्ठके

"आत्मधिया समुपात्त,-कायादिः कीर्त्यतेऽत्र बाहिरात्मा।
कायादेः समधिष्ठा,-यको भवत्यन्तरात्मा तु ॥७॥"

—योगशास्त्र, प्रकाश १२।

"निर्मलस्फटिकस्येव, सहजं रूपमात्मनः।
अध्यस्तोपाधिसंबन्धो, जडस्तत्र विमुह्यति ॥६॥"

—ज्ञानसार, मोहाष्टक।

"नित्यशुच्यात्मताख्याति,-रनित्याशुच्यनात्मसु।
अविद्यातत्त्वधीर्विद्या, योगाचार्यैः प्रकीर्तिता: ॥ ॥"

—ज्ञानसार, विद्याष्टक।

"भ्रमवाटी बहिर्दृष्टि,-र्भ्रमच्छाया तदीक्षणम्।
अभ्रान्तस्तत्त्वदृष्टिस्तु, नास्यां शेते सुखाऽऽशया ॥२॥"

ज्ञानसार, तत्त्वदृष्टि-अष्टक।

*"यस्याऽज्ञानात्मनोज्ञस्य, देह एवात्मभावना।
उदितेति रुषैवाक्ष,-रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥३॥"

—निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध, सर्ग ६।

†"अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।"

—पातञ्जलयोगसूत्र, साधन-पाद, सूत्र ५।

‡"समुदायावयवयोर्बन्धहेतुत्वं वाक्यपरिसमाप्तेर्वैचित्र्यात्।"

—तत्त्वार्थ, अध्याय ९, सू० १, वार्त्तिक ३१।

"विकल्पचषकैरात्मा, पीतमोहासवो ह्ययम्।
भवोच्चतालमुत्ताल,-प्रपञ्चमधितिष्ठति ॥५॥"

—ज्ञानसार, मोहाष्टक।

निर्वाण * प्रकरणमें अज्ञानके फलरूपसे कही गई है। (२) योगवाशिष्ठ निर्वाण प्रकरण पूर्वार्धमें अविद्यासे तृष्णा और तृष्णासे दुःखका अनुभव तथा विद्यासे अविद्याका † नाश, यह क्रम जैसा वर्णित है, वही क्रम जैनशास्त्रमें मिथ्याज्ञान और सम्यक्ज्ञानके निरूपणद्वारा जगह-जगह वर्णित है। (३) योगवाशिष्ठके उक्त प्रकरणमें ‡ ही जो अविद्याका विद्यासे और विद्याका विचारसे नाश बतलाया है, वह जैनशास्त्रमें माने हुए मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिकज्ञानसे मिथ्याज्ञानके नाश और क्षायिकज्ञानसे क्षायोपशमिकज्ञानके नाशके समान है। (४) जैनशास्त्रमें मुख्यतया मोहको ही बन्ध या—संसारका हेतु माना है। योगवाशिष्ठमें + वही

---

* "अज्ञानात्प्रसृता यस्मा,-ज्जगत्पर्णपरम्पराः।
यस्मिंस्तिष्ठन्ति राजन्ते, विशन्ति विलसन्ति च ॥५३॥"
"आपातमात्रमधुरत्वमनर्थसत्त्व,-माद्यन्तवत्त्वमखिलस्थितिभङ्गुरत्वम्।
अज्ञानशाखिन इति प्रसृतानि राम,-नानाकृतीनि विपुलानि फलानि तानि॥
॥६१॥ पूर्वार्द्ध, सर्ग ६,

† "जन्मपर्वाहिना रन्ध्रा, विनाशच्छिद्रचञ्चुरा।
भोगाभोगरसापूर्णा, विचारैकघुणक्षता ॥११॥"
सर्ग ८।

‡ "मिथःस्वान्ते तयोरन्त,-श्छायातपनयोरिव।
अविद्यायां विलीनायां, क्षीणे द्वे एव कल्पने ॥२३॥
एते राघव लीयेते, अवाप्यं परिशिष्यते।
अविद्यासंक्षयात् क्षीणो, विद्यापक्षोऽपि राघव ॥२४॥"
सर्ग ९।

+ "अविद्या संसृतिर्बन्धो, माया मोहो महत्तमः।
कल्पितानीति नामानि, यस्याः सकलवेदिभिः ॥२०॥"

बात रूपान्तरसे कही गई है। उसमें जो दृश्यके अस्तित्वको बन्धका कारण कहा है; उसका तात्पर्य दृश्यके अभिमान या अध्याससे है। (५) जैसे, जैनशास्त्रमें ग्रन्थिभेदका वर्णन है वैसे ही योगवाशिष्ठमें * भी है। (६) वैदिक ग्रन्थोंका यह वर्णन कि ब्रह्म, मायाके संसर्गसे जीवत्व धारण करता है और मनके संसर्गसे संकल्प-विकल्पात्मक ऐन्द्रजालिक सृष्टि रचता है; तथा स्थावरजङ्गमात्मक जगत्का कल्पके अन्तमें नाश होता है †, इत्यादि बातोंकी संगति जैनशास्त्रके अनुसार इस प्रकार की जा सकती है। आत्माका अव्यवहार-राशिसे व्यवहारराशिमें आना ब्रह्मका जीवत्व धारण करना है।

"द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताऽङ्ग,-बन्ध इत्यभिधीयते।
द्रष्टा दृश्यबलाद्बद्धो, दृश्याऽभावे विमुच्यते ॥२२॥"
—उत्पत्ति-प्रकरण, स० १।

"तस्माच्चित्तविकल्पस्थ,-पिशाचो बालकं यथा।
विनिहन्त्येवमेषान्त,-र्द्रष्टारं दृश्यरूपिका ॥३८॥"
—उत्पत्ति-प्र० स० ३।

* ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेद,-स्तस्मिन् सति हि मुक्तता।
मृगतृष्णाम्बुबुद्ध्यादि,-शान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ ॥२३॥"
—उत्पत्ति-प्रकरण, स० ११८

† "ततस्वयं स्वैरमेवाशु, संकल्पयति नित्यशः।
तेनेत्थमिन्द्रजालश्री,-र्विततेयं वितन्यते ॥१६॥"
"यदिदं दृश्यते सर्वं, जगत्स्थावरजङ्गमम्।
तत्सुषुप्ताविव स्वप्नः, कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥१०॥"
—उत्पत्ति-प्रकरण, स० १।

स तथाभूत एवात्मा, स्वयमन्य इवोल्लसन्।
जीवतामुपयातीव, भाविनाम्ना कदर्थिताम् ॥१३॥"

क्रमशः सूक्ष्म तथा स्थूल मनद्वारा संश्रित्व प्राप्त करके कल्पना-जालमें आत्माका विचरण करना संकल्प-विकल्पात्मक ऐन्द्रजालिक सृष्टि है। शुद्ध आत्म-स्वरूप व्यक्त होनेपर सांसारिक पर्यायोंका नाश होना ही कल्पके अन्तमें स्थावर-जङ्गमात्मक जगत्का नाश है आत्मा अपनी सत्ता भूलकर जड़-सत्ताको स्वसत्ता मानता है, जो अहंत्व-ममत्व भावनारूप मोहनीयका उदय और बन्धका कारण है। वही अहंत्व-ममत्व भावना वैदिक वर्णन-शैलीके अनुसार बन्धहेतु-भूत दृश्य सत्ता है। उत्पत्ति, वृद्धि, विकास, स्वर्ग, नरक आदि जो जीवकी अवस्थाएँ वैदिक ग्रन्थोंमें वर्णित * हैं, वे ही जैन-दृष्टिके अनुसार व्यवहार-राशि-गत जीवके पर्याय हैं। (७) योगवाशिष्ठमें † स्वरूप-स्थितिको ज्ञानीका और स्वरूप-भ्रंशको अज्ञानीका लक्षण माना है। जैनशास्त्रमें भी सम्यक्ज्ञानका और मिथ्यादृष्टिका क्रमशः वही स्वरूप ‡ बतलाया है। (८) योगवाशिष्ठमें + जो सम्यक्ज्ञानका लक्षण

---

* "उत्पद्यते यो जगति, स एव किल वर्धते।
स एव मोक्षमाप्नोति, स्वर्गं वा नरकं च वा ॥७॥"
उत्पत्ति-प्रकरण, स० १।

† "स्वरूपावस्थितिर्मुक्ति,-स्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम्।
एतत् संक्षेपतः प्रोक्तं, तज्ज्ञत्वाज्ञत्वलक्षणम् ॥५॥"
—उत्पत्ति-प्रकरण, स० ११७।

‡ अहं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।
अयमेव हि नञ्पूर्वः, प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित् ॥१॥"
—ज्ञानसार, मोहाष्टक।

स्वभावलाभसंस्कार,-कारणं ज्ञानमिष्यते।
ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्य,-त्तथा चोक्तं महात्मना ॥३॥"
—ज्ञानसार, ज्ञानाष्टक।

+ "अनाद्यन्तावभासात्मा, परमात्मेह विद्यते।

है, वह जैनशास्त्रके अनुकूल है। (९) जैनशास्त्रमें सम्यक् दर्शनकी प्राप्ति, (१) स्वभाव और (२) बाह्य निमित्त, इन दो प्रकारसे बतलाई है *। योगवाशिष्ठमें भी ज्ञान प्राप्तिका वैसा ही क्रम सूचित किया † है। (१०) जैनशास्त्रके चौदह गुणस्थानोंके स्थानमें चौदह भूमिकाओंका वर्णन योगवाशिष्ठमें ‡ बहुत रुचिकर व विस्तृत है। सात भूमि-

---

इत्यंको निश्चयःस्फारः सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥२॥"

—उपशम-प्रकरण, स० ७९।

*"तन्निसर्गादधिगमाद् वा।"

—तत्त्वार्थ-अ० १, सू०३।

† "एकस्तावद्गुरुप्रोक्ता,-दनुष्ठानाच्छनैःशनैः।
जन्मना जन्मभिर्वापि, सिद्धिदः समुदाहृतः ॥३॥
द्वितीयस्त्वात्मनैवाशु, किंचिद्व्युत्पन्नचेतसा।
भवति ज्ञानसंप्राप्ति,-राकाशफलपातवत् ॥४॥"

—उपशम-प्रकरण, स० ७।

‡ "अज्ञानभूः सप्तपदा, ज्ञभूः सप्तपदैव हि।
पदान्तराण्यसंख्यानि, भवन्त्यन्यान्यथैतयोः ॥२॥"
"तत्रारोपितमज्ञानं, तस्य भूमीरिमाः शृणु।
बीजजाग्रत्तथाजाग्रन्, महाजाग्रत्तथैव च ॥११॥
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः, स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तकम्।
इति सप्तविधो मोहः, पुनरेव परस्परम् ॥१२॥
श्लिष्टो भवत्यनेकाख्यः, शृणु लक्षणमस्य च।
प्रथमे चेतनं यत्स्या,-दनाख्यं निर्मलं चितः ॥१३॥
भविष्यच्चित्तजीवादि,-नामशब्दार्थभाजनम्।
बीजरूपं स्थितं जाग्रत्, बीजजाग्रत्तदुच्यते ॥१४॥

काएँ ज्ञानकी और सात अज्ञानकी बतलाई हुई हैं, जो जैन-परिभाषाके

एषा ज्ञप्तेर्नवावस्था, त्वं जाग्रत्संसृतिं शृणु ।
नवप्रसूतस्य परा-दयं चाहमिदं मम ॥१५॥
इति यः प्रत्ययः स्वस्थ,-स्तज्जाग्रत्प्रागभावनात् ।
अयं सोऽहमिदं तन्म, इति जन्मान्तरोदितः ॥१६॥
पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो, महाजाग्रदिति स्फुरन् ।
अरूढमथवा रूढं, सर्वथा तन्मयात्मकम् ॥१७॥
यज्जाग्रतो मनोराज्यं, जाग्रत्स्वप्नः स उच्यते ।
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्य,-मृगतृष्णादिभेदतः ॥१८॥
अभ्यासात्प्राप्य जाग्रत्त्वं, स्वप्नोऽनेकविधो भवेत् ।
अल्पकालं मया दृष्टं, एवं नो सत्यमित्यपि ॥१९॥
निद्राकालानुभूतेऽर्थे, निद्रान्ते प्रत्ययो हि यः ।
स स्वप्नः कथितस्तस्य, महाजाग्रत्स्थितेर्हृदि ॥२०॥
चिरसंदर्शनाभावा-दप्रफुल्लबृहद् वपुः ।
स्वप्नो जाग्रत्तयारूढो, महाजाग्रत्पदं गतः ॥२१॥
अक्षते वा क्षते देहे, स्वप्नजाग्रन्मतं हि तत् ।
षडवस्थापरित्यागे, जडा जीवस्य या स्थितिः ॥२२॥
भविष्यदुःखबोधाढ्या, सौषुप्ती सोच्यते गतिः ।
एते तस्यामवस्थाया, तृणलोष्ठशिलादयः ॥ २३ ॥
पदार्थाः संस्थिताः सर्वे, परमाणुप्रमाणिनः ।
सप्तावस्था इति प्रोक्ता, मयाऽज्ञानस्य राघव ॥ २४ ॥"

उत्पत्ति–प्रकरण स० ११७ ।

"ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या, प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितीया तु, तृतीया तनुमानसा ॥ ५ ॥

अनुसार क्रमशः मिथ्यात्वकी और सम्यक्त्वकी अवस्थाकी सूचक हैं। (११) योगवाशिष्ठमें तत्त्वज्ञ, समदृष्टि, पूर्णाशय और मुक्त पुरुषका

सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्या,-त्ततो संसक्तिनामिका ।
पदार्थाभावनी षष्ठी, सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ ६ ॥
आसामन्त स्थिता मुक्ति,-स्तस्यां भूयो न शोच्यते ।
एतासां भूमिकानां त्व,-मिदं निर्वचनं शृणु ॥ ७ ॥
स्थितः किं मूढ एवास्मि, प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति, शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥ ८ ॥
शास्त्रसज्जनसंपर्क -वैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या, प्रोच्यते सा विचारणा ॥ ९ ॥
विचारणा शुभेच्छाभ्या,-मिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।
यत्र सा तनुताभावा,-त्प्रोच्यते तनुमानसा ॥१०॥
भूमिकात्रितयाभ्यासा,-च्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे, सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥११॥
दशाचतुष्टयाभ्यासा,-दसंसंगफलेन च ।
रूढसत्त्वचमत्कारा,-त्प्रोक्ता संसक्तिनामिका ॥१२॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासा,-त्स्वात्मारामतया दृढम् ।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां, पदार्थानामभावनात् ॥१३॥
परप्रयुक्तेन चिरं, प्रयत्नेनार्थभावनात् ।
पदार्थाभावना नाम्नी, षष्ठी संजायते गतिः ॥१४॥
भूमिषट्कचिराभ्यासा,-द्भेदस्यानुपलम्भतः ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं, सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥१५॥"

उत्पत्ति-प्रकरण, स० ११८।

जो वर्णन * है, वह जैन-संकेतानुसार चतुर्थ आदि गुणस्थानोंमें स्थित आत्माको लागू पड़ता है। जैनशास्त्रमें जो ज्ञानका महत्त्व वर्णित † है,

---

* योग० निर्वाण-प्र०, स० १७०; निर्वाण-प्र० उ, स० ११९।
योग० स्थिति-प्रकरण, स० ५७; निर्वाण-प्र० स० १९९।

† "जागर्ति ज्ञानदृष्टिश्चे, त्तृष्णा कृष्णाऽहिजाङ्गुली।
पूर्णानन्दस्य तत्किं स्या,-द्दैन्यवृश्चिकवेदना ॥ ४ ॥"

–ज्ञानसार, पूर्णताष्टक

"अस्ति चेद्ग्रन्थिभिद् ज्ञानं, किं चित्रैस्तन्त्रयन्त्रणैः।
प्रदीपाः क्वोपयुज्यन्ते, तमोघ्नी दृष्टिरेव चेत् ॥ ६ ॥
मिथ्यात्वशैलपक्षच्छिद्, ज्ञानदम्भोलिशोभितः।
निर्भयः शक्रवद्योगी, नन्दत्यानन्दनन्दने ॥ ७ ॥
पीयूषमसमुद्रोत्थं, रसायनमनौषधम्।
अनन्यापेक्षमैश्वर्यं, ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥ ८ ॥"

ज्ञानसार, ज्ञानाष्टक

"संसारे निवसन् स्वार्थ,-सज्जः कज्जलवेश्मनि।
लिप्यते निखिलो लोको, ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ॥ १ ॥
नाहं पुद्गलभावानां, कर्त्ता कारयिता च।
नानुमन्तापि चेत्यात्म,-ज्ञानवान् लिप्यते कथम् ॥ २ ॥
लिप्यते पुद्गलस्कन्धो, न लिप्ये पुद्गलैरहम्।
चित्रव्योमाञ्जनेनेव, ध्यायन्निति न लिप्यते ॥ ३ ॥
लिप्तताज्ञानसंपात,-प्रतिघाताय केवलम्।
निर्लेपज्ञानमग्नस्य, क्रिया सर्वोपयुज्यते ॥ ४ ॥

तपःश्रुतादिना मत्तः, क्रियावानपि लिप्यते ।
भावनाज्ञानसंपन्नो, निष्क्रियोऽपि न लिप्यते ॥ ५ ॥"

ज्ञानसार, निर्लेपाष्टक ।

"छिन्दन्ति ज्ञानदात्रेण, स्पृहाविषलतां बुधाः ।
मुखशोषं च मूर्च्छां च, दैन्यं यच्छति यत्फलम् ॥ ३ ॥"

ज्ञानसार, निःस्पृहाष्टक ।

"मिथोयुक्तपदार्थाना,-मसंक्रमचमत्क्रिया ।
चिन्मात्रपरिणामेन, विदुषैवानुभूयते ॥ ७ ॥
अविद्यातिमिरध्वंसे, दृशा विद्याञ्जनस्पृशा ।
पश्यन्ति परमात्मान,-मात्मन्येव हि योगिनः ॥ ८ ॥"

ज्ञानसार, विद्याष्टक ।

"भवसौख्येन किं भूरि, भयज्वलनभस्मना ।
सदा भयोज्झितं ज्ञान,-सुखमेव विशिष्यते ॥ २ ॥
न गोप्यं क्वापि नारोप्यं, हेयं देयं च न क्वचित् ।
क्व भयेन मुनेः स्थेयं, ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यतः ॥ ३ ॥
एकं ब्रह्मास्त्रमादाय, निघ्नन्मोहचमूं मुनिः ।
बिभेति नैव संग्राम,-शीर्षस्थ इव नागराट् ॥ ४ ॥
मयूरी ज्ञानदृष्टिश्चे,-त्प्रसर्पति मनोवने ।
वेष्टनं भयसर्पाणां, न तदाऽऽनन्दचन्दने ॥ ५ ॥
कृतमोहास्त्रवैफल्यं, ज्ञानवर्म बिभर्ति यः ।
क्व भीस्तस्य क्व वा भङ्गः, कर्मसंगरकेलिषु ॥ ६ ॥
तूलवल्लघवो मूढा, भ्रमन्त्यभ्रे भयानिलैः ।
नैकं रोमापि तैर्ज्ञान,-गरिष्ठानां तु कम्पते ॥ ७ ॥

वही योगवाशिष्ठमें प्रज्ञामाहात्म्यके नामसे उल्लिखित है * ।

चित्ते परिणतं यस्य, चारित्रमकुतोभयम् ।
अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो भयम् ॥ ८ ॥"

ज्ञानसार, निर्भयाष्टक ।

"अदृष्टार्थेतु धावन्तः, शास्त्रदीपं विना जडाः ।
प्राप्नुवन्ति परं खेदं, प्रस्खलन्तः पदे पदे ॥ ५ ॥

"अज्ञानाहिमहामन्त्रं, स्वाच्छन्द्यज्वरलङ्घनम् ।
धर्मारामसुधाकुल्यां, शास्त्रमाहुर्महर्षयः ॥ ७ ॥

शास्त्रोक्ताचारकर्त्ता च, शास्त्रज्ञः शास्त्रदेशकः ।
शास्त्रैकदृग् महायोगी, प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ८ ॥"

ज्ञानसार, शास्त्राष्टक ।

"ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः, कर्मणां तापनात्तपः ।
तदाभ्यन्तरमेवेष्टं, बाह्यं तदुपबृंहकम् ॥ १ ॥

आनुस्रोतसिकी वृत्ति,-र्बालानां सुखशीलता ।
प्रातिस्रोतसिकी वृत्ति,-र्ज्ञानिनां परमं तपः ॥ २ ॥"

"सदुपायप्रवृत्ताना,-मुपेयमधुरत्वतः ।
ज्ञानिनां नित्यमानन्द,-वृद्धिरेव तपस्विनाम् ॥ ४ ॥"

ज्ञानसार, तपोष्टक ।

*"न तद्गुरोर्न शास्त्रार्था,-न्न पुण्यात्प्राप्यते पदम् ।
यत्साधुसङ्गाभ्युदिता,-द्विचारविशदाद्धृदः ॥ १७ ॥

सुन्दर्या निजया बुद्ध्या, प्रज्ञयेव वयस्यया ।
पदमासाद्यते राम, न नाम क्रिययाऽन्यया ॥ १८ ॥

यस्योज्ज्वलति तीक्ष्णाग्रा, पूर्वापरविचारिणी ।
प्रज्ञादीपशिखा जातु, जाड्यान्ध्यं तं न बाधते ॥१९॥
दुरुत्तरा या विपदो, दुःखकल्लोलसंकुलाः ।
तीर्यते प्रज्ञया ताभ्यो, नावाऽपद्भ्यो महामते ॥२०॥
प्रज्ञाविरहितं मूढ,-मापदल्पापि बाधते ।
पेलवाचानिलकला, सारहीनामिवोलपम् ॥२१॥"
"प्रज्ञावानसहोऽपि,-कार्यान्तमाधिगच्छति ।
दुष्प्रज्ञः कार्यमासाद्य, प्रधानमपि नश्यति ॥२३॥
शास्त्रसज्जनसंसर्गैः प्रज्ञां पूर्वं विवर्धयेत् ।
सेकसंरक्षणारम्भैः, फलप्राप्तौ लतामिव ॥२४॥
प्रज्ञाबलबृहन्मूलः, काले सत्कार्यपादपः ।
फलं फलत्यतिस्वादु भासोर्बिम्बमिवैन्दवम् ॥२५॥
य एव यत्नः क्रियते, बाह्यार्थोपार्जने जनैः ।
स एव यत्नः कर्तव्यः, पूर्वं प्रज्ञाविवर्धने ॥२६॥
सीमान्तं सर्वदुःखाना,-मापदां कोशमुत्तमम् ।
बीजं संसारवृक्षाणां, प्रज्ञामान्द्यं विनाशयेत् ॥२७॥
स्वर्गाद्यद्यच्च पाताला,-द्राज्याद्यत्समवाप्यते ।
तत्समासाद्यते सर्वं, प्रज्ञाकोशान्महात्मना ॥२८॥
प्रज्ञयोत्तीर्यते भीमा,-त्तस्मात्संसारसागरात् ।
न दानैर्न च वा तीर्थै,-स्तपसा न च राघव ॥२९॥
यत्प्राप्ताः संपदं दैवी,-मपि भूमिचरा नराः ।
प्रज्ञापुण्यलतायास्त,-त्फलं स्वादु समुत्थितम् ॥३०॥

प्रज्ञया नखरालून,-मत्तवारणयूथपाः ।
जम्बुकैर्विजिताः सिंहा, सिंहैर्हरिणका इव ॥३१॥

सामान्यैरपि भूपत्वं, प्राप्तं प्रज्ञावशान्नरैः ।
स्वर्गापवर्गयोग्यत्वं प्राज्ञस्यैवेह दृश्यते ॥३२॥

प्रज्ञया वादिनः सर्वे स्वविकल्पविलासिनः ।
जयन्ति सुभटप्रख्या,-न्नरानप्यतिभीरवः ॥३३॥

चिन्तामणिरियं प्रज्ञा, हृत्कोशस्था विवेकिनः ।
फलं कल्पलतेवैषा, चिन्तितं सम्प्रयच्छति ॥३४॥

भव्यस्तरति संसारं, प्रज्ञयापोह्यतेऽधमः ।
शिक्षितः पारमाप्नोति, नावा नाप्नोत्यशिक्षितः ॥३५॥

धीः सम्यग्योजिता पार,-मसम्यग्योजिताऽऽपदम् ।
नरं नयति संसारे, भ्रमन्ती नौरिवार्णवे ॥३६॥

विवेकिनमसंमूढं, प्राज्ञमाशागणोत्थिताः ।
दोषा न परिबाधन्ते, सन्नद्धमिव सायकाः ॥३७॥

प्रज्ञयेह जगत्सर्वं, सम्यगेवाङ्ग दृश्यते ।
सम्यग्दर्शनमायान्ति, नापदो न च संपदः ॥३८॥

पिधानं परमार्कस्य, जडात्मा विततोऽसितः ।
अहंकाराम्बुदो मत्तः, प्रज्ञावातेन बाध्यते ॥३९॥"

उपशम-प्र०, प्रज्ञामाहात्म्य

योगसम्बन्धी विचार।

गुणस्थान और योग-के विचार में अन्तर क्या है? गुणस्थानके किंवा अज्ञान व ज्ञान-की भूमिकाओंके वर्णनसे यह ज्ञात होता है कि आत्माका आध्यात्मिक विकास किस क्रमसे होता है और योगके वर्णनसे यह ज्ञात होता है कि मोक्षका साधन क्या है। अर्थात् गुण-स्थानमें आध्यात्मिक विकासके क्रमका विचार मुख्य है और योग-में मोक्षके साधनका विचार मुख्य है। इस प्रकार दोनोंका मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्व भिन्न-भिन्न होनेपर भी एकके विचारमें दूसरेकी छाया अवश्य आ जाती है, क्योंकि कोई भी आत्मा मोक्षके अन्तिम—अनन्तर या अव्यवहित—साधनको प्रथम ही प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु विकासके क्रमानुसार उत्तरोत्तर सम्भवित साधनोंको सोपान-परम्पराकी तरह प्राप्त करता हुआ अन्तमें चरम साधनको प्राप्त कर लेता है। अत एव योगके—मोक्षसाधनविषयक विचार-में आध्यात्मिक विकासके क्रमकी छाया आ ही जाती है। इसी तरह आध्यात्मिक विकास किस क्रमसे होता है, इसका विचार करते समय आत्माके शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम परिणाम, जो मोक्षके साधनभूत हैं, उनकी छाया भी आ ही जाती है। इसलिये गुणस्थानके वर्णन-प्रसङ्गमें योगका स्वरूप संक्षेपमें दिखा देना अप्रासङ्गिक नहीं है।

योग किसे कहते हैं?:—आत्माका जो धर्म-व्यापार मोक्षका मुख्य हेतु अर्थात् उपादानकारण तथा बिना विलम्बसे फल देने-वाला हो, उसे योग* कहते हैं। ऐसा व्यापार प्रणिधान आदि शुभ

* "मोक्षेण योजनादेव, योगो ह्यत्र निरुच्यते।
लक्षणं तेन तन्मुख्य,-हेतुव्यापारतास्य तु ॥१॥
—योगलक्षण द्वात्रिंशिका।

भाव या शुभभावपूर्वक की जानेवाली क्रिया * है। पातञ्जलदर्शनमें चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको योग † कहा है। उसका भी वही मतलब है, अर्थात् ऐसा निरोध मोक्षका मुख्य कारण है, क्योंकि उसके साथ कारण और कार्य-रूपसे शुभ भावका अवश्य सम्बन्ध होता है।

योगका आरम्भ कबसे होता है? :—आत्मा अनादि कालसे जन्म-मृत्यु-के प्रवाहमें पड़ा है और उसमें नाना प्रकारके व्यापारोंको करता रहता है। इसलिये यह प्रश्न पैदा होता है कि उसके व्यापार-को कबसे योगस्वरूप माना जाय ?। इसका उत्तर शास्त्रमें ‡ यह दिया गया है कि जब तक आत्मा मिथ्यात्वसे व्याप्त बुद्धिवाला, अत एव दिङ्मूढकी तरह उलटी दिशामें गति करनेवाला अर्थात् आत्म—लक्ष्यसे भ्रष्ट हो, तब तक उसका व्यापार प्रणिधान आदि शुभ-भाव

---

* "प्रणिधानं प्रवृत्तिश्च, तथा विघ्नजयस्त्रिधा।
सिद्धिश्च विनियोगश्च, एते कर्मशुभाशयाः ॥१०"
"एतैराशययोगैस्तु, विना धर्माय न क्रिया।
प्रत्युत प्रत्यपायाय, लोभक्रोधक्रिया यथा ॥१६॥"

—योगलक्षणद्वात्रिंशिका।

† "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।—पातञ्जलसूत्र, पा० १, सू० २।

‡ "मुख्यत्वं चान्तरङ्गत्वात, ऽत्फलाक्षेपाच्च दर्शितम्।
चरमे पुद्गलावर्ते, यत एतस्य संभवः ॥२॥
न सम्मार्गाभिमुख्यं स्या,-दावर्तेषु परेषु तु।
मिथ्यात्वच्छन्नबुद्धीनां, दिङ्मूढानामिवाङ्गिनाम् ॥३॥"

—योगलक्षणद्वात्रिंशिका।

रहित होनेके कारण योग नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत जबसे मिथ्यात्वका तिमिर कम होनेके कारण आत्माकी भ्रान्ति मिटने लगती है और उसकी गति सीधी अर्थात् सन्मार्गके अभिमुख हो जाती है, तभी से उसके व्यापारको प्रणिधान आदि शुभ-भाव सहित होनेके कारण 'योग' संज्ञा दी जा सकती है। सारांश यह है कि आत्माके अनादि सांसारिक कालके दो हिस्से हो जाते हैं। एक चरमपुद्गलपरावर्त्त और दूसरा अचरम पुद्गलपरावर्त कहा जाता है। चरमपुद्गलपरावर्त अनादि सांसारिक कालका आखिरी और बहुत छोटा अंश * है। अचरमपुद्गलपरावर्त उसका बहुत बड़ा भाग है; क्योंकि चरमपुद्गलपरावर्तको बाद करके अनादि सांसारिक काल, जो अनन्तकालचक्र-परिमाण है, वह सब अचरमपुद्गल-परावर्त कहलाता है। आत्माका सांसारिक काल, जब चरमपुद्गल-परावर्त-परिमाण बाकी रहता है, तब उसके ऊपरसे मिथ्यात्व-मोहका आवरण हटने लगता है। अत एव उसके परिणाम निर्मल होने लगते हैं और क्रिया भी निर्मल भावपूर्वक होती है। ऐसी क्रियासे भाव-शुद्धि और भी बढ़ती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर भाव-शुद्धि बढ़ते जानेके कारण चरमपुद्गलपरावर्तकालीन धर्म-व्यापार-को योग कहा है। अचरमपुद्गल परावर्त कालीन व्यापार न तो शुभ-भावपूर्वक होता है और न शुभ-भावका कारण ही होता है। इसलिये वह परम्परासे भी मोक्षके अनुकूल न होनेके सबब से योग नहीं कहा जाता। पातञ्जलदर्शनमें भी अनादि सांसारिक कालके निवृत्ताधिकार प्रकृति और अनिवृत्ताधिकार प्रकृति इस

---

* "चरमावर्तिनो जन्तोः, सिद्धेरासन्नता ध्रुवम्।
भूयांसोऽमी व्यतिक्रान्ता,-स्तेष्वेको बिन्दुरम्बुधौ ॥२८॥"
—मुक्त्यद्वेषप्राधान्यद्वात्रिंशिका।

प्रकार दो भेद बतलाये हैं, जो शास्त्रके चरम और अचरम-पुद्गलपरावर्तके जैन समानार्थक * हैं।

योगके भेद और उनका आधारः—

जैनशास्त्रमें † (१) अध्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता और (५) वृत्तिसंक्षय, ऐसे पाँच भेद योगके किये हैं। पातञ्जलदर्शनमें योगके (१) सम्प्रज्ञात और (२) असम्प्रज्ञात, ऐसे दो भेद ‡ हैं। जो मोक्षका साक्षात्—अव्यवहित कारण हो अर्थात् जिसके प्राप्त होनेके बाद तुरन्त ही मोक्ष हो, वही यथार्थमें योग कहा जा सकता है। ऐसा योग जैनशास्त्रके संकेतानुसार वृत्तिसंक्षय और पातञ्जलदर्शनके संकेतानुसार असम्प्रज्ञात ही है। अत एव यह प्रश्न होता है कि योगके जो इतने भेद किये जाते हैं, उनका आधार क्या है? इसका उत्तर यह है कि अलबत्ता वृत्तिसंक्षय किंवा असम्प्रज्ञात ही मोक्षका साक्षात् कारण होनेसे वास्तवमें योग है। तथापि वह योग किसी विकासगामी आत्माको पहले ही पहल प्राप्त नहीं होता, किन्तु इसके पहले विकास-क्रमके अनुसार ऐसे अनेक आन्तरिक धर्म-व्यापार करने पड़ते हैं, जो उत्तरोत्तर विकासको बढ़ानेवाले और अन्तमें उस वास्तविक योग तक पहुँचानेवाले होते हैं। वे सब धर्म—व्यापार योगके कारण होनेसे अर्थात् वृत्तिसंक्षय या असम्प्रज्ञात

---

* "योजनाद्योग इत्युक्तो, मोक्षेण मुनिसत्तमैः।
स निवृत्ताधिकारायां, प्रकृतौ लेशतो ध्रुवः ॥१४॥"
—अपुनर्बन्धद्वात्रिंशिका।

† "अध्यात्मं भावना ध्यानं, समता वृत्तिसंक्षयः।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तो, योगमार्गविशारदैः ॥१॥"
—योगभेदद्वात्रिंशिका।

‡ देखिये, पाद १, सूत्र १७ और १८।

योगके साक्षात् किंवा परम्परासे हेतु होनेसे योग कहे जाते हैं। सारांश यह है कि योगके भेदोंका आधार विकासका क्रम है। यदि विकास क्रमिक न होकर एक ही बार पूर्णतया प्राप्त हो जाता तो योगके भेद नहीं किये जाते। अत एव वृत्तिसंक्षय जो मोक्षका साक्षात् कारण है, उसको प्रधान योग समझना चाहिये और उसके पहलेके जो अनेक धर्म-व्यापार योगकोटिमें गिने जाते हैं, वे प्रधान योगके कारण होनेसे योग कहे जाते हैं। इन सब व्यापारोंकी समष्टिको पातञ्जलदर्शनमें सम्प्रज्ञात कहा है और जैन-शास्त्रमें शुद्धिके तर-तम-भावानुसार उस समष्टिके अध्यात्म आदि चार भेद किये हैं। वृत्तिसंक्षयके प्रति साक्षात् किंवा परम्परासे कारण होनेवाले व्यापारोंको जब योग कहा गया, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि वे पूर्वभावी व्यापार कबसे लेने चाहिये। किन्तु इसका उत्तर पहले ही दिया गया है कि चरमपुद्गलपरावर्तकालसे जो व्यापार किये जाते हैं, वे ही योगकोटिमें गिने जाने चाहिये। इसका सबब यह है कि सहकारी निमित्त मिलते ही, वे सब व्यापार मोक्षके अनुकूल अर्थात् धर्म-व्यापार हो जाते हैं। इसके विपरीत कितने ही सहकारी कारण क्यों न मिलें, पर अचरमपुद्गलपरावर्त्त-कालीन व्यापार मोक्षके अनुकूल नहीं होते।

योगके उपाय और गुणस्थानोंमें योगावतार :—

पातञ्जलदर्शनमें (१) अभ्यास और (२) वैराग्य, ये दो उपाय योगके बतलाये हुए हैं। उसमें वैराग्य भी पर-अपर-रूपसे दो प्रकारका कहा गया है *। योगका कारण होनेसे वैराग्यको योग मानकर जैन-शास्त्रमें अपर-वैराग्यको अतात्त्विक धर्मसंन्यास और परवैराग्यको ता-

* देखिये, पाद, १, सूत्र १२, १५ और १६।

त्विक धर्मसंन्यासयोग कहा* है। जैन-शास्त्रमें योगका आरम्भ पूर्व-सेवासे माना गया † है। पूर्वसेवासे अध्यात्म, अध्यात्मसे भावना, भावनासे ध्यान तथा समता, ध्यान तथा समतासे वृत्तिसंक्षय और वृत्तिसंक्षयसे मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिये वृत्तिसंक्षय ही मुख्य योग है और पूर्व सेवासे लेकर समता पर्यन्त सभी धर्म-व्यापार साक्षात् किंवा परम्परासे योगके उपायमात्र ‡ हैं। अपुनर्बन्धक, जो मिथ्यात्वको त्यागनेकेलिये तत्पर और सम्यक्त्व-प्राप्तिके अभिमुख होता है, उसको पूर्वसेवा तात्त्विकरूपसे होती है और सकृद्बन्धक, द्विर्बन्धक आदिको पूर्वसेवा अतात्त्विक होती है। अध्यात्म और भावना अपुनर्बन्धक तथा सम्यग्दृष्टिको व्यवहार-नयसे तात्त्विक और देश-विरति तथा सर्व-विरतिको निश्चयनयसे तात्त्विक होते हैं। अप्रमत्त, सर्वविरति आदि गुणस्थानोंमें ध्यान तथा समता उत्तरोत्तर तात्त्विकरूपसे होते हैं। वृत्तिसंक्षय तेर-

* "विषयदोषदर्शनजनितभयात् धर्मसंन्यासलक्षणं प्रथमम्, स तत्त्वचिन्तया विषयौदासीन्येन जनितं द्वितीयापूर्वकरणभावि-तात्त्विकधर्मसंन्यासलक्षणं द्वितीयं वैराग्यं, यत्र क्षायोपशमिका धर्मा अपि क्षीयन्ते क्षायिकाश्चोत्पद्यन्ते इत्यस्माकं सिद्धान्तः।"
—श्रीयशोविजयजी-कृत पातञ्जल-दर्शनवृत्ति, पाद १०, सूत्र १६।

† "पूर्वसेवा तु योगस्य, गुरुदेवादिपूजनम्।
सदाचारस्तपो मुक्त्य,-द्वेषश्चेति प्रकीर्तिता ॥१॥"
—पूर्वसेवाद्वात्रिंशिका।

‡ "उपायत्वेऽत्र पूर्वेषा,-मन्त्य एवावशिष्यते।
तत्पञ्चमगुणस्थाना,-दुपायोऽर्वागिति स्थितिः ॥३१॥"
—योगभेदद्वात्रिंशिका।

हवें और चौदहवें गुणस्थानमें होता* है। सम्प्रज्ञातयोग अध्यात्मसे लेकर ध्यान पर्यन्तके चारों भेदस्वरूप है और असम्प्रज्ञातयोग वृत्तिसंक्षयरूप है। इसलिये चौथेसे बारहवें गुणस्थानतकमें सम्प्रज्ञातयोग और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानमें असम्प्रज्ञातयोग समझना चाहिए †।

*"शुक्लपक्षेन्दुवत्प्रायो वर्धमानगुणः स्मृतः।
भवाभिनन्ददोषाणा,-मपुनर्बन्धको व्यये ॥ १ ॥
अस्यैव पूर्वसेवोक्ता, मुख्याऽन्यस्योपचारतः।
अस्यावस्थान्तरं मार्ग,-पतिताभिमुखौ पुनः ॥ २ ॥"

—अपुनर्बन्धकद्वात्रिंशिका।

"अपुनर्बन्धकस्यायं, व्यवहारेण तात्त्विकः
अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥१४॥
सकृदावर्तनादीना,-मतात्त्विक उदाहृतः।
प्रत्यपायफलप्राय,-स्तथा वेषादिमात्रतः ॥१५॥
शुद्ध्यपेक्षा यथायोगं, चारित्रवत एव च।
हन्त ध्यानादिको योग,-स्तात्त्विकः प्रविजृम्भते ॥१६॥"

—योगविवेकद्वात्रिंशिका।

†"संप्रज्ञातोऽवतरति, ध्यानभेदेऽत्र तत्त्वतः।
तात्त्विकी च समापत्ति,-र्नात्मनो भाव्यतां विना ॥१५॥
"असम्प्रज्ञातनामा तु, संमतो वृत्तिसंक्षयः ॥
सर्वतोऽस्मादकरण,-नियमः पापगोचरः ॥२१॥"

—योगावतारद्वात्रिंशिका।

पूर्वसेवा आदि शब्दोंकी व्याख्याः—

[१] गुरु, देव आदि पूज्यवर्गका पूजन, सदाचार, तप और मुक्तिके प्रति अद्वेष, यह 'पूर्वसेवा' कहलाती है। [२] उचित प्रवृत्तिरूप अणुव्रत-महाव्रत-युक्त होकर मैत्री आदि भावनापूर्वक जो शास्त्रानुसार तत्त्व-चिन्तन करना, वह 'अध्यात्म'* है। [३] अध्यात्मका बुद्धिसंगत अधिकाधिक अभ्यास ही 'भावना' † है। [४] अन्य विषयके संचारसे रहित जो किसी एक विषयका धारावाही प्रशस्त सूक्ष्मबोध हो, वह 'ध्यान' ‡ है। [५] अविद्यासे कल्पित जो इष्ट-अनिष्ट वस्तुएँ हैं, उनमें विवेकपूर्वक तत्त्व-बुद्धि करना अर्थात् इष्टत्व-अनिष्टत्वकी भावना छोड़कर उपेक्षा धारण करना 'समता' + है। [६] मन और शरीरके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली विकल्परूप तथा चेष्टारूप वृत्तियोंका निर्मूल नाश करना 'वृत्तिसंक्षय' × है।

---

*"औचित्याद्व्रतयुक्तस्य, वचनात्तत्त्वचिन्तनम् ।
मैत्र्यादिभावसंयुक्त,-मध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥ २ ॥"
—योगभेदद्वात्रिंशिका।

†"अभ्यासो वृद्धिमानस्य, भावना बुद्धिसंगतः ।
निवृत्तिरशुभाभ्यासा,-द्भाववृद्धिश्च तत्फलम् ॥ ९ ॥"
—योगभेदद्वात्रिंशिका।

‡"उपयोगे विजातीय,-प्रत्ययाव्यवधानभाक् ।
शुभैकप्रत्ययो ध्यानं, सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ॥११॥"
—योगभेदद्वात्रिंशिका।

+"व्यवहारकुदृष्टयोच्चै,-रिष्टानिष्टेषु वस्तुषु ।
कल्पितेषु विवेकेन, तत्त्वधीः समतोच्यते ॥२२॥"
—योगभेदद्वात्रिंशिका।

×"विकल्पस्पन्दरूपाणां, वृत्तीनामन्यजन्मनाम् ।
अपुनर्भावतो रोधः, प्रोच्यते वृत्तिसंक्षयः ॥२५॥"
—योगभेदद्वात्रिंशिका।

उपाध्याय श्रीयशोविजयजीने अपनी पातञ्जलसूत्रवृत्तिमें वृत्तिसंक्षय शब्दकी उक्त व्याख्याकी अपेक्षा अधिक विस्तृत व्याख्या की है। इसमें वृत्तिका अर्थात् कर्मसंयोगकी योग्यताका संक्षय—ह्रास, जो ग्रन्थिभेदसे शुरू होकर चौदहवें गुणस्थानमें समाप्त होता है, उसीको वृत्तिसंक्षय कहा है और शुक्लध्यानके पहले दो भेदोंमें सम्प्रज्ञातका तथा अन्तिम दो भेदोंमें असम्प्रज्ञातका समावेश किया* है।

योगजन्य विभूतियाँ:—

योगसे होनेवाली ज्ञान, मनोबल, वचनबल, शरीरबल आदि सम्बन्धिनी अनेक विभूतियोंका वर्णन पातञ्जल-दर्शनमें† है। जैन-शास्त्रमें वैक्रियलब्धि, आहारकलब्धि, अवधिज्ञान, मनःपर्याय-ज्ञान आदि सिद्धियाँ ‡ वर्णित हैं, सो योगका ही फल हैं।

बौद्धदर्शनमें भी आत्माकी संसार, मोक्ष आदि अवस्थाएँ मानी हुई हैं। इसलिये उसमें आध्यात्मिक क्रमिक विकासका वर्णन होना स्वाभाविक है। स्वरूपोन्मुख होनेकी स्थितिसे लेकर स्वरूपकी परा-काष्ठा प्राप्त कर लेनेतककी स्थितिका वर्णन बौद्ध-ग्रन्थोंमें + है, जो

---

* "द्विविधोऽप्ययमध्यात्मभावनाध्यानसमतावृत्तिसंक्षयभेदेन पञ्च-धोक्तस्य योगस्य पञ्चमभेदेऽवतरति" इत्यादि।

—पाद १, सू० १८।

† देखिये, तीसरा विभूतिपाद।

‡ देखिये, आवश्यक-निर्युक्ति, गा० ६९ और ७०।

+ देखिये, प्रो० सि० वि० राजवाड़-सम्पादित मराठीभाषान्तरित मज्झिमनिकाय:—

सू०	पे०	सू०	पे०	सू०	पे०	सू०	पे०
६.	२,	२२.	१५.	३४.	४,	४८.	१०।

पाँच विभागोंमें विभाजित है। इनके नाम इस प्रकार हैं:—[१] धर्मानुसारी, [२] सोतापन्न, [३] सकृदागामी, [४] अनागामी और [५] अरहा। [१] इनमेंसे 'धर्मानुसारी' या 'श्रद्धानुसारी' वह कहलाता है, जो निर्वाणमार्गके अर्थात् मोक्षमार्गके अभिमुख हो, पर उसे प्राप्त न हुआ हो। इसीको जैनशास्त्रमें 'मार्गानुसारी' कहा है और उसके पैंतीस गुण बतलाये हैं*। [२] मोक्षमार्गको प्राप्त किये हुए आत्माओंके विकासकी न्यूनाधिकताके कारण सोतापन्न आदि चार विभाग हैं। जो आत्मा अविनिपात, धर्मनियत और सम्बोधिपरायण हो, उसको 'सोतापन्न' कहते हैं। सोतापन्न आत्मा सातवें जन्ममें अवश्य निर्वाण पाता है। [३] 'सकृदागामी' उसे कहते हैं, जो एक ही बार इस लोकमें जन्म ग्रहण करके मोक्ष जानेवाला हो। [४] जो इस लोकमें जन्म ग्रहण न करके ब्रह्म लोकसे सीधे ही मोक्ष जानेवाला हो, वह 'अनागामी' कहलाता है। [५] जो सम्पूर्ण आस्रवोंका क्षय करके कृतकार्य हो जाता है, उसे 'अरहा' † कहते हैं।

धर्मानुसारी आदि उक्त पाँच अवस्थाओंका वर्णन मज्झिमनिकायमें बहुत स्पष्ट किया हुआ है। उसमें वर्णन ‡ किया है कि तत्कालजात वत्स, कुछ बड़ा किन्तु दुर्बल वत्स, प्रौढ़ वत्स, हलमें जोतने लायक बलवान् बैल और पूर्ण वृषभ जिस प्रकार उत्तरोत्तर अल्प-अल्प श्रमसे गङ्गा नदीके तिरछे प्रवाहको पार कर लेते हैं,

---

* देखिये, श्रीहेमचन्द्राचार्य-कृत योगशास्त्र, प्रकाश १।

† देखिये, प्रो० राजवाड़े-संपादित मराठीभाषान्तरित दीघनिकाय, पृ० १७६ टिप्पनी।

‡ देखिये, पृ० १५६।

वैसे ही धर्मानुसारी आदि उक्त पाँच प्रकारके आत्मा भी मार—कामके वेगको उत्तरोत्तर अल्प श्रमसे जीत सकते हैं।

बौद्ध-शास्त्रमें दस संयोजनाएँ—बन्धन वर्णित * हैं। इनमेंसे पाँच 'ओरंभागीय' और पाँच 'उड्ढंभागीय' कही जाती हैं। पहली तीन संयोजनाओंका क्षय हो जानेपर सोतापन्न-अवस्था प्राप्त होती है; इसके बाद राग, द्वेष और मोह शिथिल होनेसे सकदागामी-अवस्था प्राप्त होती है। पाँच ओरंभागीय संयोजनाओंका नाश हो जानेपर औपपत्तिक अनावृत्तिधर्मा किंवा अनागामी-अवस्था प्राप्त होती है और दसों संयोजनाओंका नाश हो जानेपर अरहा पद मिलता है। यह वर्णन जैनशास्त्र-गत कर्मप्रकृतियोंके क्षयके वर्णन-जैसा है। सोतापन्न आदि उक्त चार अवस्थाओंका विचार चौथेसे लेकर चौदहवेंतकके गुणस्थानोंके विचारोंसे मिलता-जुलता है अथवा यों कहिये कि उक्त चार अवस्थाएँ चतुर्थ आदि गुणस्थानोंका संक्षेपमात्र हैं।

जैसे जैन-शास्त्रमें लब्धिका तथा योगदर्शनमें योगविभूतिका वर्णन है, वैसे ही बौद्ध-शास्त्रमें भी आध्यात्मिक-विकास-कालीन सिद्धियोंका वर्णन है, जिनको उसमें 'अभिज्ञा' कहते हैं। ऐसी अभिज्ञाएँ छह हैं, जिनमें पाँच लौकिक और एक लोकोत्तर कही गयी † है।

---

* (१) सक्कायदिट्ठि, (२) विचिकच्छा, (३) सीलब्बत परामास, (४) कामराग, (५) पटीघ, (६) रूपराग, (७) अरूपराग, (८) मान, (९) उद्धच्च और (१०) अविज्जा। मराठीभाषान्तरित दीघनिकाय, पृ० १७५ टिप्पणी।

† देखिये,—मराठीभाषान्तरित मज्झिमनिकाय, पृ० १५६।

बौद्ध-शास्त्रमें बोधिसत्त्वका जो लक्षण * है, वही जैन-शास्त्रके अनुसार सम्यग्दृष्टिका लक्षण है। जो सम्यग्दृष्टि होता है, वह यदि गृहस्थके आरम्भ-समारम्भ आदि कार्योंमें प्रवृत्त होता है, तो भी उसकी वृत्ति तप्तलोहपदन्यासवत् अर्थात् गरम लोहेपर रक्खे जानेवाले पैरके समान सकम्प या पाप-भीरु होती है। बौद्ध-शास्त्रमें भी बोधिसत्त्वका वैसा ही स्वरूप मानकर उसे कायपाती अर्थात् शरीरमात्रसे [चित्तसे नहीं] सांसारिक प्रवृत्तिमें पड़नेवाला कहा है †। वह चित्तपाती नहीं होता।

इति।

---

* "कायपातिन एवेह, बोधिसत्त्वाः परोदितम्।
न चित्तपातिनस्ताव,-देतदत्रापि युक्तिमत् ॥२७१॥"
—योगबिन्दु।

† "एवं च यत्परैरुक्तं, बोधिसत्त्वस्य लक्षणम्।
विचार्यमाणं सन्नीत्या, तदप्यत्रोपपद्यते ॥ १० ॥
तप्तलोहपदन्यास,-तुल्यावृत्तिः क्वचिद्यदि।
इत्युक्तः कायपात्येव, चित्तपाती न स स्मृतः ॥ ११ ॥"
—सम्यग्दृष्टिद्वात्रिंशिका।



श्रीवीतरागाय नमः।

श्रीदेवेन्द्रसूरि-विरचित 'षडशीतिक' नामक

चौथा कर्मग्रन्थ।



मंगल और विषय।

नमिय जिणं जिअमग्गण,-गुणठाणुवओगजोगलेसाओ।
बंधप्पबहूभावे, संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥ १ ॥

नत्वा जिनं जीवमार्गणागुणस्थानोपयोगयोगलेश्याः।
बन्धाल्पबहुत्वभावान संख्येयादीन् किमपि वक्ष्ये ॥ १ ॥

अर्थ—श्रीजिनेश्वर भगवान्‌को नमस्कार करके जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, उपयोग, योग, लेश्या, बन्ध, अल्पबहुत्व, भाव और संख्या आदि विषयोंको मैं संक्षेपसे कहूँगा ॥ १ ॥

भावार्थ—इस गाथामें चौदह विषय संगृहीत हैं, जिनका विचार अनेक रीतिसे इस कर्मग्रन्थमें किया हुआ है। इनमेंसे जीवस्थान आदि दस विषयोंका कथन तो गाथामें स्पष्ट ही किया गया है, और उदय, उदीरणा, सत्ता, और बन्धहेतु, ये चार विषय 'बन्ध' शब्दसे सूचित किये गये हैं।

इस ग्रन्थके तीन विभाग हैं[1]:—(१) जीवस्थान, (२) मार्गणास्थान, और (३) गुणस्थान। पहले विभागमें जीवस्थानको लेकर आठ विषयका विचार किया गया है; यथाः—(१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा और (८) सत्ता। दूसरे विभागमें मार्गणास्थानपर छह विषयोंकी विवेचना की गई हैः—(१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या और (६) अल्पबहुत्व। तीसरे विभागमें गुणस्थानको लेकर बारह विषयोंका वर्णन किया गया हैः—(१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्धहेतु, (६) बन्ध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता, (१०) अल्पबहुत्व, (११) भाव और (१२) संख्यात आदि संख्या।

१—इन विषयोंकी संग्रह गाथायें ये हैं:—

"नमिय जिणं वत्तव्वा, चउदसजिअठाणएसु गुणठाणा ।
जोगुवओगो लेसा, बंधुदओदीरणा सत्ता ॥ १ ॥
तह मूलचउदमग्गण,–ठाणेसु बासट्ठि उत्तरेसुं च ।
जिअगुणजोगुवओगा, लेसप्पबहुं च छट्ठाणा ॥ २ ॥
चउदसगुणेसु जिअजो,-गुवओगलेसा प बंधहेऊ य ।
बंधाइचउअप्पा,–बहुं च तो भावसंखाई ॥ ३ ॥"

ये गाथायें श्रीजीवविजयजी-कृत और श्रीजयसोमसूरि-कृत टबेमें हैं। उनके स्थानमें पाठान्तरवाली निम्नलिखित तीन गाथायें प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ हारिभद्री टीका, श्रीदेवेन्द्रसूरि-कृत स्वोपज्ञ टीका और श्रीजयसोमसूरि- कृत टबेमें भी हैं:—

"चउदसजियठाणेसु, चउदसगुणठाणगाणि जोगा य ।
उवयोगलेसबंधुद,–ओदीरणसंत अट्ठपए ॥ १ ॥

जीवस्थान आदि विषयोंकी व्याख्या।

(१) जीवोंके सूक्ष्म, बादर आदि प्रकारों (भेदों) को 'जीवस्थान'[१] कहते हैं। द्रव्य और भाव प्राणोंको जो धारण करता है, वह 'जीव' है। पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु, ये दस द्रव्यप्राण हैं, क्योंकि वे जड़ और कर्म-जन्य हैं। ज्ञान, दर्शन आदि पर्याय, जो जीवके गुणोंके ही कार्य हैं, वे भावप्राण हैं। जीवकी यह व्याख्या संसारी अवस्थाको लेकर की गई है, क्योंकि जीवस्थानोंमें संसारी जीवोंका ही समावेश है; अत एव वह मुक्त जीवोंमें लागू नहीं पड़

चउदसमग्गणठाणे-सुमूलपएसु बिसट्ठि इयरेसु।
जियगुणजोगुवओगा, लेसप्पबहुं च छट्ठाणा ॥ २ ॥
चउदसगुणठाणेसुं, जियजोगुवओगलेसबंधा य।
बंधुदयुदीरणाओ, संतप्पबहुं च दस ठाणा ॥ ३ ॥"

१—जीवस्थानके अर्थमें 'जीवसमास' शब्दका प्रयोग भी दिगम्बरीय साहित्यमें मिलता। इसकी व्याख्या उसमें इस प्रकार है:—

'जेहिं अणेया जीवा, णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी।
ते पुण संगहिदत्था, जीवसमासा त्ति विण्णेया ॥७०॥
तसचदुजुगाणमज्झे, अविरुद्धेहिं जुदजादिकम्मुदये।
जीवसमासा होंति हु, तब्भवसारिच्छसामण्णा ॥७१॥"

—जीवकाण्ड।

जिन धर्मोंकेद्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक जातियोंका बोध होता है, वे 'जीवसमास' कहलाते हैं ॥७०॥ तथा त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक युगलमेंसे अविरुद्ध नामकर्म(जैसे-सूक्ष्मसे अविरुद्ध स्थावर)के उदयसे युक्त जाति नामकर्मका उदय होनेपर जो ऊर्ध्वतासामान्य, जीवोंमें होता है, वह 'जीवसमास' कहलाता है ॥ ७१ ॥

कालक्रमसे अनेक अवस्थाओंके होनेपर भी एक ही वस्तुका जो पूर्वापर सादृश्य देखा जाता है, वह 'ऊर्ध्वतासामान्य' है। इससे उलटा एक समयमें ही अनेक वस्तुओंकी जो परस्पर समानता देखी जाती है, वह 'तिर्यक्सामान्य' है।

सकती। मुक्त जीवमें निश्चय दृष्टिसे की हुई व्याख्या घटती है; जैसेः—जिसमें चेतना गुण है, वह 'जीव' इत्यादि है[1]।

(२) मार्गणाके अर्थात् गुणस्थान, योग, उपयोग आदिकी विचारणाके स्थानों (विषयों)को 'मार्गणास्थान' कहते हैं। जीवके गति, इन्द्रिय आदि अनेक प्रकारके पर्याय ही ऐसे स्थान हैं, इसलिये वे मार्गणास्थान कहलाते हैं[2]।

(३) ज्ञान, दर्शन, चरित्र आदि गुणोंकी शुद्धि तथा अशुद्धिके तरतम-भावसे होनेवाले जीवके भिन्न भिन्न स्वरूपोंको गुणस्थान[3] कहते हैं।

१—"तिक्काले चदु पाणा, इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो, णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥३॥"

—द्रव्यसंग्रह।

२—इस बातको गोम्मटसार-जीवकाण्डमें भी कहा है:—

"जाहि व जासु व जीवा, मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोदस जाणे, सुयणाणे मग्गणा होंति ॥१४०॥"

जिन पदार्थोंकेद्वारा अथवा जिन पर्यायोंमें जीवोंकी विचारणा, सर्वज्ञकी दृष्टिके अनुसार की जावे, वे पर्याय 'मार्गणास्थान' हैं।

गोम्मटसारमें 'विस्तार', 'आदेश' और 'विशेष', ये तीन शब्द मार्गणास्थानके नामान्तर माने गये हैं। —जीव०, गा० ३।

३—इसकी व्याख्या गोम्मटसार-जीवकाण्डमें इस प्रकार है:—

"जेहिं दु लक्खिज्जंते, उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा, णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥८॥"

दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीयके औदयिक आदि जिन भावों (पर्यायों)केद्वारा जीवका बोध होता है, वे भाव 'गुणस्थान' हैं।

गोम्मटसारमें 'संक्षेप,' 'ओघ,' 'सामान्य' और 'जीवसमास,' ये चार शब्द गुणस्थानके समानार्थक हैं। —जीव०, गा० ३ तथा १०।

जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान, ये सब जीवकी अवस्थायें हैं, तो भी इनमें अन्तर यह है कि जीवस्थान, जाति-नामकर्म, पर्याप्त-नामकर्म और अपर्याप्त-नामकर्मके औदयिक भाव हैं; मार्गणास्थान, नाम, मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और वेदनीयकर्मके औदयिक आदि भावरूप तथा पारिणामिक भावरूप हैं और गुणस्थान, सिर्फ मोहनीयकर्मके औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भावरूप तथा योगके भावाभावरूप हैं।

(४) चेतना-शक्तिका बोधरूप व्यापार, जो जीवका असाधारण स्वरूप है और जिसकेद्वारा वस्तुका सामान्य तथा विशेष स्वरूप जाना जाता है, उसे 'उपयोग' कहते हैं।[1]

(५) मन, वचन या कायकेद्वारा होनेवाला वीर्य-शक्तिका परिस्पन्द—आत्माके प्रदेशोंमें हलचल (कम्पन)—'योग' है।

(६) आत्माका सहजरूप स्फटिकके समान निर्मल है। उसके भिन्न भिन्न परिणाम जो कृष्ण, नील आदि अनेक रँगवाले पुद्गल-विशेषके असरसे होते हैं, उन्हें 'लेश्या' कहते हैं[3]।

(७) आत्माके प्रदेशोंके साथ कर्म-पुद्गलोंका जो दूध-पानीके समान सम्बन्ध होता है, वही 'बन्ध' कहलाता है। बन्ध, मिथ्यात्व आदि हेतुओंसे होता है।

१—गोम्मटसार-जीवकाण्डमें यही व्याख्या है।

"वत्थुनिमित्तं भावो, जादो जीवस्स जो दु उवजोगो।
सो दुविहो णायव्वो, सायारो चेव णायारो ॥६७१॥"

२—देखिये, परिशिष्ट 'क।'

३—"कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्परिणामोऽयमात्मनः।
स्फटिकस्येव तत्राऽयं, लेश्याशब्दः प्रवर्तते ॥"

यह एक प्राचीन श्लोक है। जिसे श्रीहरिभद्रसूरिने आवश्यक-टीका पृष्ठ ६४५/१ पर प्रमाणरूपसे लिया है।

(८) बँधे हुए कर्म-दलिकोंका विपाकानुभव (फलोदय) "उदय" कहलाता है। कभी तो विपाकानुभव, अबाधाकाल[1] पूर्ण होनेपर होता है और कभी नियत अबाधाकाल पूर्ण होनेके पहले ही अपवर्तना[2] आदि करणसे होता है।

(९) जिन कर्म-दलिकोंका उदयकाल न आया हो, उन्हें प्रयत्न-विशेषसे खींचकर—बन्धकालीन स्थितिसे हटाकर—उदयावलिकामें दाखिल करना 'उदीरणा' कहलाती है।

(१०) बन्धन[3] या संक्रमण[4] करणसे जो कर्म-पुद्गल, जिस कर्मरूप-में परिणत हुये हों, उनका, निर्जरा[5] या संक्रम[6]से रूपान्तर न होकर उस स्वरूपमें बना रहना 'सत्ता[7]' है।

१—बँधा हुआ कर्म जितने काल तक उदयमें नहीं आता, वह 'अबाधाकाल' है।

२—कर्म के पूर्व-बद्ध स्थिति और रस, जिस वीर्य-शक्तिसे घट जाते हैं, उसे 'अपवर्तना-करण' कहते हैं।

३—जिस वीर्य-विशेषसे कर्मका बन्ध होता है, वह 'बन्धनकरण' कहलाता है।

४—जिस वीर्य-विशेषसे एक कर्म का अन्य सजातीय कर्मरूपमें संक्रम होता है, वह 'संक्रमणकरण' है।

५—कर्म पुद्गलोंका आत्म-प्रदेशोंसे अलग होना 'निर्जरा' है।

६—एक कर्म-रूपमें स्थित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशका अन्य सजातीय कर्मरूपमें बदल जाना 'संक्रम' है।

७—बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ताके ये ही लक्षण यथाक्रमसे प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ-के भाष्यमें इस प्रकार हैः—

"जीवस्स पुग्गलाण य, जुग्गाण परुप्परं अभेएणं।
मिच्छाइहेउविहिया, जा घडणा इत्थ सो बंधो ॥ ३० ॥
करणेण सहावेण व, णिइवचए तेसिमुदयपत्ताणं।
जं वेयणं विवागे,—ण सो उ उदओ जिणाभिहिओ ॥३१॥

(११) मिथ्यात्व आदि जिन वैभाविक[1] परिणामोंसे कर्म-योग्य पुद्गल, कर्म-रूपमें परिणत हो जाते हैं, उन परिणामोंको 'बन्धहेतु' कहते हैं।

(१२) पदार्थोंके परस्पर न्यूनाधिक भावको 'अल्पबहुत्व' कहते हैं।

(१३) जीव और अजीवकी स्वाभाविक या वैभाविक अवस्था-को 'भाव' कहते हैं।

(१४) संख्यात, असंख्यात और अनन्त, ये तीनों पारिभाषिक संज्ञायें[3] हैं।

विषयोंके क्रमका अभिप्राय

सबसे पहले जीवस्थानका निर्देश इसलिये किया है कि यह सबमें मुख्य है, क्योंकि मार्गणास्थान आदि अन्य सब विषयोंका विचार जीवको लेकर ही किया जाता है। इसके बाद मार्गणास्थानके निर्देश करनेका मतलब यह है कि जीवके व्यावहारिक या पारमार्थिक स्वरूपका बोध किसी-न-किसी गति आदि पर्यायके (मार्गणास्थानके) द्वारा ही किया जा सकता है। मार्गणास्थानके पश्चात् गुणस्थानके निर्देश करनेका मतलब यह है कि जो जीव मार्गणास्थानवर्ती हैं, वे किसी-न-किसी गुणस्थानमें वर्तमान होते ही हैं।

कम्माणूणं जाए, करणविसेसेण ठिइवचयभावे।
जं उदयावलियाए, पवेसणमुदीरणा सेह॥ ३२॥
बंधणसंकमलद्ध,-त्तलाहकम्मस्सरूवअविणासो।
निज्जरणसंकमेहिं, सब्भावो जो य सा सत्ता॥ ३३॥"

१—आत्माके कर्मोदय-जन्य परिणाम 'वैभाविक परिणाम' हैं। जैसेः—क्रोध आदि।

२—देखिये, आगे गाथा ५१-५२।

३—देखिये, आगे गा० ७३ से आगे।

गुणस्थानके बाद उपयोगके निर्देशका तात्पर्य यह है कि जो उपयोगवान् हैं, उन्हींमें गुणस्थानोंका सम्भव है; उपयोग-शून्य आकाश आदिमें नहीं। उपयोगके अनन्तर योगके कथनका आशय यह है कि उपयोगवाले बिना योगके कर्म-ग्रहण नहीं कर सकते। जैसेः—सिद्ध। योगके पीछे लेश्याका कथन इस अभिप्रायसे किया है कि योगद्वारा ग्रहण किये गये कर्म-पुद्गलोंमें भी स्थितिबन्ध व अनुभागबन्धका निर्माण लेश्याहीसे होता है। लेश्याके पश्चात् बन्धके निर्देशका मतलब यह है कि जो जीव लेश्या-सहित हैं, वे ही कर्म बाँध सकते हैं। बन्धके बाद अल्पबहुत्वका कथन करनेसे ग्रन्थकारका तात्पर्य यह है कि बन्ध करनेवाले जीव, मार्गणास्थान आदिमें वर्तमान होते हुए आपसमें अवश्य न्यूनाधिक हुआ करते हैं। अल्पबहुत्वके अनन्तर भावके कहनेका मतलब यह है कि जो जीव अल्पबहुत्ववाले हैं, उनमें औपशमिक आदि किसी-न-किसी भावका होना पाया ही जाता है। भावके बाद संख्यात आदिके कहनेका तात्पर्य यह है कि भाववाले जीवोंका एक दूसरेसे जो अल्पबहुत्व है, उसका वर्णन संख्यात, असंख्यात आदि संख्याकेद्वारा ही किया जा सकता है।



(१)--जीवस्थान-अधिकार।



जीवस्थान।

इह सुहुमबायरेगिं,-दिबितिचउअसंनिसंनिपंचिंदी।
अपजत्ता पज्जता, कमेण चउदस जियट्टाणा[१] ॥ २ ॥

इह सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः।
अपर्याप्ताः पर्याप्ताः, क्रमेण चतुर्दश जीवस्थानानि ॥ २ ॥

अर्थ—इस लोकमें सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और संज्ञिपञ्चेन्द्रिय. ये सातों भेद अपर्याप्तरूपसे दो दो प्रकारके हैं, इसलिये जीवके कुल स्थान (भेद) चौदह होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—यहाँपर जीवके चौदह भेद दिखाये हैं, सो संसारी अवस्थाको लेकर। जीवत्वरूप सामान्य धर्मकी अपेक्षासे समानता होनेपर भी व्यक्तिकी अपेक्षासे जीव अनन्त हैं; इनकी कर्म-जन्य अवस्थायें भी अनन्त हैं; इससे व्यक्तिशः ज्ञान-सम्पादन करना छद्मस्थके लिये सहज नहीं। इसलिये विशेषदर्शी शास्त्रकारोंने सूक्ष्म एकेन्द्रियत्व आदि जातिकी अपेक्षासे इनके चौदह वर्ग किये हैं, जिनमें सभी संसारी जीवोंका समावेश हो जाता है।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव वे हैं, जिन्हें सूक्ष्म नामकर्मका उदय हो। ऐसे जीव सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त हैं। इनका शरीर इतना सूक्ष्म होता

१—यही गाथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थमें ज्योंकी त्यों है।
२—ये भेद, पञ्चसंग्रह द्वार २, गा० ८२ में हैं।

है कि यदि ये संख्यातीत इकट्ठे हों तब भी इन्हें आँखें देख नहीं सकतीं; अत एव इनको व्यवहारके अयोग्य कहा है।

बादर एकेन्द्रिय जीव वे हैं, जिनको बादर नामकर्मका उदय हो। ये जीव, लोकके किसी किसी भागमें नहीं भी होते; जैसे, अचित्त—सोने, चाँदी आदि वस्तुओंमें। यद्यपि पृथिवी-कायिक आदि बादर एकेन्द्रिय जीव ऐसे हैं, जिनके अलग अलग शरीर, आँखोंसे नहीं दीखते; तथापि इनका शारीरिक परिणमन ऐसा बादर होता है कि जिससे वे समुदायरूपमें दिखाई देते हैं। इसीसे इन्हें व्यवहार-योग्य कहा है। सूक्ष्म या बादर सभी एकेन्द्रियोंके इन्द्रिय, केवल त्वचा होती है। ऐसे जीव, पृथिवीकायिक आदि पाँच प्रकारके स्थावर ही हैं।

द्वीन्द्रिय वे हैं, जिनके त्वचा, जीभ, ये दो इन्द्रियाँ हों; ऐसे जीव शङ्ख, सीप, कृमि आदि हैं।

त्रीन्द्रियोंके त्वचा, जीभ, नासिका, ये तीन इन्द्रियाँ हैं; ऐसे जीव जूँ, खटमल आदि हैं।

चतुरिन्द्रियोंके उक्त तीन और आँख, ये चार इन्द्रियाँ हैं। भौंरे, बिच्छू आदिकी गिनती चतुरिन्द्रियोंमें है।

पञ्चेन्द्रियोंको उक्त चार इन्द्रियोंके अतिरिक्त कान भी होता है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि पञ्चेन्द्रिय हैं। पञ्चेन्द्रिय दो प्रकारके हैं—(१) असंज्ञी और (२) संज्ञी। असंज्ञी वे हैं, जिन्हें संज्ञा न हो। संज्ञी वे हैं, जिन्हें संज्ञा हो। इस जगह संज्ञाका मतलब उस मानस शक्तिसे है, जिससे किसी पदार्थके स्वभावका पूर्वापर विचार व अनुसन्धान किया जा सके।

द्वीन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सब तरहके जीव बादर तथा त्रस (चलने-फिरने-वाले) ही होते हैं।

१—देखिये, परिशिष्ट 'ख।'

२—देखिये, परिशिष्ट 'ग।'

एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त उक्त सब प्रकारके जीव, अपर्याप्त, पर्याप्त इस तरह दो दो प्रकारके होते हैं। (क) अपर्याप्त वे हैं, जिन्हें अपर्याप्त नामकर्मका उदय हो। (ख) पर्याप्त वे हैं, जिनको पर्याप्त नामकर्मका उदय हो ॥२॥

(१)-जीवस्थानोंमें गुणस्थान।

बायरअसंनिविगले, अपज्जि पढमबिय संनि अपजत्ते।
अजयजुअ संनि पज्जे, सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु ॥ ३ ॥

बादरासंज्ञिविकलेऽपर्याप्ते प्रथमद्विकं संज्ञिन्यपर्याप्ते ।
अयतयुतं संज्ञिनि पर्याप्ते, सर्वगुणा मिथ्यात्वं शेषेषु ॥ ३ ॥

अर्थ—अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और अपर्याप्त विकलेन्द्रियमें पहला दूसरा दोही गुणस्थान पाये जाते हैं। अपर्याप्त संज्ञिपञ्चेन्द्रियमें पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन गुणस्थान हो सकते हैं। पर्याप्त संज्ञिपञ्चेन्द्रियमें सब गुणस्थानोंका सम्भव है। शेष सात जीवस्थानोंमें-अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, पर्याप्त असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और पर्याप्त विकलेन्द्रिय त्रयमें पहला ही गुणस्थान होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—बादर एकेन्द्रिय, असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और तीन विकलेन्द्रिय, इन पाँच अपर्याप्त जीवस्थानोंमें दो गुणस्थान कहे गये हैं; पर इस विषयमें यह जानना चाहिये कि दूसरा गुणस्थान करण-अपर्याप्तमें होता है, लब्धि-अपर्याप्तमें नहीं; क्योंकि सास्वादनसम्यग्दृष्टिवाला जीव, लब्धि-अपर्याप्तरूपसे पैदा होता ही नहीं। इसलिये करण-

१—देखिये, परिशिष्ट 'घ।'

अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय आदि उक्त पाँच जीवस्थानोंमें दो गुणस्थान और लब्धि-अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय आदि पाँचोंमें पहला ही गुणस्थान समझना चाहिये।

बादर एकेन्द्रियमें दो गुणस्थान कहे गये हैं सो भी सब बादर एकेन्द्रियोंमें नहीं; किन्तु पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिकमें। क्योंकि तेजःकायिक और वायुकायिक जीव, चाहे वे बादर हों, पर उनमें ऐसे परिणामका सम्भव नहीं जिससे सास्वादनसम्यक्त्व-युक्त जीव उनमें पैदा हो सके। इसलिये सूक्ष्मके समान बादर तेज-कायिक-वायुकायिकमें पहला ही गुणस्थान समझना चाहिये।

इस जगह एकेन्द्रियोंमें दो गुणस्थान पाये जाने का कथन है, सो कर्मग्रन्थके मतानुसार; क्योंकि सिद्धान्तमें एकेन्द्रियोंको पहला ही गुणस्थान माना है।

अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें तीन गुणस्थान कहे गये हैं, सो इस अपेक्षासे कि जब कोई जीव चतुर्थ गुणस्थान-सहित मर कर संज्ञि-पञ्चेन्द्रियरूपसे पैदा होता है तब उसे अपर्याप्त अवस्थामें चौथे गुणस्थानका सम्भव है। इस प्रकार जो जीव सम्यक्त्वका त्याग करता हुआ सास्वादन भावमें वर्तमान होकर संज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपसे पैदा होता है, उसमें शरीर पर्याप्ति पूर्ण न होने तक दूसरे गुणस्थानका सम्भव है और अन्य सब संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय जीवोंको अपर्याप्त अवस्थामें पहला गुणस्थान होता ही है। अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें तीन

१—देखिये ४९ वीं गाथाकी टिप्पणी।

२—गोम्मटसारमें तेरहवें गुणस्थानके समय केवलिसमुद्घात-अवस्थामें योगकी अपूर्णताके कारण अपर्याप्तता मानी हुई है, तथा छठे गुणस्थानके समय भी आहारकमिश्रकाय-योग-दशामें आहारकशरीर पूर्ण न बन जाने तक अपर्याप्तता मानी हुई है। इसलिये गोम्मटसार (जीव० गा० ११५–११६) में निर्वृत्त्यपर्याप्त और (श्वेताम्बरसम्प्रदाय-प्रसिद्ध

गुणस्थानोंका सम्भव दिखाया, सो करण-अपर्याप्तमें; क्योंकि लब्धि-अपर्याप्तमें तो पहलेके सिवाय किसी गुणस्थानकी योग्यता ही नहीं होती।

पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें सब गुणस्थान माने जाते हैं। इसका कारण यह है कि गर्भज मनुष्य, जिसमें सब प्रकारके शुभाशुभ तथा शुद्धाशुद्ध परिणामोंकी योग्यता होनेसे चौदहों गुणस्थान पाये जा सकते हैं, वे संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय ही हैं।

यह शङ्का हो सकती है कि संज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें पहले बारह गुणस्थान होते हैं, पर तेरहवाँ चौदहवाँ, ये दो गुणस्थान नहीं होते। क्योंकि इन दो, गुणस्थानोंके समय संज्ञित्वका अभाव हो जाता है। उस समय क्षायिक ज्ञान होनेके कारण क्षायोपशमिक ज्ञानात्मक संज्ञा, जिसे 'भावमन' भी कहते हैं, नहीं होती। इस शङ्काका समाधान इतना ही है कि संज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें तेरहवें चौदहवें गुणस्थानका जो कथन है सो द्रव्यमनके सम्बन्धसे संज्ञित्वका व्यवहार अङ्गीकार करके; क्योंकि भावमनके सम्बन्धसे जो संज्ञी हैं, उनमें बारह ही गुणस्थान होते हैं।

करण-अपर्याप्त) संज्ञि-पञ्चेन्द्रियमे पहला, दूसरा, चौथा, छठा और तेरहवाँ, ये पाँच गुणस्थान कहे गये हैं।

इस कर्मग्रन्थमें करण-अपर्याप्त संज्ञिपञ्चेन्द्रियमें तीन गुणस्थानोंका कथन है, सो उत्पत्ति-कालीन अपर्याप्त-अवस्थाको लेकर। और गोम्मटसारमें पाँच गुणस्थानोंका कथन है, सो उत्पत्तिकालीन, लब्धिकालीन उभय अपर्याप्त-अवस्थाको लेकर। इस तरह ये दोनों कथन अपेक्षाकृत होनेसे आपसमें विरुद्ध नहीं हैं।

लब्धिकालीन अपर्याप्त-अवस्थाको लेकर संज्ञीमें गुणस्थानका विचार करना हो तो पाँचवाँ गुणस्थान भी गिनना चाहिये, क्योंकि उस गुणस्थानमें वैक्रियलब्धिसे वैक्रियशरीर रचे जानेके समय अपर्याप्त-अवस्था पायी जाती है।

१—यही बात सप्ततिकाचूर्णिके निम्नलिखित पाठसे स्पष्ट होती है:—

अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त शेष सात जीवस्थानोंमें परिणाम ऐसे संक्लिष्ट होते हैं कि जिससे उनमें मिथ्यात्वके सिवाय अन्य किसी गुणस्थानका सम्भव नहीं है ॥३॥



"मणकरणं केवलिणो वि अत्थि, तेन संनिणो भन्नंति, मनोविन्नाणं पडुच्च ते संनिणो न भवंति त्ति।"

केवलीको भी द्रव्यमन होता है, इससे वे संज्ञी कहे जाते हैं, परन्तु मनोज्ञानकी अपेक्षासे वे संज्ञी नहीं हैं। केवली-अवस्थामें द्रव्यमनके सम्बन्धसे संज्ञित्वका व्यवहार गोम्मटसार-जीवकाण्डमें भी माना गया है। यथा:—

"मणसहियाणं वयणं, दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगम्हि।
उत्तो मणोवयारे,-णिंदियणाणेण हीणम्हि॥ २२७॥
अंगोवंगुदयादो, दव्वमणट्ठं जिणिंदचंदम्हि।
मणवग्गणखंधाणं, आगमणादो दु मणजोगो॥२२८॥"

सयोगी केवली गुणस्थानमें मन न होनेपर भी वचन होनेके कारण उपचारसे मन माना जाता है, उपचारका कारण यह है कि पहलेके गुणस्थानमें मनवालोंको वचन देखा जाता है ॥ २२७ ॥

जिनेश्वरको भी द्रव्यमनकेलिये अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे मनोवर्गणाके स्कन्धोंका आगमन हुआ करता है; इसलिये उन्हें मनोयोग कहा है ॥ २२८ ॥

(२)–जीवस्थानोंमें योग।

[दो गाथाओंसे।]

अपजत्तछक्कि कम्मुर, लमीसजोगा अपज्जसंनीसु।
ते सविउव्वमीस एसु तणु पज्जेसु उरलमन्ने ॥४॥

अपर्याप्तषट्के कार्मणौदारिकमिश्रयोगावपर्याप्तसंज्ञिषु।
तौ सवैक्रियमिश्रावेषु तनुपर्याप्तेष्वौदारिकमन्ये ॥ ४ ॥

अर्थ—अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त विकलत्रिक और अपर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन छह प्रकारके जीवोंमें कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो ही योग होते हैं। अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये तीन योग पाये जाते हैं। अन्य आचार्य ऐसा मानते हैं कि "उक्त सातों प्रकारके अपर्याप्त जीव, जब शरीरपर्याप्ति पूरी कर लेते हैं, तब उन्हें औदारिक काययोग ही होता है, औदारिकमिश्र नहीं"॥४॥

भावार्थ—सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त छह अपर्याप्त जीव-स्थानोंमें कार्मण और औदारिकमिश्र दो ही योग माने गये हैं; इसका कारण यह है कि सब प्रकारके जीवोंको अन्तराल गतिमें तथा जन्म-ग्रहण करनेके प्रथम समयमें कार्मणयोग ही होता है; क्योंकि उस समय औदारिक आदि स्थूल शरीरका अभाव होनेके कारण योगप्रवृत्ति केवल कार्मणशरीरसे होती है। परन्तु उत्पत्तिके दूसरे समयसे लेकर स्वयोग्य पर्याप्तियोंके पूर्ण बन जाने तक मिश्रयोग होता है; क्योंकि उस अवस्थामें कार्मण और औदारिक आदि

१—यह विषय, पञ्चसं० द्वा० १, गा० ६–७ में है।

स्थूल शरीरकी मददसे योगप्रवृत्ति होती है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छहों जीवस्थान औदारिकशरीरवाले ही हैं, इसलिये उनको अपर्याप्त अवस्थामें कार्मणकाययोगके बाद औदारिकमिश्रकाययोग ही होता है। उक्त छह जीवस्थान अपर्याप्त कहे गये हैं। सो लब्धि तथा करण, दोनों प्रकारसे अपर्याप्त समझने चाहिये।

अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारक—सभी सम्मिलित हैं, इसलिये उसमें कार्मणकाययोग और कार्मणकाययोगके बाद मनुष्य और तिर्यञ्चकी अपेक्षासे औदारिकमिश्रकाययोग तथा देव और नारककी अपेक्षासे वैक्रियमिश्रकाययोग, कुल तीन योग माने गये हैं।

गाथामें जिस मतान्तरका उल्लेख है, वह शीलाङ्क[१] आदि आचार्योंका है। उनका अभिप्राय यह है कि "शरीरपर्याप्ति पूर्ण बन जानेसे शरीर पूर्ण बन जाता है। इसलिये अन्य पर्याप्तियोंकी पूर्णता न होनेपर भी जब शरीर पर्याप्ति पूर्ण बन जाती है तभीसे मिश्रयोग नहीं रहता; किन्तु औदारिक शरीरवालोंको औदारिककाययोग और वैक्रियशरीरवालोंको वैक्रियकाययोग ही होता है।*" इस मतान्तरके अनुसार सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छह अपर्याप्त जीवस्थानोंमें कार्मण, औदारिकमिश्र और औदारिक, ये तीन योग और

१—जैसे:—"औदारिकयोगस्तिर्यग्मनुजयोः शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वं, तदारतस्तु मिश्रः।"—आचाराङ्ग-अध्य० २, उद्दे० १ की टीका पृ० ९४।

*यद्यपि मतान्तरके उल्लेखमें गाथामें 'उरलं' पद ही है; तथापि वह वैक्रियकाययोगका उपलक्षक (सूचक) है। इसलिये वैक्रियशरीरी देव-नारकोंको शरीरपर्याप्ति पूर्ण बन जानेके बाद अपर्याप्त-दशामें वैक्रियकाययोग समझना चाहिये।

इस मतान्तरको एक प्राचीन गाथाके आधारपर श्रीमलयगिरिजीने पञ्चसंग्रह द्वा० १, गा० ६-७ की वृत्तिमें विस्तारपूर्वक दिखाया है।

अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें उक्त तीन तथा वैक्रियमिश्र और वैक्रिय, कुल पाँच योग समझने चाहिये।

उक्त मतान्तरके सम्बन्धमें टीकामें लिखा है कि यह मत युक्ति-हीन है; क्योंकि केवल शरीरपर्याप्ति बन जानेसे शरीर पूरा नहीं बनता; किन्तु उसकी पूर्णताकेलिये स्वयोग्य सभी पर्याप्तियोंका पूर्ण बन जाना आवश्यक है। इसलिये शरीरपर्याप्तिके बाद भी अपर्याप्त-अवस्था पर्यन्त मिश्रयोग मानना युक्त है ॥४॥

सव्वे संनिपजत्ते,उरलं सुहुमे सभासु तं चउसु।
बायरि सविउव्विदुगं, पजसंनिसु बार उवओगा ॥५॥

सर्वे संज्ञिनि पर्याप्ते औदारिकं सूक्ष्मे सभाषु तच्चतुर्षु।
बादरे सवैक्रियद्विकं, पर्याप्तसंज्ञिषु द्वादशोपयोगाः ॥५॥

अर्थ—पर्याप्त संज्ञीमें सब योग पाये जाते हैं। पर्याप्त सूक्ष्म-एकेन्द्रियमें औदारिककाययोग ही होता है। पर्याप्त विकलेन्द्रिय-त्रिक और पर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन चार जीवस्थानोंमें औदारिक और असत्यामृषावचन, ये दो योग होते हैं। पर्याप्त बादर-एकेन्द्रियमें औदारिक, वैक्रिय तथा वैक्रियमिश्र, ये तीन काययोग होते हैं। (जीवस्थानोंमें उपयोगः—) पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें सब उपयोग होते हैं ॥५॥

भावार्थ—पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें छहों पर्याप्तियाँ होती हैं, इसलिये उसकी योग्यता विशिष्ट प्रकारकी है। अतएव उसमें चारों वचनयोग, चारों मनोयोग और सातों काययोग होते हैं।

यद्यपि कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये तीन योग अपर्याप्त-अवस्था-भावी हैं, तथापि वे संज्ञि-पञ्चेन्द्रियोंमें पर्याप्त-अवस्थामें भी पाये जाते हैं। कार्मण तथा औदारिकमिश्रकाययोग पर्याप्त-अवस्थामें तब होते हैं, जब कि केवली भगवान् केवलि-समुद्घात रचते

हैं। केवलि-समुद्घातकी स्थिति आठ समय-प्रमाण मानी हुई है; इसके तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें कार्मणकाययोग और दूसरे, छठे तथा सातवें समयमें औदारिकमिश्रकाययोग होता है[1]। वैक्रियमिश्रकाययोग, पर्याप्त-अवस्थामें तब होता है, जब कोई वैक्रिय-लब्धिधारी मुनि आदि वैक्रियशरीरको बनाते हैं।

आहारककाययोग तथा आहारकमिश्रकाययोगके अधिकारी, चतुर्दशपूर्वधर मुनि हैं। उन्हें आहारकशरीर बनाने व त्यागनेके समय आहारकमिश्रकाययोग और उस शरीरको धारण करनेके समय आहारककाययोग होता है। औदारिककाययोगके अधिकारी, सभी पर्याप्त मनुष्य-तिर्यञ्च और वैक्रियकाययोगके अधिकारी, सभी पर्याप्त देव-नारक हैं।

सूक्ष्म-एकेन्द्रियको पर्याप्त-अवस्थामें औदारिककाययोग ही माना गया है। इसका कारण यह है कि उसमें जैसे मन तथा वचनकी लब्धि नहीं है, वैसे ही वैक्रिय आदि लब्धि भी नहीं है। इसलिये वैक्रियकाययोग आदिका उसमें सम्भव नहीं है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन चार जीवस्थानोंमें पर्याप्त-अवस्थामें व्यवहारभाषा—असत्यामृषाभाषा होती है; क्योंकि उन्हें मुख होता है। काययोग, उनमें औदारिक ही होता है। इसीसे उनमें दो ही योग कहे गये हैं।

१—यही बात भगवान् उमास्वातिने कही है:—

"औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः।
मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥
कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च।
समयत्रयेऽपि तस्मिन्, भवत्यनाहारको नियमात् ॥२७६॥"

—प्रशमरति अधि० २०।

बादर-एकेन्द्रियको—पाँच स्थावरको, पर्याप्त-अवस्थामें औदारिक, वैक्रिय और वैक्रियमिश्र, ये तीन योग माने हुये हैं। इनमेंसे औदारिककाययोग तो सब तरहके एकेन्द्रियोंको पर्याप्त-अवस्थामें होता है, पर वैक्रिय तथा वैक्रियमिश्रकाययोगके विषयमें यह बात नहीं है। ये दो योग, केवल बादरवायुकायमें होते हैं; क्योंकि बादरवायुकायिक जीवोंको वैक्रियलब्धि होती है[1]। इससे वे जब वैक्रियशरीर बनाते हैं, तब उन्हें वैक्रियमिश्रकाययोग और वैक्रियशरीर पूर्ण बन जानेके बाद वैक्रियकाययोग समझना चाहिये। उनका वैक्रियशरीर ध्वजाकार माना गया है[2]।

१—"आद्यं तिर्यग्मनुष्याणां, देवनारकयोः परम्।
केषांचिल्लब्धिमद्वायु,-संज्ञितिर्यग्नृणामपि ॥ १४४ ॥"

—लोकप्रकाश सर्ग ३।

"पहला (औदारिक) शरीर, तिर्यञ्चों और मनुष्योंको होता है; दूसरा (वैक्रिय) शरीर देवों, नारकों, लब्धिवाले वायुकायिकों और लब्धिवाले संज्ञी तिर्यञ्च-मनुष्योंको होता है।" वायुकायिकको लब्धि-जन्य वैक्रियशरीर होता है, यह बात, तत्त्वार्थ मूल तथा उसके भाष्यमें स्पष्ट नहीं है, किन्तु इसका उल्लेख भाष्यकी टीकामें है:—

"वायोश्च वैक्रियं लब्धिप्रत्ययमेव" इत्यादि।

—तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ४८ की भाष्य-वृत्ति।

दिगम्बरीय साहित्यमें कुछ विशेषता है। उसमें वायुकायिकके समान तेजःकायिकको भी वैक्रियशरीरका स्वामी कहा है। यद्यपि सर्वार्थसिद्धिमें तेजःकायिक तथा वायुकायिकके वैक्रिय-शरीरके सम्बन्धमें कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आया, पर राजवार्तिकमें है:—

"वैक्रियिकं देवनारकाणां, तेजोवायुकायिकपञ्चेन्द्रियातिर्यग्मनुष्याणां च केषांचित्।" —तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ४९, राजवार्तिक ८।

यही बात गोम्मटसार-जीवकाण्डमें भी है:—

"बादरतेऊवाऊ, पंचिंदियपुण्णगा विगुव्वंति।
ओरालियं सरीरं, विगुव्वणप्पं हवे जेसिं ॥२३२॥"

२—यह मन्तव्य श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में समान है:—

(३)–जीवस्थानोंमें उपयोग[1]।

पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें सभी उपयोग पाये जाते हैं; क्योंकि गर्भज-मनुष्य, जिनमें सब प्रकारके उपयोगोंका सम्भव है, वे संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय हैं। उपयोग बारह हैं, जिनमें पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान, ये आठ साकार (विशेषरूप) हैं और चार दर्शन, ये निराकार (सामान्यरूप) हैं। इनमेंसे केवलज्ञान और केवलदर्शनकी स्थिति समयमात्रकी और शेष छाद्मस्थिक दस उपयोगोंकी स्थिति अन्त-र्मुहूर्त्तकी मानी हुई है[2]।

"मरुतां तद्ध्वजाकार, द्वैधानामपि भूरुहाम्।
स्युः शरीराण्यनियत,–संस्थानानीति तद्विदः ॥२५४॥"

—लो० प्र०, स० ५।

"मसुरंबुबिंदिसूई,–कलावधयसण्णिहो हवे देहो।
पुढवी आदि चउण्हं, तरुतसकाया अणेयविहा ॥२००॥"

—जीवकाण्ड।

१—यह विचार, पञ्चसं० द्वा० १, गा० ८ में है।

२—छाद्मस्थिक उपयोगोंकी अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण स्थितिके सम्बन्धमें तत्त्वार्थ-टीकामें नीचे लिखे उल्लेख मिलते हैं:—

"उपयोगास्थितिकालोऽन्तर्मुहूर्त्तपरिमाणः प्रकर्षाद्भवति।"

—अ० २, सू० ८ की टीका।

"उपयोगतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेव जघन्योत्कृष्टाभ्याम्।"

—अ० २, सू० ९ की टीका।

"उपयोगतस्तु तस्याप्यन्तर्मुहूर्त्तमवस्थानम्।"

—अ० २, सू० ९ की टीका।

यह बात गोम्मटसारमें भी उल्लिखित है:—

"मदिसुदओहिमणेहिं य, सगसगविसये विसेसविण्णाणं।
अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो दु सायारो ॥६७३॥

सभी उपयोग क्रमभावी[1] हैं, इसलिये एक जीवमें एक समयमें कोई भी दो उपयोग नहीं होते ॥ ५ ॥

पजचउरिंदिअसंनिसु, दुदंस दु अनाण दससु चक्खु विणा।
संनिअपज्जे मणना,–णचक्खुकेवलदुगविहुणा ॥ ६ ॥

पर्याप्तचतुरिन्द्रियासंज्ञिनोः, द्विदर्शद्व्यज्ञानं दशसु चक्षुर्विना।
संज्ञिन्यपर्याप्ते मनोज्ञानचक्षुः केवलद्विकविहीनाः ॥ ६ ॥

अर्थ—पर्याप्त चतुरिन्द्रिय तथा पर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें चक्षु-अचक्षु दो दर्शन और मति-श्रुत दो अज्ञान, कुल चार उपयोग होते हैं। सूक्ष्म-एकेन्द्रिय, बादर-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय, ये चारों पर्याप्त तथा अपर्याप्त और अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय तथा अपर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन दस प्रकारके जीवोंमें मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुर्दर्शन, ये तीन उपयोग होते हैं। अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियोंमें मनःपर्यायज्ञान, चक्षुर्दर्शन, केवलज्ञान, केवल-दर्शन, इन चारको छोड़ शेष आठ (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-

इंदियमणोहिणा वा, अत्थे अविसेसिदूण जं गहणं।
अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो अणायारो ॥६७४॥"
—जीवकाण्ड।

क्षायिक उपयोगकी एक समय-प्रमाण स्थिति, "अन्ने एगंतरियं इच्छंत सुओवएसेणं।" इस कथनसे सिद्धान्त-सम्मत है। विशेष खुलासेकेलिये नन्दी सू० २२, मलयगिरिवृत्ति पृ० १३४, तथा विशेष० आ० गा० ३१०१ की वृत्ति देखना चाहिये। लोकप्रकाशके तीसरे सर्गमें भी यही कहा है:—

"एकस्मिन् समये ज्ञानं, दर्शनं चापरक्षणे।
सर्वज्ञस्योपयोगौ द्वौ, समयान्तरितौ सदा ॥९७३॥"

१—देखिये, परिशिष्ट 'च'।

दर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभङ्गज्ञान और अचक्षुर्दर्शन) उपयोग होते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें चक्षुर्दर्शन आदि उपर्युक्त चार ही उपयोग होते हैं: क्योंकि आवरण-की घनिष्ठता और पहला ही गुणस्थान होनेके कारण, उनमें चक्षु-दर्शन और अचक्षुर्दर्शनके सिवाय अन्य सामान्य उपयोग तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञानके सिवाय अन्य विशेष उपयोग नहीं होते।

सूक्ष्म-एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त दस प्रकारके जीवोंमें तीन उपयोग कहे गये हैं, सो कार्मग्रन्थिक मतके अनुसार, सैद्धान्तिक मतके अनुसार नहीं[2]।

१—देखिये, परिशिष्ट 'छ।'

२—इसका खुलासा यों है:—

यद्यपि बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन पाँच प्रकारके अपर्याप्त जीवोंमें कार्मग्रन्थिक विद्वान् पहला और दूसरा, ये दो गुणस्थान मानते हैं। देखिये, आगे गा० ४५ वीं। तथापि वे दूसरे गुणस्थानके समय मति आदिको, ज्ञानरूप न मानकर अज्ञानरूप ही मान लेते हैं। देखिये, आगे गा० २१ वीं। इसलिये, उनके मतानुसार पर्याप्त-अपर्याप्त सूक्ष्म-एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर-एकेन्द्रिय, पर्याप्त द्वीन्द्रिय और पर्याप्त त्रीन्द्रिय, इन पहले गुणस्थान-वाले पाँच जीवस्थानोंके समान, बादर एकेन्द्रिय आदि उक्त पाँच प्रकारके अपर्याप्त जीवस्थानोंमें भी, जिनमें दो गुणस्थानोंका सम्भव है, अचक्षुर्दर्शन, मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान, ये तीन उपयोग ही माने जाते हैं।

परन्तु सैद्धान्तिक विद्वानोंका मन्तव्य कुछ भिन्न है। वे कहते हैं कि "किसी प्रकारके एकेन्द्रियमें—चाहे पर्याप्त हो या अपर्याप्त, सूक्ष्म हो या बादर—पहलेके सिवाय अन्य गुणस्थान होता ही नहीं। देखिये, गा० ४९ वीं। पर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन चार अपर्याप्त जीवस्थानोंमें पहला और दूसरा, ये दो गुणस्थान होते हैं।" साथ ही सैद्धान्तिक विद्वान्, दूसरे गुणस्थानके समय मति आदिको अज्ञानरूप न मानकर ज्ञानरूप ही मानते हैं। देखिये, गा० ४९ वीं। अत एव उनके मतानुसार द्वीन्द्रिय आदि उक्त चार अपर्याप्त-जीवस्थानोंमें अचक्षुर्दर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, ये पाँच उपयोग और सूक्ष्म-एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त दस जीवस्थानोंमेंसे द्वीन्द्रिय आदि उक्त चारके सिवाय शेष छह जीव-स्थानोंमें अचक्षुर्दर्शन, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, ये तीन उपयोग समझने चाहिये।

संज्ञि-पञ्चेन्द्रियको, अपर्याप्त-अवस्थामें आठ उपयोग माने गये हैं। सो इस प्रकारः—तीर्थङ्कर तथा सम्यक्त्वी देव-नारक आदिको उत्पत्ति-क्षणसे ही तीन ज्ञान और दो दर्शन होते हैं तथा मिथ्यात्वी देव-नारक आदिको जन्म-समयसे ही तीन अज्ञान और दो दर्शन होते हैं। मनःपर्याय आदि चार उपयोग न होनेका कारण यह है कि मनःपर्यायज्ञान, संयमवालोंको हो सकता है, परन्तु अपर्याप्त-अवस्थामें संयमका सम्भव नहीं है; तथा चक्षुर्दर्शन, चतुरिन्द्रियके व्यापारकी अपेक्षा रखता है; जो अपर्याप्त-अवस्थामें नहीं होता। इसी प्रकार केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो उपयोग कर्मक्षय-जन्य हैं, किन्तु अपर्याप्त-अवस्थामें कर्म-क्षयका सम्भव नहीं है। संज्ञि-पञ्चेन्द्रियको अपर्याप्त-अवस्थामें आठ उपयोग कहे गये, सो करण-अपर्याप्तकी अपेक्षासे; क्योंकि लब्धि-अपर्याप्तमें मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुर्दर्शनके सिवाय अन्य उपयोग नहीं होते।

इस गाथामें अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें जो जो उपयोग बतलाये गये हैं, उनमें चक्षुर्दर्शन परिगणित नहीं है, सो मतान्तरसे; क्योंकि पञ्चसङ्ग्रहकारके मतसे उक्त तीनों जीवस्थानोंमें, अपर्याप्त-अवस्थामें भी इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद चक्षुर्दर्शन होता है[1]। दोनों मतके तात्पर्यको समझनेकेलिये गा० १७वींका नोट देखना चाहिये ॥ ६ ॥

१—इसका उल्लेख श्रीमलयगिरिसूरिने इस प्रकार किया हैः—

"अपर्याप्तकाश्चेह लब्ध्यपर्याप्तका वेदितव्याः, अन्यथा करणापर्याप्तकेषु चतुरिन्द्रियादिष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते मूलटीकायामाचार्येणाभ्यनुज्ञानात्।"—पञ्चसं० द्वार १, गा० ८ की टीका।

(४-८)-जीवस्थानोंमें लेश्या-बन्ध आदि।

[दो गाथाओंसे।]

संनिदुगे छलेस अप,-ज्जबायरे पढम चउ ति सेसेसु।
सत्तट्ठ बन्धुदीरण, संतुदया अट्ठ तेरससु ॥ ७॥

संज्ञिद्विके षड्लेश्या अपर्याप्तबादरे प्रथमाश्चतस्रस्तिस्रः शेषेषु।
सप्ताष्टबन्धोदीरणे, सदुदयावष्टानां त्रयोदशसु ॥ ७ ॥

अर्थ—संज्ञि-द्विकमें—अपर्याप्त तथा पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें—छहों लेश्यायें होती हैं। अपर्याप्त बादर-एकेन्द्रियमें कृष्ण आदि पहली चार लेश्यायें पायी जाती हैं। शेष ग्यारह जीवस्थानोंमें—अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म-एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर-एकेन्द्रिय, अपर्याप्त-पर्याप्त द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त-पर्याप्त त्रीन्द्रिय, अपर्याप्त-पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, और अपर्याप्त-पर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रियोंमें कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन लेश्यायें होती हैं।

पर्याप्त संज्ञीके सिवाय तेरह जीवस्थानोंमें बन्ध, सात या आठ कर्मका होता है तथा उदीरणा भी सात या आठ कर्मोंकी होती है, परन्तु सत्ता तथा उदय आठ आठ कर्मोंके ही होते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—अपर्याप्त तथा पर्याप्त दोनों प्रकारके संज्ञी, छह लेश्याओंके स्वामी माने जाते हैं, इसका कारण यह है कि उनमें शुभ-अशुभ सब तरहके परिणामोंका सम्भव है। अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियका मतलब करणापर्याप्तसे है; क्योंकि उसीमें छह लेश्याओंका सम्भव है। लब्धि-अपर्याप्त तो सिर्फ तीन लेश्याओंके अधिकारी हैं।

कृष्ण आदि तीन लेश्यायें, सब एकेन्द्रियोंकेलिये साधारण हैं; किन्तु अपर्याप्त बादर-एकेन्द्रियमें इतनी विशेषता है कि उसमें तेजो-लेश्या भी पायी जाती है; क्योंकि तेजोलेश्यावाले ज्योतिषी आदि देव,

जब उसी लेश्यामें मरते हैं और बादर पृथिवीकाय, जलकाय या वनस्पतिकायमें जन्म लेते हैं, तब उन्हें अपर्याप्त-अवस्थामें तेजोलेश्या होती है। यह नियम ही है कि जिस लेश्यामें मरण हो, जन्मते समय वही लेश्या होती है।

अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त ग्यारह जीव-स्थानोंमें तीन लेश्यायें कही गई हैं। इसका कारण यह है कि वे सब जीवस्थान, अशुभ परिणामवाले ही होते हैं; इसलिये उनमें शुभ परिणामरूप पिछली तीन लेश्यायें नहीं होतीं।

इस जगह जीवस्थानोंमें बन्ध, उदीरणा, सत्ता और उदयका जो विचार किया गया है, वह मूल प्रकृतियोंको लेकर। प्रत्येक जीवस्थानमें किसी एक समयमें मूल आठ प्रकृतियोंमेंसे कितनी प्रकृतियोंका बन्ध, कितनी प्रकृतियोंकी उदीरणा, कितनी प्रकृतियोंकी सत्ता और कितनी प्रकृतियोंका उदय पाया जा सकता है, उसीको दिखाया है।

१. बन्ध।

पर्याप्त संज्ञीके सिवाय सब प्रकारके जीव, प्रत्येक समयमें आयुको छोड़कर सात कर्मप्रकृतियोंको बाँधते रहते हैं। आठ कर्मप्रकृतियोंको वे तभी बाँधते हैं, जब कि आयुका बन्ध करते हैं। आयुका बन्ध एक भवमें एक ही बार, जघन्य या उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक ही होता है। आयुकर्मकेलिये यह नियम है कि वर्तमान आयुका तीसरा, नववाँ

१—इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है:—

"जल्लेसे मरइ, तल्लेसे उववज्जइ"। इति

२—उक्त नियम सोपक्रम (अपवर्त्य—घट सकनेवाली) आयुवाले जीवोंको लागू पड़ता है, निरुपक्रम आयुवालोंको नहीं। वे यदि देव-नारक या असंख्यातवर्षीय मनुष्य तिर्यञ्च हों तो छह महीने आयु बाकी रहनेपर ही परभवकी आयु बाँधते हैं और यदि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय या पञ्चेन्द्रिय मनुष्य-तिर्यञ्च हों तो वर्तमान भावका तीसरा भाग शेष रहनेपर ही आयु बाँधते हैं।

—बृहत्संग्रहणी, गा० ३२१–३२३, तथा पञ्चम कर्मग्रन्थ, गा० ३४।

या सत्ताईसवाँ आदि भाग बाकी रहनेपर ही परभवके आयुका बन्ध होता है।

इस नियमके अनुसार यदि बन्ध न हो तो अन्तमें जब वर्तमान आयु, अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण बाकी रहती है, तब अगले भवकी आयुका बन्ध अवश्य होता है।

२. उदीरणा।

उपर्युक्त तेरह प्रकारके जीवस्थानोंमें प्रत्येक समयमें आठ कर्मोंकी उदीरणा हुआ करती है। सात कर्मोंकी उदीरणा, आयुकी उदीरणा न होनेके समय—जीवनकी अन्तिम आवलिकामें—पायी जाती है; क्योंकि उस समय, आवलिकामात्र स्थिति शेष रहनेके कारण वर्तमान (उदयमान) आयुकी और अधिक स्थिति होनेपर भी उदयमान न होनेके कारण अगले भवकी आयुकी उदीरणा नहीं होती। शास्त्रमें उदीरणाका यह नियम बतलाया है कि जो कर्म, उदय-प्राप्त है, उसकी उदीरणा होती है, दूसरेकी नहीं। और उदय-प्राप्त कर्म भी आवलिकामात्र शेष रह जाता है, तबसे उसकी उदीरणा रुक जाती है[1]।

---

[1]—"उदयावलियाबाहिरिल्ल ठिइहिंतो कसायसहिया सहिएणं जोगकरणेणं दलियमाकडिढय उदयपत्तदलियेण समं अणुभवणमुदीरणा।"

—कर्मप्रकृति-चूर्णि।

अर्थात् उदय-आवलिकासे बाहरकी स्थितिवाले दलिकोंको कषायसहित या कषायरहित योगद्वारा खींचकर—उस स्थितिसे उन्हें छुड़ाकर—उदय-प्राप्त दलिकोंके साथ भोग लेना 'उदीरणा' कहलाती है।

इस कथनका तात्पर्य इतना ही है कि उदयावलिकाके अन्तर्गत दलिकोंकी उदीरणा नहीं होती। अत एव कर्मकी स्थिति आवलिकामात्र बाकी रहनेके समय उसकी उदीरणाका रुक जाना नियमानुकूल है।

उक्त तेरह जीवस्थानोंमें जो अपर्याप्त जीवस्थान हैं, वे सभी लब्धि-अपर्याप्त समझने चाहिये; क्योंकि उन्हींमें सात या आठ कर्मकी उदीरणा घट सकती है। वे अपर्याप्त-अवस्थाहीमें मर जाते हैं, इसलिये उनमें आवलिकामात्र आयु बाकी रहनेपर सात कर्मकी और इसके पहले आठ कर्मकी उदीरणा होती है। परन्तु करणापर्याप्तोंके अपर्याप्त-अवस्थामें मरनेका नियम नहीं है। वे यदि लब्धिपर्याप्त हुये तो पर्याप्त-अवस्थाहीमें मरते हैं। इसलिये उनमें अपर्याप्त-अवस्थामें आवलिकामात्र आयु शेष रहनेका और सात कर्मकी उदीरणाका संभव नहीं है।

३-४. सत्ता और उदय।

आठ कर्मोंकी सत्ता ग्यारहवें गुणस्थान तक होती है और आठ कर्मोंका उदय दसवें गुणस्थान तक बना रहता है; परन्तु पर्याप्त संज्ञीके सिवाय सब प्रकारके जीवोंमें अधिकसे अधिक पहला, दूसरा और चौथा, इन तीन गुणस्थानोंका संभव है; इसलिये उक्त तेरह प्रकारके जीवोंमें सत्ता और उदय आठ कर्मोंका माना गया है ॥७॥

सत्तट्ठछेगबंधा, संतुदया सत्तअट्ठचत्तारि।
सत्तट्ठछपंचदुगं, उदीरणा संनिपज्जत्ते ॥ ८ ॥

सप्ताष्टषडेकबन्धा, सदुदयौ सप्ताष्टचत्वारि।
सप्ताष्टषट्पञ्चद्विकमुदीरणा संज्ञि-पर्याप्ते ॥ ८ ॥

अर्थ—पर्याप्त संज्ञीमें सात कर्मका, आठ कर्मका, छह कर्मका और एक कर्मका, ये चार बन्धस्थान हैं, सत्तास्थान और उदयस्थान सात, आठ और चार कर्मके हैं तथा उदीरणास्थान सात, आठ, छह, पाँच और दो कर्मका है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिन प्रकृतियोंका बन्ध एक साथ (युगपत्) हो, उनके समुदायको 'बन्धस्थान' कहते हैं। इसी तरह जिन प्रकृतियोंकी सत्ता

एक साथ पायी जाय, उनके समुदायको 'सत्तास्थान,' जिन प्रकृतियों-का उदय एक साथ पाया जाय, उनके समुदाको 'उदयस्थान' और जिन प्रकृतियोंकी उदीरणा एक साथ पायी जाय, उनके समुदायको 'उदीरणास्थान' कहते हैं।

५. बन्धस्थान।

उपर्युक्त चार बन्धस्थानोंमेंसे सात कर्मका बन्धस्थान, उस समय पाया जाता है जिस समय कि आयुका बन्ध नहीं होता। एक बार आयुका बन्ध होजानेके बाद दूसरी बार उसका बन्ध होनेमें जघन्य काल, अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण और उत्कृष्ट काल, अन्तर्मुहूर्त्त-कम $\frac{1}{3}$ करोड़ पूर्ववर्ष तथा छह मास कम तेतीस सागरोपम-प्रमाण चला जाता है[3]। अत एव सात कर्मके बन्धस्थानकी स्थिति भी उतनी ही अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त-कम $\frac{1}{3}$ करोड़ पूर्ववर्ष तथा छह मास-कम तेतीस सागरोपम-प्रमाण समझनी चाहिये।

आठ कर्मका बन्धस्थान, आयु-बन्धके समय पाया जाता है। आयु-बन्ध, जघन्य या उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक होता है, इसलिये आठके बन्धस्थानकी जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण है।

१—नौ समय-प्रमाण, दस समय-प्रमाण, इस तरह एक एक समय बढ़ते बढ़ते अन्तमें एक समय-कम मुहूर्त्त-प्रमाण, यह सब प्रकारका काल 'अन्तर्मुहूर्त्त' कहलाता है। जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त नव समयका, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त एक समय-कम मुहूर्त्तका और मध्यम अन्तर्मुहूर्त्त दस समय, ग्यारह समय आदि बीचके सब प्रकारके कालका समझना चाहिये। दो घड़ीको—अड़तालीस मिनटको—'मुहूर्त' कहते हैं।

२—दस कोटाकोटि पल्योपमका एक 'सागरोपम' और असंख्य वर्षोंका एक 'पल्योपम' होता है। —तत्त्वार्थ अ० ४, सू० १५ का भाष्य।

३—जब करोड़ पूर्व वर्षकी आयुवाला कोई मनुष्य अपनी आयुके तीसरे भागमें अनुत्तर विमानकी तेतीस सागरोपम-प्रमाण आयु बाँधता है, तब अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त आयुबन्ध करके फिर वह देवकी आयुके छह महीने शेष रहनेपर ही आयु बाँध सकता है, इस अपेक्षासे आयुके बन्धका उत्कृष्ट अन्तर समझना।

छह कर्मका बन्धस्थान दसवें ही गुणस्थानमें पाया जाता है; क्योंकि उसमें आयु और मोहनीय, दो कर्मका बन्ध नहीं होता। इस बन्धस्थानकी जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति दसवें गुणस्थानकी स्थितिके बराबर—जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्तकी—समझनी चाहिये।

एक कर्मका बन्धस्थान ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें, तीन गुणस्थानोंमें होता है। इसका कारण यह है कि इन गुणस्थानोंके समय सातवेदनीयके सिवाय अन्य कर्मका बन्ध नहीं होता। ग्यारहवें गुणस्थानकी जघन्य स्थिति एक समयकी और तेरहवें गुणस्थानकी उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष-कम करोड़ पूर्व वर्षकी है। अत एव इस बन्धस्थानकी स्थिति, जघन्य समयमात्रकी और उत्कृष्ट नौ वर्ष-कम करोड़ पूर्ववर्षकी समझनी चाहिये।

६. सत्तास्थान।

तीन सत्तास्थानोंमेंसे आठ का सत्तास्थान, पहले ग्यारह गुणस्थानोंमें पाया जाता है। इसकी स्थिति, अभव्यकी अपेक्षासे अनादि-अनन्त और भव्यकी अपेक्षासे अनादि-सान्त है। इसका सबब यह है कि अभव्यकी कर्म-परम्पराकी जैसे आदि नहीं है, वैसे अन्त भी नहीं है; पर भव्यकी कर्मपरम्पराके विषयमें ऐसा नहीं है; उसकी आदि तो नहीं है, किन्तु अन्त होता है।

सातका सत्तास्थान केवल बारहवें गुणस्थानमें होता है। इस

१—अत्यन्त सूक्ष्म क्रियावाला अर्थात् सबसे जघन्य गतिवाला परमाणु जितने कालमें अपने आकाश-प्रदेशसे अनन्तर आकाश-प्रदेशमें जाता है, वह काल, 'समय' कहलाता है।

—तत्त्वार्थ अ० ४, सू० १५ का भाष्य।

२—चौरासी लक्ष वर्षका एक पूर्वाङ्ग और चौरासी लक्ष पूर्वाङ्गका एक 'पूर्व' होता है।

—तत्त्वार्थ अ० ४, सू० १५ का भाष्य।

गुणस्थानकी जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तकी मानी जाती है। अत एव सातके सत्तास्थानकी स्थिति उतनी समझनी चाहिये। इस सत्तास्थानमें मोहनीयके सिवाय सात कर्मोंका समावेश है।

चारका सत्तास्थान तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें पाया जाता है; क्योंकि इन दो गुणस्थानोंमें चार अघातिकर्मकी ही सत्ता शेष रहती है। इन दो गुणस्थानोंको मिलाकर उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष सात मास-कम करोड़ पूर्व-प्रमाण है। अत एव चारके सत्तास्थानकी उत्कृष्ट स्थिति उतनी समझना चाहिये। उसकी जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण है।

७. उदयस्थान।

आठ कर्मका उदयस्थान, पहलेसे दसवें तक दस गुणस्थानोंमें रहता है। इसकी स्थिति, अभव्यकी अपेक्षासे अनादि-अनन्त और भव्यकी अपेक्षासे अनादि-सान्त है। परन्तु उपशम-श्रेणिसे गिरे हुए भव्यकी अपेक्षासे, उसकी स्थिति सादि-सान्त है। उपशम-श्रेणिसे गिरनेके बाद फिरसे अन्तर्मुहूर्त्तमें श्रेणि की जा सकती है; यदि अन्तर्मुहूर्त्तमें न की जा सकी तो अन्तमें कुछ-कम अर्धपुद्गल-परावर्त्तके बाद अवश्य की जाती है। इसलिये आठके उदयस्थानकी सादि-सान्त स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण और उत्कृष्ट देश-ऊन (कुछ कम) अर्धपुद्गल-परावर्त्त-प्रमाण समझनी चाहिये।

सातका उदयस्थान, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें पाया जाता है। इस उदयस्थानकी स्थिति, जघन्य एक समयकी और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्तकी मानी जाती है। जो जीव ग्यारहवें गुणस्थानमें एक समयमात्र रह कर मरता है और अनुत्तरविमानमें पैदा होता है, वह पैदा होते ही आठ कर्मके उदयका अनुभव करता है; इस अपेक्षासे सातके उदयस्थानकी जघन्य स्थिति समय-प्रमाण कही गई है। जो जीव, बारहवें गुणस्थानको पाता है, वह अधिकसे अधिक

उस गुणस्थानकी स्थिति तक—अन्तर्मुहूर्त्त तकके सातकर्मके उदयका अनुभव करता है, पीछे अवश्य तेरहवें गुणस्थानको पाकर चार कर्मके उदयका अनुभव करता है; इस अपेक्षासे सातके उदयस्थानकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण कही गई है। चारका उदयस्थान, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें पाया जाता है क्योंकि इन दो गुणस्थानोंमें अघातिकर्मके सिवाय अन्य किसी कर्मका उदय नहीं रहता ; इस उदयस्थानकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट, देश-ऊन करोड़ पूर्व वर्षकी है।

८. उदीरणास्थान।

आठका उदीरणास्थान, आयुकी उदीरणाके समय होता है। आयुकी उदीरणा पहले छह गुणस्थानोंमें होती है। अत एव यह उदीरणास्थान इन्हीं गुणस्थानोंमें पाया जाता है।

सातका उदीरणास्थान, उस समय होता है जिस समय कि आयुकी उदीरणा रुक जाती है। आयुकी उदीरणा तब रुक जाती है, जब वर्तमान आयु आवलिका[1]-प्रमाण शेष रह जाती है। वर्तमान आयुकी अन्तिम आवलिकाके समय पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा, ये पाँच गुणस्थान पाये जा सकते हैं; दूसरे नहीं। अतएव सातके उदीरणास्थानका सम्भव, इन पाँच गुणस्थानोंमें समझना चाहिये। तीसरे गुणस्थानमें सातका उदीरणास्थान नहीं होता, क्योंकि आवलिका-प्रमाण आयु शेष रहनेके समय, इस गुणस्थानका सम्भव ही नहीं है। इसलिये इस गुणस्थानमें आठका ही उदीरणास्थान माना जाता है।

छहका उदीरणास्थान सातवें गुणस्थानसे लेकर दसवें गुणस्थानकी एक आवलिका-प्रमाण स्थिति बाकी रहती है, तब तक

१—एक मुहूर्त्तके १, ६७, ७७, २१६ वें भागको 'आवलिका' कहते हैं।

पाया जाता है; क्योंकि उस समय आयु और वेदनीय, इन दोकी उदीरणा नहीं होती।

दसवें गुणस्थानकी अन्तिम आवलिका, जिसमें मोहनीयकी भी उदीरणा रुक जाती है, उससे लेकर बारहवें गुणस्थानकी अन्तिम आवलिका पर्यन्त पाँचका उदीरणास्थान होता है।

बारहवें गुणस्थानकी अन्तिम आवलिका, जिसमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, तीन कर्मकी उदीरणा रुक जाती है, उससे लेकर तेरहवें गुणस्थानके अन्त पर्यन्त दोका उदीरणा-स्थान होता है। चौदहवें गुणस्थानमें योग न होनेके कारण उदय रहने-पर भी नाम-गोत्रकी उदीरणा नहीं होती।

उक्त सब बन्धस्थान, सत्तास्थान आदि पर्याप्त संज्ञीके हैं; क्योंकि चौदहों गुणस्थानोंका अधिकारी वही है। किस किस गुणस्थानमें कौनसा कौनसा बन्धस्थान, सत्तास्थान, उदयस्थान और उदीरणा-स्थान है; इसका विचार आगे गा० ५९ से ६२ तकमें है॥ ८॥



प्रथमाधिकारके परिशिष्ट।

परिशिष्ट "क"।

पृष्ठ ५ के "लेश्या" शब्दपर—

१—लेश्याके (क) द्रव्य और (ख) भाव, इस प्रकार दो भेद हैं।

(क) द्रव्यलेश्या, पुद्गल-विशेषात्मक है। इसके स्वरूपके सम्बन्धमें मुख्यतया तीन मत हैं। (१) कर्मवर्गणा-निष्पन्न, (२) कर्म-निष्यन्द और (३) योग-परिणाम।

१ले मतका यह मानना है कि लेश्या द्रव्य, कर्म-वर्गणासे बने हुये हैं; फिर भी वे आठ कर्मसे भिन्न ही हैं, जैसा कि कार्मणशरीर। यह मत उत्तराध्ययन, अ० ३४ की टीका, पृ० ६५० पर उल्लिखित है।

२रे मतका आशय यह है कि लेश्या द्रव्य, कर्म-निष्यन्दरूप (बध्यमान कर्म-प्रवाहरूप) है। चौदहवें गुणस्थानमें कर्मके होनेपर भी उसका निष्यन्द न होनेसे लेश्याके अभावकी उपपत्ति की जाती है। यह मत उक्त पृष्ठपर ही निर्दिष्ट है, जिसको टीकाकार वादिवैताल श्रीशान्तिसूरिने 'गुरवस्तु व्याचक्षते' कहकर लिखा है।

३रा मत श्रीहरिभद्रसूरि आदिका है। इस मतका आशय श्रीमलयगिरिजीने पन्नवणा पद १७ की टीका, पृ० ३३० पर स्पष्ट बतलाया है। वे लेश्या-द्रव्यको योगवर्गणा-अन्तर्गत स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। उपाध्याय श्रीविनयविजयजीने अपने आगम-दोहनरूप लोकप्रकाश, सर्ग ३, श्लोक २८५ में इस मतको ही ग्राह्य ठहराया है।

(ख) भावलेश्या, आत्माका परिणाम-विशेष है, जो संक्लेश और योगसे अनुगत है। संक्लेशके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक भेद होनेसे वस्तुतः भावलेश्या, असंख्य प्रकारकी है तथापि संक्षेपमें छह विभाग करके शास्त्रमें उसका स्वरूप दिखाया है। देखिये, गा० १२वीं। छह भेदोंका स्वरूप समझनेकेलिये शास्त्रमें नीचे लिखे दो दृष्टान्त दिये गये हैं:—

पहिला:—कोई छह पुरुष जम्बूफल (जामुन) खानेकी इच्छा करते हुये चले जा रहे थे, इतनेमें जम्बूवृक्षको देख उनमेंसे एक पुरुष बोला—"लीजिये, जम्बूवृक्ष तो आ गया। अब फलोंकेलिये ऊपर चढ़नेकी अपेक्षा फलोंसे लदी हुई बड़ी-बड़ी शाखावाले इस वृक्षको काट गिराना ही अच्छा है।"

यह सुनकर दूसरेने कहा—"वृक्ष काटनेसे क्या लाभ? केवल शाखाओंको काट दो।"

तीसरे पुरुषने कहा—"यह भी ठीक नहीं, छोटी-छोटी शाखाओंके काट लेनेसे भी तो काम निकाला जा सकता है ?"

चौथेने कहा—"शाखायें भी क्यों काटना ? फलोंके गुच्छोंको तोड़ लीजिये।"

पाँचवाँ बोला—"गुच्छोंसे क्या प्रयोजन ? उनमेंसे कुछ फलोंको ही ले लेना अच्छा है।"

अन्तमें छठे पुरुषने कहा—"ये सब विचार निरर्थक हैं; क्योंकि हम लोग जिन्हें चाहते हैं, वे फल तो नीचे भी गिरे हुये हैं, क्या उन्हींसे अपना प्रयोजन-सिद्धि नहीं हो सकती है ?"

दूसरा:—कोई छह पुरुष धन लूटनेके इरादेसे जा रहे थे। रास्तेमें किसी गाँवको पाकर उनमेंसे एक बोला:—"इस गाँवको तहस-नहस कर दो—मनुष्य, पशु, पक्षी, जो कोई मिले, उन्हें मारो और धन लूट लो।"

यह सुनकर दूसरा बोला:—"पशु, पक्षी आदिको क्यों मारना ? केवल विरोध करनेवाले मनुष्योंहीको मारो।"

तीसरेने कहा:—"बेचारी स्त्रियोंकी हत्या क्यों करना ? पुरुषोंको मार दो।"

चौथेने कहा:—"सब पुरुषोंको नहीं; जो सशस्त्र हों, उन्हींको मारो।"

पाँचवेंने कहा:—"जो सशस्त्र पुरुष भी विरोध नहीं करते, उन्हें क्यों मारना ?"

अन्तमें छठे पुरुषने कहा:—"किसीको मारनेमें क्या लाभ ? जिस प्रकारसे धन अपहरण किया जा सके, उस प्रकारसे उसे उठा लो और किसीको मारो मत। एक तो धन लूटना और दूसरे उसके मालिकोंको मारना, यह ठीक नहीं।"

इन दो दृष्टान्तोंसे लेश्याओंका स्वरूप स्पष्ट जाना जाता है। प्रत्येक दृष्टान्तके छह-छह पुरुषोंमें पूर्व-पूर्व पुरुषके परिणामोंकी अपेक्षा उत्तर-उत्तर पुरुषके परिणाम शुभ, शुभतर और शुभतम पाये जाते हैं—उत्तर-उत्तर पुरुषके परिणामोंमें संक्लेशकी न्यूनता और मृदुताकी अधिकता पाई जाती है। प्रथम पुरुषके परिणामको 'कृष्णलेश्या,' दूसरेके परिणामको 'नीललेश्या', इस प्रकार क्रमसे छठे पुरुषके परिणामको 'शुक्ललेश्या' समझना चाहिये।—आवश्यक हारिभद्री वृत्तिपृ० ६४५ तथा लोक० प्र०, स० ३, श्लो० ३६३—३८०।

१ लेश्या-द्रव्यके स्वरूपसम्बन्धी उक्त तीनों मतके अनुसार तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त भाव-लेश्याका सद्भाव समझना चाहिये। यह सिद्धान्त गोम्मटसार-जीवकाण्डको भी मान्य है; क्योंकि उसमें योग-प्रवृत्तिको लेश्या कहा है। यथा:—

"अयदोत्ति छलेस्साओ, सुहतियलेस्सा दु देसविरदतिये
तत्तो सुक्का लेस्सा, अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥५३१॥"

सर्वार्थसिद्धिमें और गोम्मटसारके स्थानान्तरमें कषायोदय-अनुरञ्जित योग-प्रवृत्तिको 'लेश्या' कहा है। यद्यपि इस कथनसे दसवें गुणस्थान पर्यन्त ही लेश्याका होना पाया जाता है, पर यह

कथन अपेक्षा-कृत होनेके कारण पूर्व-कथनसे विरुद्ध नहीं है। पूर्व कथनमें केवल प्रकृति-प्रदेश-बन्धके निमित्तभूत परिणाम लेश्यारूपसे विवक्षित हैं। और इस कथनमें स्थिति-अनुभाग आदि चारों बन्धोंके निमित्तभूत परिणाम लेश्यारूपसे विवक्षित हैं, केवल प्रकृति-प्रदेश-बन्धके निमित्त-भूत परिणाम नहीं। यथाः—

"भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योग-प्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते।"

—सर्वार्थसिद्धि-अध्याय २, सूत्र ६।

"जोगपउत्ती लेस्सा, कसायउदयाणुरंजिया होइ।
तत्तो दोण्णं कज्जं, बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥४८९॥"

—जीवकाण्ड।

द्रव्यलेश्याके वर्ण-गन्ध आदिका विचार तथा भावलेश्याके लक्षण आदिका विचार उत्तराध्ययन, अ० ३४ में है। इसकेलिये प्रज्ञापना-लेश्यापद, आवश्यक, लोकप्रकाश आदि आकर ग्रन्थ श्वेताम्बर-साहित्यमें हैं। उक्त दो दृष्टान्तोंमेंसे पहला दृष्टान्त, जीवकाण्ड गा० ५०६-५०७ में है। लेश्याकी कुछ विशेष बातें जाननेकेलिये जीवकाण्डका लेश्यामार्गणाधिकार (गा० ४८८–५५५) देखने योग्य है।

जीवोंके आन्तरिक भावोंकी मलिनता तथा पवित्रताके तर-तम-भावका सूचक, लेश्याका विचार, जैसा जैन-शास्त्रमें है; कुछ उसीके समान, छह जातियोंका विभाग, मङ्खलीगोसालपुत्रके मतमें है, जो कर्मकी शुद्धि-अशुद्धिको लेकर कृष्ण-नील आदि छह वर्णोंके आधारपर किया गया है। इसका वर्णन, "दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त" में है।

"महाभारत" के १२,२८६ में भी छह 'जीव-वर्ण' दिये हैं, जो उक्त विचारसे कुछ मिलते-जुलते हैं।

"पातञ्जलयोगदर्शन" के ४,७ में भी ऐसी कल्पना है; क्योंकि उसमें कर्मके चार विभाग करके जीवोंके भावोंकी शुद्धि-अशुद्धिका पृथक्करण किया है। इसकेलिये देखिये, दीघनिकायका मराठी-भाषान्तर, पृ० ५६।

परिशिष्ट "ख"।

पृष्ठ १०, पंक्ति १८के 'पञ्चेन्द्रिय' शब्दपर—

जीवके एकेन्द्रिय आदि पाँच भेद किये गये हैं, सो द्रव्येन्द्रियके आधारपर; क्योंकि भावेन्द्रियाँ तो सभी संसारी जीवोंको पाँचों होती हैं। यथाः—

"अहवा पडुच्च लद्धिं,-दियं पि पंचेंदिया सव्वे ॥२९९९॥"

—विशेषावश्यक।

अर्थात् लब्धीन्द्रियकी अपेक्षासे सभी संसारी जीव पञ्चेन्द्रिय हैं।

"पंचेंदिउ व्व बउलो, नरो व्व सव्व-विसओवलंभाओ।" इत्यादि

—विशेषावश्यक, गा० ३००१।

अर्थात् सब विषयका ज्ञान होनेकी योग्यताके कारण बकुल-वृक्ष मनुष्यकी तरह पाँच इन्द्रियोंवाला है।

यह ठीक है कि द्वीन्द्रिय आदिकी भावेन्द्रिय, एकेन्द्रिय आदिकी भावेन्द्रियसे उत्तरोत्तर व्यक्त-व्यक्ततर ही होती है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिनको द्रव्येन्द्रियाँ, पाँच, पूरी नहीं हैं, उन्हें भी भावेन्द्रियाँ तो सभी होती ही हैं। यह बात आधुनिक विज्ञानसे भी प्रमाणित है। डा० जगदीशचन्द्र बसुकी खोजने वनस्पतिमें स्मरणशक्तिका अस्तित्व सिद्ध किया है। स्मरण, जो कि मानसशक्तिका कार्य है, वह यदि एकेन्द्रियमें पाया जाता है तो फिर उसमें अन्य इन्द्रियाँ, जो कि मनसे नीचेकी श्रेणिकी मानी जाती हैं, उनके होनेमें कोई बाधा नहीं। इन्द्रियके सम्बन्धमें प्राचीन कालमें विशेष-दर्शी महात्माओंने बहुत विचार किया है, जो अनेक जैन-ग्रन्थोंमें उपलब्ध है। उसका कुछ अंश इस प्रकार हैः—

इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैंः—(१) द्रव्यरूप और (२) भावरूप। द्रव्येन्द्रिय, पुद्गल-जन्य होनेसे जडरूप है; पर भावेन्द्रिय, ज्ञानरूप है, क्योंकि वह चेतना-शक्तिका पर्याय है।

(१) द्रव्येन्द्रिय, अङ्गोपाङ्ग और निर्माणनामकर्मके उदय-जन्य है। इसके दो भेद हैंः— (क) निर्वृत्ति और (ख) उपकरण।

(क) इन्द्रियके आकारका नाम 'निर्वृत्ति' है। निर्वृत्तिके भी (१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर, ये दो भेद हैं। (१) इन्द्रियके बाह्य आकारको 'बाह्यनिर्वृत्ति' कहते हैं और (२) भीतरी आकारको 'आभ्यन्तरनिर्वृत्ति'। बाह्य भाग तलवारके समान है और आभ्यन्तर भाग तलवारकी तेज धारके समान, जो अत्यन्त स्वच्छ परमाणुओंका बना हुआ होता है। आभ्यन्तरनिर्वृत्तिका

यह पुद्गलमय स्वरूप प्रज्ञापनासूत्र-इन्द्रियपदकी टीका पृ० २९४ के अनुसार है। आचाराङ्ग-वृत्ति पृ० १०४ में उसका स्वरूप चेतनामय बतलाया है।

आकारके सम्बन्धमें यह बात जाननी चाहिये कि त्वचाकी आकृति अनेक प्रकारकी होती है, पर उसके बाह्य और आभ्यन्तर आकारमें जुदाई नहीं है। किसी प्राणीकी त्वचाका जैसा बाह्य आकार होता है, वैसा ही आभ्यन्तर आकार होता है। परन्तु अन्य इन्द्रियोंके विषयमें ऐसा नहीं है:—त्वचाको छोड़ अन्य सब इन्द्रियोंके आभ्यन्तर आकार, बाह्य आकारसे नहीं मिलते। सब जातिके प्राणियोंकी सजातीय इन्द्रियोंके आभ्यन्तर आकार, एक तरहके माने हुये हैं। जैसे:—कानका आभ्यन्तर आकार, कदम्ब-पुष्प-जैसा, आँखका मसूरके दाना-जैसा, नाकका अतिमुक्तकके फूल-जैसा और जीभका छुरा-जैसा है। किन्तु बाह्य आकार, सब जातिमें भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। उदाहरणार्थः—मनुष्य, हाथी, घोड़ा, बैल, बिल्ली, चूहा आदिके कान, आँख, नाक, जीभको देखिये।

(ख) आभ्यन्तरनिर्वृत्तिकी विषय-ग्रहण-शक्तिको 'उपकरणेन्द्रिय' कहते हैं।

(२) भावेन्द्रिय दो प्रकारकी है:—(१) लब्धिरूप और (२) उपयोगरूप।

(१)—मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमको—चेतना-शक्तिकी योग्यता-विशेषको—'लब्धिरूप भावेन्द्रिय' कहते हैं। (२)—इस लब्धिरूप भावेन्द्रियके अनुसार आत्माकी विषय-ग्रहणमें जो प्रवृत्ति होती है, उसे 'उपयोगरूप भावेन्द्रिय' कहते हैं।

इस विषयको विस्तारपूर्वक जाननेकेलिये प्रज्ञापना-पद १५, पृ० २९३; तत्त्वार्थ-अध्याय २, सू० १७–१८ तथा वृत्ति; विशेषाव०, गा० २९९३–३००३ तथा लोकप्रकाश-सर्ग ३, श्लोक ४६४ से आगे देखना चाहिये।

परिशिष्ट "ग"।

पृष्ठ १०, पंक्ति १६ के "संज्ञा" शब्दपर—

संज्ञाका मतलब आभोग (मानसिक क्रिया-विशेष)से है। इसके (क) ज्ञान और (ख) अनु-भव, ये दो भेद हैं।

(क) मति, श्रुत आदि पाँच प्रकारका ज्ञान 'ज्ञानसंज्ञा' है।

(ख) अनुभवसंज्ञाके (१) आहार, (२) भय, (३) मैथुन, (४) परिग्रह, (५) क्रोध, (६) मान, (७) माया, (८) लोभ, (९) ओघ, (१०) लोक, (११) मोह, (१२) धर्म, (१३) सुख, (१४) दुःख, (१५) जुगुप्सा और (१६) शोक, ये सोलह भेद हैं। आचाराङ्ग-निर्युक्ति, गा० ३८—३९ में तो अनुभवसंज्ञाके ये सोलह भेद किये गये हैं। लेकिन भगवती-शतक ७, उद्देश ८ मे तथा प्रज्ञापना-पद ८ में इनमेंसे पहले दस ही भेद, निर्दिष्ट हैं।

ये संज्ञायें सब जीवोंमें न्यूनाधिक प्रमाणमें पाई जाती हैं; इसलिये ये संज्ञि-असंज्ञि-व्यव-हारकी नियामक नहीं हैं। शास्त्रमें संज्ञि-असंज्ञीका भेद है, सो अन्य संज्ञाओंकी अपेक्षासे। एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्तके जीवोंमें चैतन्यका विकास क्रमशः अधिकाधिक है। इस विकासके तर-तम-भावको समझानेकेलिये शास्त्रमें इसके स्थूल रीतिपर चार विभाग किये गये हैं।

(१) पहले विभागमें ज्ञानका अत्यन्त अल्प विकास विवक्षित है। यह विकास, इतना अल्प है कि इस विकाससे युक्त जीव, मूर्च्छितकी तरह चेष्टारहित होते हैं। इस अव्यक्ततर चैतन्यकी 'ओघसंज्ञा' कही गई है। एकेन्द्रिय जीव, ओघसंज्ञावाले ही हैं।

(२) दूसरे विभागमें विकासकी इतनी मात्रा विवक्षित है कि जिससे कुछ भूतकालका—सुदीर्घ भूतकालका नहीं—स्मरण किया जाता है और जिससे इष्ट विषयोंमें प्रवृत्ति तथा अनिष्ट विषयोंसे निवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति-निवृत्ति-कारी ज्ञानको 'हेतुवादोपदेशिकीसंज्ञा' कहा है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय जीव, हेतुवादोपदेशिकीसंज्ञावाले हैं।

(३) तीसरे विभागमें इतना विकास विवक्षित है कि जिससे सुदीर्घ भूतकालमें अनुभव किये हुये विषयोंका स्मरण और स्मरणद्वारा वर्तमान कालके कर्त्तव्योंका निश्चय किया जाता है। यह ज्ञान, विशिष्ट मनकी सहायतासे होता है। इस ज्ञानको 'दीर्घकालोपदेशिकीसंज्ञा' कहा है। देव, नारक और गर्भज मनुष्य-तिर्यञ्च, दीर्घकालोपदेशिकीसंज्ञावाले हैं।

(४) चौथे विभागमें विशिष्ट श्रुतज्ञान विवक्षित है। यह ज्ञान इतना शुद्ध होता है कि सम्यक्त्वियोंके सिवाय अन्य जीवोंमें इसका संभव नहीं है। इस विशुद्ध ज्ञानको 'दृष्टिवादोपदे-शिकीसंज्ञा' कहा है।

शास्त्रमें जहाँ-कहीं संज्ञी-असंज्ञीका उल्लेख है, वहाँ सब जगह असंज्ञीका मतलब ओघ-संज्ञावाले और हेतुवादोपदेशिकीसंज्ञावाले जीवोंसे है। तथा संज्ञीका मतलब सब जगह दीर्घकालोपदेशिकीसंज्ञावालोंसे है।

इस विषयका विशेष विचार तत्त्वार्थ-अ० २, सू० २५ वृत्ति, नन्दी सू० ३९, विशेषावश्यक गा० ५०४—५२६ और लोकप्र०, स० ३, श्लो० ४४२—४६३ में है।

संज्ञी-असंज्ञीके व्यवहारके विषयमें दिगम्बर-सम्प्रदायमें श्वेताम्बरकी अपेक्षा थोड़ासा भेद है। उसमें गर्भज-तिर्यञ्चोंको संज्ञीमात्र न मानकर संज्ञी तथा असंज्ञी माना है। इसी तरह संमूर्च्छिम-तिर्यञ्चको सिर्फ असंज्ञी न मानकर संज्ञी-असंज्ञी उभयरूप माना है। (जीव०, गा० ७९) इसके सिवाय यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्वेताम्बर-ग्रन्थमें हेतुवादोपदेशिकी आदि जो तीन संज्ञायें वर्णित हैं, उनका विचार दिगम्बरीय प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें दृष्टि-गोचर नहीं होता।

परिशिष्ट "घ" ।

पृष्ठ ११ के 'अपर्याप्त' शब्दपर—

(क) अपर्याप्तके दो प्रकार हैं:—(१) लब्धि-अपर्याप्त और (२) करण-अपर्याप्त । वैसे ही (ख) पर्याप्तके भी दो भेद हैं:—(१) लब्धि-पर्याप्त और (२) करण-पर्याप्त ।

(क) १—जो जीव, अपर्याप्तनामकर्मके उदयके कारण ऐसी शक्तिवाले हों, जिससे कि स्वयोग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण किये विना ही मर जाते हैं, वे 'लब्धि-अपर्याप्त' हैं ।

२—परन्तु करण-अपर्याप्तके विषयमें यह बात नहीं, वे पर्याप्तनामकर्मके भी उदयवाले होते हैं । अर्थात् चाहे पर्याप्तनामकर्मका उदय हो या अपर्याप्तनामकर्मका, पर जब तक करणोंकी (शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियोंकी) समाप्ति न हो, तब तक जीव 'करण-अपर्याप्त' कहे जाते हैं ।

(ख) १—जिनको पर्याप्तनामकर्मका उदय हो और इससे जो स्वयोग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण करनेके बाद ही मरते हैं, पहले नहीं, वे 'लब्धि-पर्याप्त' हैं ।

२—करण-पर्याप्तोंकेलिये यह नियम नहीं कि वे स्वयोग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण करके ही मरते हैं । जो लब्धि-अपर्याप्त हैं, वे भी करण-पर्याप्त होते ही हैं; क्योंकि आहारपर्याप्ति बन चुकनेके बाद कमसे कम शरीरपर्याप्ति बन जाती है, तभीसे जीव 'करण-पर्याप्त' माने जाते हैं । यह तो नियम ही है कि लब्धि-अपर्याप्त भी कमसे कम आहार, शरीर और इन्द्रिय, इन तीन पर्याप्तियोंको पूर्ण किये विना मरते नहीं । इस नियमके सम्बन्धमें श्रीमलयगिरिजीने नन्दीसूत्रकी टीका, पृ० १०५ में यह लिखा है:—

"यस्मादागामिभवायुर्बध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः तच्चाहार-शरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यत इति"

अर्थात् सभी प्राणी अगले भवकी आयुको बाँधकर ही मरते हैं, विना बाँधे नहीं मरते । आयु तभी बाँधी जा सकती है, जब कि आहार, शरीर और इन्द्रिय, ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण बन चुकी हों ।

इसी बातका खुलासा श्रीविनयविजयजीने लोकप्रकाश, सर्ग ३, श्लो० ३१ में इस प्रकार किया है:—जो जीव लब्धि-अपर्याप्त है, वह भी पहली तीन पर्याप्तियोंको पूर्ण करके ही अग्रिम भवकी आयु बाँधता है । अन्तर्मुहूर्त्त तक आयु-बन्ध करके फिर उसका जघन्य अबाधाकाल, जो अन्तर्मुहूर्त्तका माना गया है, उसे वह बिताता है; इसके बाद मरके वह गत्यन्तरमें जा सकता है । जो अग्रिम आयुको नहीं बाँधता और उसके अबाधाकालको पूरा नहीं करता, वह मर ही नहीं सकता ।

दिगम्बर-साहित्यमें करण-अपर्याप्तके बदले 'निर्वृत्ति अपर्याप्तक' शब्द मिलता है। अर्थमें भी थोड़ासा फर्क है। 'निर्वृत्ति' शब्दका अर्थ शरीर ही किया हुआ है। अत एव शरीरपर्याप्ति पूर्ण न होने तक ही दिगम्बरीय साहित्य, जीवको निर्वृत्ति अपर्याप्त कहता है। शरीरपर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद वह, निर्वृत्ति-अपर्याप्तका व्यवहार करनेकी सम्मति नहीं देता। यथाः—

"पज्जत्तस्सय उदये, णियणियपज्जतिणिट्ठिदो होदि।
जाव सरीरमपुण्णं, णिव्वत्तिअपुण्णगो ताव ॥१२०॥"

—जीवकाण्ड।

सारांश यह कि दिगम्बर-साहित्यमें पर्याप्तनामकर्मका उदयवाला ही शरीर-पर्याप्त पूर्ण न होने तक 'निर्वृत्ति-अपर्याप्त' शब्दसे अभिमत है।

परन्तु श्वेताम्बरीय साहित्यमें 'करण' शब्दका 'शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियाँ', इतना अर्थ किया हुआ मिलता है। यथाः—

"करणानि शरीराक्षादीनि।"

लोकप्र०, स० ३, श्लो० १०।

अत एव श्वेताम्बरीय सम्प्रदायके अनुसार जिसने शरीर-पर्याप्ति पूर्ण की है, पर इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण नहीं की है, वह भी 'करण-अपर्याप्त' कहा जा सकता है। अर्थात् शरीररूप करण पूर्ण करनेसे 'करण-पर्याप्त' और इन्द्रियरूप करण पूर्ण न करनेसे 'करण-अपर्याप्त' कहा जा सकता है। इस प्रकार श्वेताम्बरीय सम्प्रदायकी दृष्टिसे शरीरपर्याप्तिसे लेकर मनःपर्याप्ति पर्यन्त पूर्व-पूर्व पर्याप्तिके पूर्ण होनेपर 'करण-पर्याप्त' और उत्तरोत्तर पर्याप्तिके पूर्ण न होनेसे 'करण-अपर्याप्त' कह सकते हैं। परन्तु जब जीव, स्वयोग्य सम्पूर्ण पर्याप्तियोंको पूर्ण कर लेवे, तब उसे 'करण-अपर्याप्त' नहीं कह सकते।

पर्याप्तिका स्वरूपः—पर्याप्ति, वह शक्ति है, जिसकेद्वारा जीव, आहार-श्वासोच्छ्वास आदिके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है और गृहीत पुद्गलोंको आहार-आदिरूपमें परिणत करता है। ऐसी शक्ति जीवमें पुद्गलोंके उपचयसे बनती है। अर्थात् जिस प्रकार पेटके भीतरके भागमें वर्तमान पुद्गलोंमें एक तरहकी शक्ति होती है, जिससे कि खाया हुआ आहार भिन्न-भिन्नरूपमें बदल जाता है; इसी प्रकार जन्मस्थान-प्राप्त जीवकेद्वारा गृहीत पुद्गलोंसे ऐसी शक्ति बन जाती है, जो कि आहार आदि पुद्गलोंको खल-रस आदिरूपमें बदल देती है। वही शक्ति पर्याप्ति है। पर्याप्ति-जनक पुद्गलोंमेंसे कुछ तो ऐसे होते हैं, जो कि जन्मस्थानमें आये हुये जीवकेद्वारा प्रथम समयमें ही ग्रहण किये हुये होते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं, जो पीछेसे प्रत्येक समयमें ग्रहण किये जाकर, पूर्व-गृहीत पुद्गलोंके संसर्गसे तद्रूप बने हुये होते हैं।

कार्य-भेदसे पर्याप्तिके छह भेद हैं:—(१) आहारपर्याप्ति, (२) शरीरपर्याप्ति, (३) इन्द्रिय-पर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, (५) भाषापर्याप्ति और (६) मनःपर्याप्ति। इनकी व्याख्या, पहले कर्मग्रन्थकी ४९वीं गाथाके भावार्थमें पृ० ६७वेंसे देख लेनी चाहिये।

इन छह पर्याप्तियोंमेंसे पहली चार पर्याप्तियोंके अधिकारी एकेन्द्रिय ही हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय जीव, मनःपर्याप्तिके सिवाय शेष पाँच पर्याप्तियोंके अधिकारी हैं। संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय जीव छहों पर्याप्तियोंके अधिकारी हैं। इस विषयकी गाथा, श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण-कृत बृहत्संग्रहणीमें है:—

"आहारसरीरिंदिय,-पज्जत्ती आणपाणभासमणो।
चत्तारि पंच छप्पि य, एगिंदियविगलसंनीणं ॥३४९॥"

यही गाथा गोम्मटसार-जीवकाण्डमें ११८वें नम्बरपर दर्ज है। प्रस्तुत विषयका विशेष स्वरूप जाननेकेलिये ये स्थल देखने योग्य हैं:—

नन्दी, पृ० १०४–१०५; पञ्चसं०, द्वा० १, गा० ५ वृत्ति; लोकप्र०, स० ३, श्लो० ७–४२ तथा जीवकाण्ड, पर्याप्ति-अधिकार, गा० ११९–१२७।

परिशिष्ट "च"।

पृष्ठ २१ के 'क्रमभावी' शब्दपर—

छद्मस्थके उपयोग क्रमभावी हैं, इसमें मतभेद नहीं है, पर केवलीके उपयोगके सम्बन्धमें मुख्य तीन पक्ष हैं:—

(१) सिद्धान्त-पक्ष, केवलज्ञान और केवलदर्शनको क्रमभावी मानता है। इसके समर्थक श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि हैं।

(२) दूसरा पक्ष, केवलज्ञान-केवलदर्शन, उभय उपयोगको सहभावी मानता है। इसके पोषक श्रीमल्लवादी तार्किक आदि हैं।

(३) तीसरा पक्ष, उभय उपयोगोंका भेद न मानकर उनका ऐक्य मानता है। इसके स्थापक श्रीसिद्धसेन दिवाकर हैं।

तीनों पक्षोंकी कुछ मुख्य-मुख्यदलीलें क्रमशः नीचे दी जाती हैं:—

१—(क) सिद्धान्त (भगवती-शतक १८ और २५ के ६ उद्देश, तथा प्रज्ञापना-पद ३०) में ज्ञान-दर्शन दोनोंका अलग-अलग कथन है तथा उनका क्रमभावित्व स्पष्ट वर्णित है। (ख) निर्युक्ति (आ० नि० गा० ९७७–९७९) में केवलज्ञान-केवलदर्शन दोनोंका भिन्न-भिन्न लक्षण, उनके द्वारा सर्व-विषयक ज्ञान तथा दर्शनका होना और युगपत् दो उपयोगोंका निषेध स्पष्ट बतलाया है। (ग) केवलज्ञान-केवलदर्शनके भिन्न-भिन्न आवरण और उपयोगोंकी बारह संख्या शास्त्रमें (प्रज्ञापना, पद २९, पृ० ५२५ आदिमें) जगह-जगह वर्णित है। (घ) केवलज्ञान और केवलदर्शन, अनन्त कहे जाते हैं, सो लब्धिकी अपेक्षासे, उपयोगकी अपेक्षासे नहीं। उपयोगकी अपेक्षासे उनकी स्थिति एक समयकी है; क्योंकि उपयोगकी अपेक्षासे अनन्तता शास्त्रमें कहीं भी प्रतिपादित नहीं है। (ङ) उपयोगोंका स्वभाव ही ऐसा है, जिससे कि वे क्रमशः प्रवृत्त होते हैं। इसलिये केवलज्ञान और केवलदर्शनको क्रमभावी और अलग-अलग मानना चाहिये।

२—(क) आवरण-क्षयरूप निमित्त और सामान्य-विशेषात्मक विषय, समकालीन होनेसे केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपत् होते हैं। (ख) छाद्मस्थिक-उपयोगोंमें कार्यकारणभाव या परस्पर प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक-भाव घट सकता है, क्षायिक-उपयोगोंमें नहीं; क्योंकि बोध-स्वभाव शाश्वत आत्मा, जब निरावरण हो, तब उसके दोनों क्षायिक-उपयोग निरन्तर ही होने चाहिये। (ग) केवलज्ञान-केवलदर्शनकी सादि-अपर्यवसितता, जो शास्त्रमें कही है, वह भी युगपत्-पक्षमें ही घट सकती है; क्योंकि इस पक्षमें दोनों उपयोग युगपत् और निरन्तर होते रहते हैं। इसलिये द्रव्यार्थिकनयसे उपयोग-द्वयके प्रवाहको अपर्यवसित (अनन्त) कहा जा सकता है। (घ) केवलज्ञान-केवलदर्शनके सम्बन्धमें सिद्धान्तमें जहाँ-कहीं जो कुछ कहा गया है, वह सब दोनोंके व्यक्ति-भेदका साधक है, क्रमभावित्वका नहीं। इसलिये दोनों उपयोगको सहभावी मानना चाहिये।

३—(क) जैसे सामग्री मिलनेपर एक ज्ञान-पर्यायमें अनेक घट-पटादि विषय भासित होते हैं, वैसे ही आवरण-क्षय, विषय आदि सामग्री मिलनेपर एक ही केवल-उपयोग, पदार्थोंके सामान्य-विशेष उभय स्वरूपको जान सकता है। (ख) जैसे केवलज्ञानके समय, मतिज्ञानावरणादिका अभाव होनेपर भी मति आदि ज्ञान, केवलज्ञानसे अलग नहीं माने जाते, वैसे ही केवलदर्शनावरणका क्षय होनेपर भी केवलदर्शनको, केवलज्ञानसे अलग मानना उचित नहीं। (ग) विषय और क्षयोपशमकी विभिन्नताके कारण, छाद्मस्थिक ज्ञान और दर्शनमें परस्पर भेद माना जा सकता है, पर अनन्त-विषयकता और क्षायिक-भाव समान होनेसे केवलज्ञान-केवलदर्शनमें किसी तरह भेद नहीं माना जा सकता। (घ) यदि केवलदर्शनको केवलज्ञानसे अलग माना जाय तो वह सामान्यमात्रको विषय करनेवाला होनेसे अल्प-विषयक सिद्ध होगा, जिससे उसका शास्त्र-कथित अनन्त-विषयकत्व नहीं घट सकेगा। (ङ) केवलीका भाषण, केवलज्ञान-केवलदर्शन-पूर्वक होता है, यह शास्त्र-कथन अभेद-पक्षहीमें पूर्णतया घट सकता है। (च) आवरण-भेद कथञ्चित् है; अर्थात् वस्तुतः आवरण एक होनेपर भी कार्य और उपाधि-भेदकी अपेक्षासे उसके भेद समझने चाहिये इसलिये एक उपयोग-व्यक्तिमें ज्ञानत्व-दर्शनत्व दो धर्म अलग-अलग मानना चाहिये। उपयोग, ज्ञान-दर्शन दो अलग-अलग मानना युक्त नहीं; अत एव ज्ञान-दर्शन दोनों शब्द पर्यायमात्र (एकार्थवाची) हैं।

उपाध्याय श्रीयशोविजयजीने अपने ज्ञानबिन्दु पृ० १६४ में नय-दृष्टिसे तीनों पक्षोंका समन्वय किया है:—सिद्धान्त-पक्ष, शुद्ध ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षासे; श्रीमल्लवादीजीका पक्ष, व्यवहार-नयकी अपेक्षासे और श्रीसिद्धसेन दिवाकरका पक्ष, संग्रहनयकी अपेक्षासे जानना चाहिये। इस विषयका सविस्तर वर्णन, सम्मतितर्क; जीवकाण्ड गा० ३ से आगे; विशेषावश्यक भाष्य, गा० ३०८८–३१३५; श्रीहरिभद्रसूरिकृत धर्मसंग्रहणी गा० १३३६–१३५९; श्रीसिद्धसेनगणिकृत तत्त्वार्थटीका अ० १, सू० ३१, पृ० ७७; श्रीमलयगिरि-नन्दीवृत्ति पृ० १३४–१३८ और ज्ञानबिन्दु पृ० १५४-१६४ से जान लेना चाहिये।

दिगम्बर-सम्प्रदायमें उक्त तीन पक्षमेंसे दूसरा अर्थात् युगपत् उपयोग-द्वयका पक्ष ही प्रसिद्ध है:—

"जुगवं वट्टइ णाणं, केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतापं, जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥१६०॥"

—नियमसार।

"सिद्धाणं सिद्धगई, केवलणाणं च दंसणं खयियं।
सम्मत्तमणाहारं, उवजोगाणक्कमपउत्ती ॥७३०॥"—जीवकाण्ड।

"दंसणपुव्वं णाणं, छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगवं जम्हा केवलि—णाहे जुगवं तु ते दो वि ॥४४॥"

—द्रव्यसंग्रह।

परिशिष्ट "छ"।

पृष्ठ २२ के 'एकेन्द्रिय' शब्दपर—

एकेन्द्रियोंमें तीन उपयोग माने गये हैं। इसलिये यह शङ्का होती है कि 'स्पर्शनेन्द्रिय-मतिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेसे एकेन्द्रियोंमें मति-उपयोग मानना ठीक है, परन्तु भाषालब्धि (बोलनेकी शक्ति) तथा श्रवणलब्धि (सुननेकी शक्ति) न होनेके कारण उनमें श्रुत-उपयोग कैसे माना जा सकता है; क्योंकि शास्त्रमें भाषा तथा श्रवणलब्धिवालोंको ही श्रुतज्ञान माना है। यथा:—

"भावसुयं भासासो,-यलद्धिणो जुज्जए न इयरस्स।
भासाभिमुहस्स जयं, सोऊण य जं हविज्जाहि ॥१०२॥"

—विशेषावश्यक।

बोलने व सुननेकी शक्तिवालेहीको भावश्रुत हो सकता है, दूसरेको नहीं। क्योंकि 'श्रुत-ज्ञान' उस ज्ञानको कहते हैं, जो बोलनेकी इच्छावाले या वचन सुननेवालेको होता है।

इसका समाधान यह है कि स्पर्शनेन्द्रियके सिवाय अन्य द्रव्य (बाह्य) इन्द्रियाँ न होनेपर भी वृक्षादि जीवोंमें पाँच भावेन्द्रिय-जन्य ज्ञान का होना, जैसा शास्त्र-सम्मत है; वैसे ही बोलने और सुननेकी शक्ति न होनेपर भी एकेन्द्रियोंमें भावश्रुतज्ञानका होना शास्त्र-सम्मत है। यथा:-

"जह सुहुमं भाविंदिय,-नाणं दव्विंदियावरोहे वि।
तह दव्वसुयाभाव, भावसुयं पत्थिवाईणं ॥१०३॥"

—विशेषावश्यक।

जिस प्रकार द्रव्य-इन्द्रियोंके अभावमें भावेन्द्रिय-जन्य सूक्ष्म ज्ञान होता है, इसी प्रकार द्रव्यश्रुतके भाषा आदि बाह्य निमित्तके अभावमें भी पृथ्वीकायिक आदि जीवोंको अल्प भावश्रुत होता है। यह ठीक है कि औरोंको जैसा स्पष्ट ज्ञान होता है, वैसा एकेन्द्रियोंको नहीं होता। शास्त्रमें एकेन्द्रियोंको आहारका अभिलाष माना है, यही उनके अस्पष्ट ज्ञान माननेमें हेतु है।

आहारका अभिलाष, क्षुधावेदनीयकर्मके उदयसे होनेवाला आत्माका परिणाम-विशेष (अध्यवसाय) है। यथा:—

"आहारसंज्ञा आहाराभिलाषः क्षुद्वेदनीयोदयप्रभवः खल्वात्मपरिणाम इति।"

—आवश्यक, हारिभद्री वृत्ति पृ० ५८०।

इस अभिलापरूप अध्यवसायमें 'मुझे अमुक वस्तु मिले तो अच्छा', इस प्रकारका शब्द और अर्थका विकल्प होता है। जो अध्यवसाय विकल्पसहित होता है, वही श्रुतज्ञान कहलाता है। यथाः—

"इंदियमणोनिमित्तं, जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं।
निययत्थुत्तिसमत्थं, तं भावसुयं मई सेसं ॥१००॥"

—विशेषावश्यक।

अर्थात् इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान, जो नियत अर्थका कथन करनेमे समर्थ और श्रुतानुसारी (शब्द तथा अर्थके विकल्पसे युक्त) है, उसे 'भावश्रुत' तथा उससे भिन्न ज्ञानको 'मतिज्ञान' समझना चाहिये। अब यदि एकेन्द्रियोंमें श्रुत-उपयोग न माना जाय तो उनमें आहारका अभिलाष, जो शास्त्र-सम्मत है, वह कैसे घट सकेगा? इसलिये बोलने और सुननेको शक्ति न होनेपर भी उनमें अत्यन्त सूक्ष्म श्रुत-उपयोग अवश्य ही मानना चाहिये।

भाषा तथा श्रवणलब्धिवालेको ही भावश्रुत होता है, दूसरेको नहीं, इस शास्त्र-कथनका तात्पर्य इतना ही है कि उक्त प्रकारकी शक्तिवालेको स्पष्ट भावश्रुत होता है और दूसरोंको अस्पष्ट।

(२)--मार्गणास्थान-अधिकार।

मार्गणाके मूल भेद।

गइइंदिए य काये, जोए वेए कसायनाणेसु।
संजमदंसणलेसा,-भवसम्मे संनिआहारे ॥ ९ ॥

गतीन्द्रिये च काये, योगे वेदे कषायज्ञानयोः।
संयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वे संइयाहारे ॥ ९ ॥

अर्थ—मार्गणास्थानके गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारकत्व, ये चौदह भेद हैं ॥ ९ ॥

मार्गणाओंकी व्याख्या।

भावार्थ—(१) गति—जो पर्याय, गतिनामकर्मके उदयसे होते हैं और जिनसे जीवपर मनुष्य, तिर्यञ्च, देव या नारकका व्यवहार होता है, वे 'गति' हैं।

१—यह गाथा पञ्चसंग्रहकी है (द्वार १, गा० २१)। गोम्मटसार-जीवकाण्डमें यह इस प्रकार है:—

"गइइंदियेसु काये, जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्साभवियासम्मत्तसण्णिआहारे ॥१४१॥"

२—गोम्मटसार-जीवकाण्डके मार्गणाधिकारमें मार्गणाओंके जो लक्षण हैं, वे संक्षेपमें इस प्रकार हैं:—

(१) गतिनामकर्मके उदय-जन्य पर्याय या चार गति पानेके कारणभूत जो पर्याय, वे 'गति' कहलाते हैं। —गा० १४५।

(२) अहमिन्द्र देवके समान आपसमें स्वतन्त्र होनेसे नेत्र आदिको 'इन्द्रिय' कहते हैं। —गा० १६३।

(२) इन्द्रिय—त्वचा, नेत्र आदि जिन साधनोंसे सर्दी-गर्मी,

(३) जातिनामकर्मके नियत-सहचारी त्रस या स्थावर-नामकर्मके उदयसे होनेवाले पर्याय 'काय' हैं। —गा० १८०।

(४) पुद्गल-विपाकी शरीरनामकर्मके उदयसे मन, वचन और काय-युक्त जीवकी कर्म-ग्रहणमें कारणभूत जो शक्ति, वह 'योग' है। —गा० २१५।

(५) वेदमोहनीयके उदय-उदीरणासे होनेवाला परिणामका संमोह (चाञ्चल्य), जिससे गुण-दोषका विवेक नहीं रहता, वह 'वेद' है। —गा० २७१।

(६) 'कषाय' जीवके उस परिणामको कहते हैं, जिससे सुख-दुःखरूप अनेक प्रकारके धासको पैदा करनेवाले और संसाररूप विस्तृत सीमावाले कर्मरूप क्षेत्रका कर्षण किया जाता है। —गा० २८१।

सम्यक्त्व, देशचारित्र, सर्वचारित्र और यथाख्यातचारित्रका घात (प्रतिबन्ध) करनेवाला परिणाम 'कषाय' है। —गा० २८२।

(७) जिसकेद्वारा जीव तीन काल-सम्बन्धी अनेक प्रकारके द्रव्य, गुण और पर्यायको जान सकता है, वह 'ज्ञान' है। —गा० २९८।

(८) अहिंसा आदि व्रतोंके धारण, ईर्या आदि समितियोंके पालन, कषायोंके निग्रह, मन आदि दण्डके त्याग और इन्द्रियोंकी जयको 'संयम' कहा है। —गा० ४६४।

(९) पदार्थोंके आकारको विशेषरूपसे न जानकर सामान्यरूपसे जानना, वह 'दर्शन' है। —गा० ४८१।

(१०) जिस परिणामद्वारा जीव पुण्य-पाप कर्मको अपने साथ मिला लेता है, वह 'लेश्या' है। —गा० ४८८।

(११) जिन जीवोंकी सिद्धि कभी होनेवाली हो—जो सिद्धिके योग्य हैं, वे 'भव्य' और इसके विपरीत, जो कभी संसारसे मुक्त न होंगे, वे 'अभव्य' हैं। —गा० ५५६।

(१२) वीतरागके कहे हुये पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य या नव प्रकारके पदार्थोंपर आज्ञा-पूर्वक या अधिगमपूर्वक (प्रमाण-नय-निक्षेप-द्वारा) श्रद्धा करना 'सम्यक्त्व' है। —गा० ५६०।

(१३) नो-इन्द्रिय (मन) के आवरणका क्षयोपशम या उससे होनेवाला ज्ञान, जिसे संज्ञा कहते हैं, उसे धारण करनेवाला जीव 'संज्ञी' और इसके विपरीत, जिसको मनके सिवाय अन्य इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है, वह 'असंज्ञी' है। —गा० ६५९।

(१४) औदारिक, वैक्रिय और आहारक, इन तीनमेंसे किसी भी शरीरके योग्य वर्गणाओंको यथायोग्य ग्रहण करनेवाला जीव 'आहारक' है। —गा० ६६४।

काले-पीले आदि विषयोंका ज्ञान होता है और जो अङ्गोपाङ्ग तथा निर्माणनामकर्मके उदयसे प्राप्त होते हैं, वे 'इन्द्रिय' हैं।

(३) काय—जिसकी रचना और वृद्धि यथायोग्य औदारिक, वैक्रिय आदि पुद्गल-स्कन्धोंसे होती है और जो शरीरनामकर्मके उदयसे बनता है, उसे 'काय' (शरीर) कहते हैं।

(४) योग—वीर्य-शक्तिके जिस परिस्पन्दसे—आत्मिक-प्रदेशोंकी हल-चलसे—गमन, भोजन आदि क्रियायें होती हैं और जो परिस्पन्द, शरीर, भाषा तथा मनोवर्गणाके पुद्गलोंकी सहायतासे होता है, वह 'योग' है।

(५) वेद—संभोग-जन्य सुखके अनुभवकी इच्छा, जो वेद-मोहनीयकर्मके उदयसे होती है, वह 'वेद' है।

(६) कषाय—किसीपर आसक्त होना या किसीसे नाराज हो जाना, इत्यादि मानसिक-विकार, जो संसार-वृद्धिके कारण हैं और जो कषायमोहनीयकर्मके उदय-जन्य हैं, उनको 'कषाय' कहते हैं।

(७) ज्ञान—किसी वस्तुको विशेषरूपसे जाननेवाला चेतना-शक्तिका व्यापार (उपयोग), 'ज्ञान' कहलाता है।

(८) संयम—कर्मबन्ध-जनक प्रवृत्तिसे अलग हो जाना, 'संयम' कहलाता है।

(९) दर्शन—विषयको सामान्यरूपसे जाननेवाला चेतना-शक्तिका उपयोग 'दर्शन' है।

(१०) लेश्या—आत्माके साथ कर्मका मेल करानेवाले परिणाम-विशेष 'लेश्या' हैं।

(११)भव्यत्व—मोक्ष पानेकी योग्यताको 'भव्यत्व' कहते हैं।

(१२) सम्यक्त्व—आत्माके उस परिणामको सम्यक्त्व कहते हैं, जो मोक्षका अविरोधी है—जिसके व्यक्त होते ही आत्माकी प्रवृत्ति,

मुख्यतया अन्तर्मुख (भीतरकी ओर) हो जाती है। तत्त्व-रुचि, इसी परिणामका फल है[1]। प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता, ये पाँच लक्षण प्रायः सम्यक्त्वीमें पाये जाते हैं।

(१३) संज्ञित्व—दीर्घकालिकी संज्ञाकी प्राप्तिको 'संज्ञित्व' कहते हैं।

(१४) आहारकत्व—किसी-न-किसी प्रकारके आहारको[2] ग्रहण करना, 'आहारकत्व' है।

मूल प्रत्येक मार्गणामें सम्पूर्ण संसारी जीवोंका समावेश होता है ॥ ९ ॥

१—यही बात भट्टारक श्रीअकलङ्कदेवने कही है:—

"तस्मान् सम्यग्दर्शनमात्मपरिणामः श्रेयोभिमुखमध्यवस्यामः"

—तत्त्वा०-अ० १, सू० २, राज० १६।

२—आहार तीन प्रकारका है:—(१) ओज-आहार, (२) लोम-आहार और (३) कवल-आहार। इनका लक्षण इस प्रकार है:—

"सरीरेणोयाहारो, तयाइ फासेण लोम आहारो।
पक्खेवाहारो पुण, कवलियो होइ नायव्वो ॥"

गर्भमें उत्पन्न होनेके समय जो शुक्र-शोणितरूप आहार, कार्मणशरीरकेद्वारा लिया जाता है, वह ओज; वायुका त्वगिन्द्रियद्वारा जो ग्रहण किया जाता है, वह लोम और जो अन्न आदि खाद्य, मुखद्वारा ग्रहण किया जाता है, वह कवल-आहार है।

आहारका स्वरूप गोम्मटसार-जीवकाण्डमें इस प्रकार है:—

"उदयावण्णसरीरो,-दयेण तद्देहवयणचित्ताणं।
णोकम्मवग्गणाणं, गहणं आहारयं नाम ॥६६३॥"

शरीरनामकर्मके उदयसे देह, वचन और द्रव्यमनके बनने योग्य नोकर्म-वर्गणाओंका जो ग्रहण होता है, उसको 'आहार' कहते हैं।

दिगम्बर-साहित्यमें आहारके छह भेद किये हुये मिलते हैं। यथा:—

मार्गणास्थानके अवान्तर (विशेष) भेद ।

[चार गाथाओंसे ।]

सुरनरतिरिनिरयगई, इगबियतियचउपणिंदि छक्काया ।
भूजलजलणानिलवण,-तसा य मणवयणतणुजोगा ॥१०॥

सुरनरतिर्यङ्निरयगतिरेकद्विकत्रिकचतुष्पञ्चेन्द्रियाणि षट्कायाः ।
भूजलज्वलनानिलवनत्रसाश्च मनोवचनतनुयोगाः ॥ १० ॥

अर्थ—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक, ये चार गतियाँ हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय, ये पाँच इन्द्रिय हैं। पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, ये छह काय हैं। मनोयोग, वचनयोग और काययोग, ये तीन योग हैं ॥ १० ॥

(१)—गतिमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः—

भावार्थ—(१) देवगतिनामकर्मके उदयसे होनेवाला पर्याय (शरीरका विशिष्ट आकार), जिससे 'यह देव' है, ऐसा व्यवहार किया जाता है, वह 'देवगति'। (२) 'यह मनुष्य है,' ऐसा व्यवहार करानेवाला जो मनुष्यगतिनामकर्मके उदय-जन्य पर्याय, वह 'मनुष्यगति'। (३)जिस पर्यायसे जीव 'तिर्यञ्च' कहलाता है और जो तिर्यञ्चगतिनामकर्मके उदयसे होता है, वह 'तिर्यञ्चगति'। (४) जिस पर्यायको पाकर जीव, 'नारक' कहा जाता है और जिसका कारण नरकगतिनामकर्मका उदय है, वह 'नरकगति' है।

"णोकम्मकम्महारो, कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।
ओजमणो वि य कमसो, आहारो छव्विहो णेयो ॥"

—प्रमेयकमलमार्तण्डके द्वितीय परिच्छेदमें प्रमाणरूपसे उद्धृत ।

(२)—इन्द्रियमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः—

(१) जिस जातिमें सिर्फ त्वचा इन्द्रिय पायी जाती है और जो जाति, एकेन्द्रियजातिनामकर्मके उदयसे प्राप्त होती है, वह 'एकेन्द्रियजाति'। (२) जिस जातिमें दो इन्द्रियाँ (त्वचा, जीभ) हैं और जो द्वीन्द्रियजातिनामकर्मके उदय-जन्य है, वह 'द्वीन्द्रियजाति'। (३) जिस जातिमें इन्द्रियाँ तीन (उक्त दो तथा नाक) होती हैं और त्रीन्द्रियजातिनामकर्मका उदय जिसका कारण है, वह 'त्रीन्द्रियजाति'। (४) चतुरिन्द्रियजातिमें इन्द्रियाँ चार (उक्त तीन तथा नेत्र) होती हैं और जिसकी प्राप्ति चतुरिन्द्रियजातिनाम-कर्मके उदयसे होती है। (५) पञ्चेन्द्रियजातिमें उक्त चार और कान, ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं और उसके होनेमें निमित्त पञ्चे-न्द्रियजातिनामकर्मका उदय है।

(३)—कायमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः

(१) पार्थिव शरीर, जो पृथ्वीका बनता है, वह 'पृथ्वीकाय'। (२) जलीय शरीर, जो जलसे बनता है, वह 'जलकाय' (३) तैजसशरीर, जो तेजका बनता है, वह 'तेजःकाय'। (४) वायवीय शरीर, जो वायु-जन्य है, वह 'वायुकाय'। (५) वनस्पति-शरीर, जो वनस्पतिमय है, वह 'वनस्पतिकाय' है। ये पाँच काय, स्थावरनामकर्मके उदयसे होते हैं और इनके स्वामी पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीव हैं। (६) जो शरीर चल-फिर सकता है और जो त्रसनामकर्मके उदयसे प्राप्त होता है, वह 'त्रसकाय' है। इसके धारण करनेवाले द्वीन्द्रियसे पञ्चेन्द्रिय तक सब प्रकारके जीव हैं।

(४)—योगमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः—

(१) जीवका वह व्यापार 'मनोयोग' है, जो औदारिक, वैक्रिय

१—देखिये, परिशिष्ट "ज।"

या आहारक-शरीरकेद्वारा ग्रहण किये हुये मनोद्रव्य-समूहकी मददसे होता है। (२) जीवके उस व्यापारको 'वचनयोग' कहते हैं, जो औदारिक, वैक्रिय या आहारक-शरीरकी क्रियाद्वारा संचय किये हुये भाषाद्रव्यकी सहायतासे होता है। (३) शरीरधारी आत्माकी वीर्य-शक्तिका व्यापार-विशेष 'काययोग' कहलाता है ॥१०॥

(५)—वेदमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः—

वेय नरित्थिनपुंसा, कसाय कोहमयमायलोभ त्ति।
मइसुयवहिमणकेवल,-विहंगमइसुअनाण सागारा॥११॥

वेदा नरस्त्रिनपुंसकाः, कषायाः क्रोधमदमायालोभा इति।
मतिश्रुतावधिमनःकेवलविभङ्गमतिश्रुताज्ञानानि साकाराणि ॥११॥

अर्थ—पुरुष, स्त्री और नपुंसक, ये तीन वेद हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार भेद कषायके हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञान, ये आठ साकार (विशेष) उपयोग हैं ॥११॥

भावार्थ—(१) स्त्रीके संसर्गकी इच्छा 'पुरुषवेद', (२) पुरुषके संसर्ग करनेकी इच्छा 'स्त्रीवेद' और (३) स्त्री-पुरुष दोनोंके संसर्गकी इच्छा 'नपुंसकवेद' है।

१—यह लक्षण भाववेदका है। द्रव्यवेदका निर्णय बाहरी चिह्नोंसे किया जाता है:—पुरुषके चिह्न, डाढ़ी-मूँछ आदि हैं। स्त्रीके चिह्न, डाढ़ी-मूँछका अभाव तथा स्तन आदि हैं। नपुंसकमें स्त्री-पुरुष दोनोंके कुछ-कुछ चिह्न होते हैं।

यही बात प्रज्ञापना-भाषापदकी टीकामें कही हुई है:—

"योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं, मुग्धता क्लीबता स्तनौ।
पुँस्कामितेति लिङ्गानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥१॥
मेहनं खरता दार्ढ्यं, शौण्डीर्यं श्मश्रु धृष्टता।
स्त्रीकामितेति लिङ्गानि, सप्त पुँस्त्वे प्रचक्षते ॥२॥

स्तनादिश्मश्रकेशादि,-भावाभावसमन्वितम्।
नपुंसकं बुधाः प्राहु,-र्मोहानलसुदीपितम् ॥३॥"

बाह्य चिह्नके सम्बन्धमें यह कथन बहुलताकी अपेक्षासे है; क्योंकि,कभी-कभी पुरुषके चिह्न, स्त्रीमें और स्त्रीके चिह्न, पुरुषमें देखे जाते हैं। इस बातकी सत्यताकेलिये नीचे-लिखे उद्धरण देखने योग्य हैं:—

"मेरे परम मित्र डाक्टर शिवप्रसाद, जिस समय कोटा हास्पिटल में थे (अब आपने स्वतन्त्र मेडिकल हाल खोलनेके इरादेसे नौकरी छोड़ दी है), अपनी आँखों देखा हाल इस प्रकार बयान करते हैं कि 'डाक्टर मेकवाट साहब के जमाने में (कि जो उस समय कोटे में चीफ़ मेडिकल आफ़िसर थे)........एक व्यक्ति पर मूर्छावस्था (अन्डर क्लोरोफ़ार्म) में शस्त्रचिकित्सा (औपरेशन) करनी थी, अतएव उसे मूर्छित किया गया; देखते क्या हैं कि उसके शरीरमें स्त्री और पुरुष दोनोंके चिन्ह विद्यमान हैं। ये दोनों अवयव पूर्ण रूपसे विकास पाए हुए थे। शस्त्रचिकित्सा किये जाने पर उसे होश में लाया गया, होशमें आने पर उससे पूछने पर मालूम हुआ कि उसने उन दोनों अवयवोंसे पृथक् २ उनका कार्य्य लिया है, किन्तु गर्भादिक शंकाके कारण उसने स्त्री विषयक अवयवसे कार्य्य लेना छोड़ दिया है।' यह व्यक्ति अब तक जीवित है।"

"सुनने में आया है और प्रायः सत्य है कि 'मेरवाड़ा डिसट्रिक्ट (Merwara District) में एक व्यक्ति के लड़का हुआ। उसने वयस्क होने पर एण्ट्रेन्स पास किया। इसी अर्से में माता पिता ने उसका विवाह भी कर दिया, क्योंकि उसके पुरुष होने में किसी प्रकार की शंका तो थी ही नहीं; किन्तु विवाह होने पर मालूम हुआ कि वह पुरुषत्वके विचारसे सर्वथा अयोग्य है। अतएव डाक्टरी जांच करवाने पर मालूम हुआ कि वह वास्तव में स्त्री है और स्त्रीचिन्ह के

(६)—कषायमार्गणाके[1] भेदोंका स्वरूपः—

(१) 'क्रोध' वह विकार है, जिससे किसीकी भली-बुरी बात सहन नहीं की जाती या नाराज़ी होती है। (२) जिस दोषसे छोटे-बड़ेके प्रति उचित नम्र भाव नहीं रहता या जिससे ऐंठ हो, वह 'मान' है।

ऊपर पुरुषचिन्ह नाम मात्र को बन गया है—इसी कारण वह चिन्ह निरर्थक है—अतएव डाक्टर के इस कृत्रिम चिन्ह को दूर कर देने पर उसका शुद्ध स्त्रीस्वरूप प्रकट हो गया और उन दोनों स्त्रियों (पुरुषरूपधारी स्त्री और उसकी विवाहिता स्त्री) की एक ही व्यक्ति से शादी कर दी गई।' यह स्त्री कुछ समय पहिले तक जीवित बतलाई जाती है।"

—मानव-मन्ततिशास्त्र प्रकरण छठा।

यह नियम नहीं है कि द्रव्यवेद और भाववेद समान ही हों। ऊपरमे पुरुषके चिह्न होनेपर भी भावसे स्त्रीवेदके अनुभवका सम्भव है। यथा.—

"प्रारब्धे रतिकेलिसंकुलरणारम्भे तया साहस –
प्रायं कान्तजयाय किञ्चिदुपरि प्रारम्भि तत्संभ्रमात्।
खिन्ना येन कटीतटी शिथिलता दोर्वल्लिरुत्कम्पितम्,
वक्षो मीलितमौक्षि पौरुषरसः स्त्रीणां कुतः सिद्ध्यति ॥ ७॥"

—सुभाषितरत्नभाण्डागार-विपरीतरतक्रिया।

इसी प्रकार अन्य वेदोंके विषयमे भी विपर्ययका सम्भव है, तथापि बहुधा द्रव्य और भाव वेदमे समानता—बाह्य चिह्नके अनुसार ही मानसिक विक्रिया—पाई जाती है।

गोम्मटसार-जीवकाण्डमें पुरुष आदि वेदका लक्षण शब्द-व्युत्पत्तिके अनुसार किया है।

—गा० २७२—७४।

१—काषायिक शक्तिके तीव्र-मन्द-भावकी अपेक्षासे क्रोधादि प्रत्येक कषायके अनन्तानुबन्धी आदि चार-चार भेद कर्मग्रन्थ और गोम्मटसार जीवकाण्डमें समान हैं। किन्तु गोम्मटसारमें लेश्याकी अपेक्षासे चौदह चौदह और आयुके बन्धाबन्धकी अपेक्षासे बीस-बीस भेद किये गये हैं; उनका विचार श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें नहीं देखा गया। इन भेदोंकेलिये देखिये, जीव० गा० २९१ से २९४ तक।

(३) 'माया' उसे कहते हैं, जिससे छल-कपटमें प्रवृत्ति होती है। (४) 'लोभ' ममत्वको कहते हैं।

(७)—ज्ञानमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः—

(१) जो ज्ञान इन्द्रियके तथा मनकेद्वारा होता है और जो बहुतकर वर्तमानकालिक विषयोंको जानता है, वह 'मतिज्ञान है'। (२) जो ज्ञान, श्रुतानुसारी है—जिसमें शब्द-अर्थका सम्बन्ध भासित होता है—और जो मतिज्ञानके बाद होता है; जैसेः-'जल' शब्द सुनकर यह जानना कि यह शब्द पानीका बाधक है अथवा पानी देखकर यह विचारना कि यह, 'जल' शब्दका अर्थ है, इस प्रकार उसके सम्बन्धकी अन्य-अन्य बातोंका विचार करना, वह 'श्रुतज्ञान' है। (३) 'अवधिज्ञान' वह है, जो इन्द्रियों और मनकी सहायताके बिना ही उत्पन्न होता है—जिसके होनेमें आत्माकी विशिष्ट योग्यतामात्र अपेक्षित है—और जो रूपवाले विषयोंको ही जानता है। (४) 'मनःपर्यायज्ञान' वह है, जो संज्ञी जीवोंके मनकी अवस्थाओंको जानता है और जिसके होनेमें आत्मा के विशिष्ट क्षयोपशममात्रकी अपेक्षा है, इन्द्रिय-मनकी नहीं। (५) 'केवलज्ञान,' उस ज्ञानको कहते हैं, जिससे त्रैकालिक सब वस्तुएँ, जानी जाती हैं और जो परिपूर्ण, स्थायी तथा स्वतन्त्र है। (६) विपरीत मति-उपयोग, 'मति-अज्ञान' है; जैसेः-घट आदिको एकान्त सद्रूप मानना अर्थात् यह मानना कि वह किसी अपेक्षासे असद्रूप नहीं है। (७) विपरीत श्रुत-उपयोग 'श्रुत-अज्ञान' है; जैसेः-'हरि' आदि किसी शब्दको सुनकर यह निश्चय करना कि इसका अर्थ 'सिंह' है, दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता, इत्यादि। (८) विपरीत अवधि-उपयोग ही 'विभङ्गज्ञान' है। कहा जाता है कि शिवराजर्षिको ऐसा ज्ञान था; क्योंकि उन्होंने सात द्वीप तथा सात समुद्र देखकर उतनेमें ही सब द्वीप-समुद्रका निश्चय किया था।

जिस समय मिथ्यात्वका उदय हो आता है, उस समय जीव कदाग्रही बन जाता है, जिससे वह किसी विषयका यथार्थ स्वरूप जानने नहीं पाता; उस समय उसका उपयोग—चाहे वह मतिरूप हो, श्रुतरूप हो या अवधिरूप हो—अज्ञान (अयथार्थ-ज्ञान) रूपमें बदल जाता है।

मनःपर्याय और केवलज्ञान, ये दो उपयोग, मिथ्यात्वीको होते ही नहीं; इससे वे ज्ञानरूप ही हैं।

ये आठ उपयोग, साकार इसलिये कहे जाते हैं कि इनकेद्वारा वस्तुके सामान्य-विशेष, उभय रूपमेंसे विशेष रूप (विशेष आकार) मुख्यतया जाना जाता है ॥११॥

(८)—संयममार्गणाके भेदोंका स्वरूप:—

सामाइछेयपरिहा,-रसुहुमअहक्खायदेसजयअजया।
चक्खुअचक्खूओही,-केवलदंसण अणागारा ॥ १२ ॥

सामायिकच्छेदपरिहारसूक्ष्मयथाख्यातदेशयतायतानि।
चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनान्यनाकाराणि ॥ १२ ॥

अर्थ—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्ध, सूक्ष्मसम्पराय, यथाख्यात, देशविरति और अविरति, ये सात भेद संयममार्गणाके हैं। चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन, ये चार उपयोग अनाकार हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—(१) जिस संयममें समभावकी (राग-द्वेषके अभावकी) प्राप्ति हो, वह 'सामायिकसंयम' है। इसके (क) 'इत्वर' और (ख) 'यावत्कथित', ये दो भेद हैं।

(क) 'इत्वरसामायिकसंयम' वह है, जो अभ्यासार्थी शिष्योंको स्थिरता प्राप्त करनेकेलिये पहले-पहल दिया जाता है और

जिसकी काल-मर्यादा उपस्थापन पर्यन्त—बड़ी दीक्षा लेने तक—मानी गई है। यह संयम भरत-ऐरवत-क्षेत्रमें प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्करके शासनके समय ग्रहण किया जाता है। इसके धारण करनेवालोंको प्रतिक्रमणसहित पाँच महाव्रत अङ्गीकार करने पड़ते हैं तथा इस संयमके स्वामी 'स्थितकल्पी'[1] होते हैं।

(ख) 'यावत्कथितसामायिकसंयम' वह है, जो ग्रहण करनेके समयसे जीवनपर्यन्त पाला जाता है। ऐसा संयम भरत-ऐरवत-क्षेत्र-में मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करोंके शासनमें ग्रहण किया जाता है, पर महाविदेहक्षेत्रमें तो यह संयम, सब समयमें लिया जाता है। इस संयमके धारण करनेवालोंको महाव्रत चार और कल्प स्थितास्थित होता है।

(२) प्रथम संयम-पर्यायको छेदकर फिरसे उपस्थापन (व्रता-रोपण) करना—पहले जितने समय तक संयमका पालन किया हो, उतने समयको व्यवहारमें न गिनना और दुबारा संयम ग्रहण करनेके समयसे दीक्षाकाल गिनना व छोटे-बड़ेका व्यवहार करना—'छेदो-पस्थापनीयसंयम' है। इसके (क) 'सातिचार' और (ख) 'निरतिचार,' ये दो भेद हैं।

(क) 'सातिचार-छेदोपस्थापनीयसंयम' वह है, जो किसी कारणसे मूलगुणोंका—महाव्रतोंका—भङ्ग हो जानेपर फिरसे ग्रहण किया जाता है।

(ख) 'निरतिचार-छेदोपस्थापनीय', उस संयमको कहते

१—आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातरपिण्ड, राजपिण्ड, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा, इन दस कल्पोंमें जो स्थित हैं, वे 'स्थितकल्पी' और शय्यातरपिण्ड, व्रत, ज्येष्ठ तथा कृतिकर्म, इन चारमें नियमसे स्थित और शेष छह कल्पोंमें जो अस्थित होते हैं, वे 'स्थितास्थितकल्पी' कहे जाते हैं। —आव० हारिभद्री वृत्ति, पृ० ७९०, पञ्चाशक, प्रकरण १७।

हैं, जिसको इत्वरसामायिकसंयमवाले बड़ी दीक्षाके रूपमें ग्रहण करते हैं। यह संयम, भरत-ऐरवत-क्षेत्रमें प्रथम तथा चरम तीर्थङ्करके साधुओंको होता है और एक तीर्थके साधु, दूसरे तीर्थमें जब दाखिल होते हैं; जैसेः—श्रीपार्श्वनाथके केशीगाङ्गेय[1] आदि सान्तानिक साधु, भगवान् महावीरके तीर्थमें दाखिल हुये थे; तब उन्हें भी पुनर्दीक्षारूपमें यही संयम होता है।

(३) 'परिहारविशुद्धसंयम'[2] वह है, जिसमें 'परिहारविशुद्धि' नामकी तपस्या की जाती है। परिहारविशुद्धि तपस्याका विधान संक्षेपमें इस प्रकार हैः—

१—इस बातका वर्णन भगवतीसूत्रमें है।

२—इस संयमका अधिकार पानेकेलिये गृहस्थ-पर्याय (उम्र) का जघन्य प्रमाण २९ साल साधु-पर्याय (दीक्षाकाल) का जघन्य प्रमाण २० साल और दोनो पर्यायका उत्कृष्ट प्रमाण कुछ-कम करोड़ पूर्व वर्ष माना है। यथाः—

"एयस्स एस नेओ, गिहिपरिआओ जहन्नि गुणतीसा।
जइपरियाओ वीसा, दोसु वि उक्कोस देसूणा॥"

इस संयमके अधिकारीको साढ़े नव पूर्वका ज्ञान होता है; यह श्रीजयसोमसूरिने अपने टबेमें लिखा है। इसका ग्रहण तीर्थङ्करके या तीर्थङ्करके अन्तेवासीके पास माना गया है। इस संयमको धारण करनेवाले मुनि, दिनके तीसरे प्रहरमें भिक्षा व विहार कर सकते हैं और अन्य समयमें ध्यान, कायोत्सर्ग आदि। परन्तु इस विषयमें दिगम्बर-शास्त्रका थोड़ासा मत-भेद है। उसमें तीस वर्षकी उम्रवालेको इस संयमका अधिकारी माना है। अधिकारीकेलिये नौ पूर्वका ज्ञान आवश्यक बतलाया है। तीर्थङ्करके सिवाय और किसीके पास उस संयमके ग्रहण करनेकी उसमें मनाही है। साथ ही तीन संध्याओंको छोड़कर दिनके किसी भागमें दो कोस तक जानेकी उसमें सम्मति है। यथाः—

"तीसं वासो जम्मे, वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले।
पच्चक्खाणं पढिदो, संझूण दुगाउयविहारो॥४७२॥"

—जीवकाण्ड।

नौ साधुओंका एक गण (समुदाय) होता है, जिसमेंसे चार तपस्वी बनते हैं, चार उनके परिचारक (सेवक और एक वाचनाचार्य । जो तपस्वी हैं, वे ग्रीष्मकालमें जघन्य एक, मध्यम दो और उत्कृष्ट तीन, उपवास करते हैं । शीतकालमें जघन्य दो, मध्यम तीन और उत्कृष्ट चार, उपवास करते हैं । परन्तु वर्षाकालमें जघन्य तीन, मध्यम चार और उत्कृष्ट पाँच, उपवास करते हैं । तपस्वी, पारणाके दिन अभिग्रहसहित आयंबिल[२] व्रत करते हैं । यह क्रम, छह महीने तक चलता है । दूसरे छह महीनोंमें पहलेके तपस्वी तो परिचारक बनते हैं और परिचारक, तपस्वी ।

दूसरे छह महीनेकेलिये तपस्वी बने हुये साधुओंकी तपस्याका वही क्रम होता है, जो पहलेके तपस्वियोंकी तपस्याका । परन्तु जो साधु परिचारक-पद ग्रहण किये हुये होते हैं, वे सदा आयंबिल ही करते हैं । दूसरे छह महीनेके बाद, तीसरे छह महीनेकेलिये वाचनाचार्य्य ही तपस्वी बनता है; शेष आठ साधुओंमेंसे कोई एक वाचनाचार्य और बाकीके सब परिचारक होते हैं । इस प्रकार तीसरे छह महीने पूर्ण होनेके बाद अठारह मासकी यह 'परिहारविशुद्धि' नामक तपस्या समाप्त होती है । इसके बाद वे जिनकल्प ग्रहण करते हैं अथवा वे पहले जिस गच्छके रहे हों, उसीमें दाखिल होते हैं या फिर भी वैसी ही तपस्या शुरू करते हैं । परिहारविशुद्धसंयमके 'निर्विशमानक' और 'निर्विष्टकायिक', ये दो भेद हैं । वर्तमान परिहारविशुद्धको 'निर्विशमानक' और भूत परिहारविशुद्धको 'निर्विष्टकायिक' कहते हैं ।

(४) जिस संयममें सम्पराय (कषाय) का उदय सूक्ष्म (अति-

२—यह एक प्रकारका व्रत है, जिसमें घी, दूध आदि रसको छोड़कर केवल अन्न खाया जाता है; सो भी दिनमें एक ही दफा । पानी इसमें गरम पिया जाता है ।

—आवश्यक नि०, गा० १६०३-५ ।

स्वल्प) रहता है, वह 'सूक्ष्मसम्परायसंयम' है। इसमें लोभ-कषाय उदयमान होता है, अन्य नहीं। यह संयम दसवें गुणस्थान-वालोंको होता है। इसके (क) 'संक्लिश्यमानक' और (ख) 'विशुद्ध्य-मानक', ये दो भेद हैं।

(क) उपशमश्रेणिसे गिरनेवालोंको दसवें गुणस्थानकी प्राप्तिके समय जो संयम होता है, वह 'संक्लिश्यमानकसूक्ष्मसम्परायसंयम' है; क्योंकि पतन होनेके कारण उस समय परिणाम संक्लेश-प्रधान ही होते जाते हैं।

(ख) उपशमश्रेणि या क्षपकश्रेणिपर चढ़नेवालोंको दसवें गुणस्थानमें जो संयम होता है, वही 'विशुद्ध्यमानकसूक्ष्मसम्पराय-संयम' है; क्योंकि उस समयके परिणाम विशुद्धि-प्रधान ही होते हैं।

(५) जो संयम यथातथ्य है अर्थात् जिसमें कषायका उदय-लेश भी नहीं है, वह 'यथाख्यातसंयम' है। इसके (क) 'छाद्मस्थिक' और (ख) 'अछाद्मस्थिक,' ये दो भेद हैं।

(क) 'छाद्मस्थिकयथाख्यातसंयम' वह है, जो ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानवालोंको होता है। ग्यारहवें गुणस्थानकी अपेक्षा बारहवें गुणस्थानमें विशेषता यह है कि ग्यारहवेंमें कषायका उदय नहीं होता, उसकी सत्तामात्र होती है; पर बारहवेंमें तो कषायकी सत्ता भी नहीं होती।

(ख) 'अछाद्मस्थिकयथाख्यातसंयम' केवलियोंको होता है। सयोगी केवलीका संयम 'सयोगीयथाख्यात' और अयोगी केवलीका संयम 'अयोगीयथाख्यात' है।

(६) कर्मबन्ध-जनक आरम्भ-समारम्भसे किसी अंशमें निवृत्त होना 'देशविरतिसंयम' कहलाता है। इसके अधिकारी गृहस्थ हैं[1]।

१—श्रावककी दयाका परिमाणः—मुनि सब तरहकी हिंसासे मुक्त रह सकते हैं, इसलिये उनकी दया परिपूर्ण कही जाती है। पर गृहस्थ वैसे रह नहीं सकते; इसलिये उनकी दयाका

(७) किसी प्रकारके संयमका स्वीकार न करना 'अविरति' है। यह पहलेसे चौथे तक चार गुणस्थानोंमें पायी जाती है।

(९)-दर्शनमार्गणाके चार भेदोंका स्वरूपः—

(१) चक्षु (नेत्र) इन्द्रियकेद्वारा जो सामान्य बोध होता है, वह 'चक्षुर्दर्शन' है।

(२) चक्षुको छोड़ अन्य इन्द्रियकेद्वारा तथा मनकेद्वारा जो सामान्य बोध होता है, वह 'अचक्षुर्दर्शन' है।

परिमाण बहुत-कम कहा गया है। यदि मुनियोंकी दयाको बीस अंश मान लें तो श्रावकोंकी दयाको सवा अंश कहना चाहिये। इसी बातको जैनशास्त्रीय परिभाषामें कहा है कि "साधुओंकी दया बीस बिस्वा और श्रावकोंकी दया सवा बिस्वा है"। इसका कारण यह है कि श्रावक, त्रस जीवोंकी हिंसाको छोड़ सकते हैं, बादर जीवोंकी हिंसाको नहीं। इससे मुनियोंकी बीस बिस्वा दयाकी अपेक्षा आधा परिमाण रह जाता है। इसमें भी श्रावक, त्रसकी संकल्पपूर्वक हिंसाका त्याग कर सकते हैं, आरम्भ-जन्य हिंसाका नहीं। अत एव उस आधे परिमाणमेंसे भी आधा हिस्सा निकल जानेपर पाँच बिस्वा दया बचती है। इच्छा-पूर्वक हिंसा भी उन्हीं त्रसोंकी त्याग की जा सकती है, जो निरपराध हैं। सापराध त्रसोंकी हिंसासे श्रावक मुक्त नहीं हो सकते, इससे ढाई बिस्वा दया रहती है। इसमेंसे भी आधा अंश निकल जाता है; क्योंकि निरपराध त्रसोंकी भी सापेक्षहिंसा श्रावकोंकेद्वारा हो ही जाती है, वे उनकी निरपेक्षहिंसा नहीं करते। इसीसे श्रावकोंकी दयाका परिमाण सवा बिस्वा माना है। इस भावको जाननेकेलिये एक प्राचीन गाथा इस प्रकार है:—

"जीवा सुहुमा थूला, संकप्पा आरंभा भवे दुविहा।
सावराह निरवराहा, सविक्खा चेव निरविक्खा॥"

इसके विशेष खुलासेकेलिये देखिये, जैनतत्त्वादर्शका परिच्छेद १८वाँ।

१—यद्यपि सब जगह दर्शनके चार भेद ही प्रसिद्ध हैं और इसीसे मनःपर्यायदर्शन नहीं माना जाता है। तथापि कहीं-कहीं मनःपर्यायदर्शनको भी स्वीकार किया है। इसका उल्लेख, तत्त्वार्थ-अ० १, सू० २४ की टीकामें है:—

"केचित्तु मन्यन्ते प्रज्ञापनायां मनःपर्यायज्ञाने दर्शनता पठ्यते"

(३) अवधिलब्धिवालोंको इन्द्रियोंकी सहायताके विना ही रूपी द्रव्य-विषयक जो सामान्य बोध होता है, वह 'अवधिदर्शन' है।

(४) सम्पूर्ण द्रव्य-पर्य्यायोंको सामान्यरूपसे विषय करनेवाला बोध 'केवलदर्शन' है।

दर्शनको अनाकार-उपयोग इसलिये कहते हैं कि इसकेद्वारा वस्तुके सामान्य-विशेष, उभय रूपोंमेंसे सामान्य रूप (सामान्य आकार) मुख्यतया जाना जाता है। अनाकार-उपयोगको न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनोंमें 'निर्विकल्पअव्यवसायात्मकज्ञान' कहते हैं ॥१२॥

(१०)—लेश्याके भेदोंका स्वरूपः—

किण्हा नीला काऊ, तेऊ पम्हा य सुक्क भव्वियरा।
वेयगखइगुवसम मि,—च्छमीससासाण संनियरे ॥१३॥

कृष्णा नीला कापोता, तेजः पद्मा च शुक्ला भव्यतरौ।
वेदकक्षायिकोपशममिथ्यामिश्रसासादनानि संज्ञीतरौ ॥ १३ ॥

अर्थ—कृष्ण, नील, कापोत, तेजः, पद्म और शुक्ल, ये छह लेश्यायें हैं। भव्यत्व, अभव्यत्व, ये दो भेद भव्यमार्गणाके हैं। वेदक (क्षायोपशमिक), क्षायिक, औपशमिक, मिथ्यात्व, मिश्र और सासादन, ये छह भेद सम्यक्त्वमार्गणाके हैं। संज्ञित्व, असंज्ञित्व, ये दो भेद संज्ञिमार्गणाके हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—(१) काजलके समान कृष्ण वर्णके लेश्या-जातीय पुद्गलोंके सम्बन्धसे आत्मामें ऐसा परिणाम होता है, जिससे हिंसा आदि पाँच आस्रवोंमें प्रवृत्ति होती है; मन, वचन तथा शरीरका संयम नहीं रहता; स्वभाव क्षुद्र बन जाता है; गुण-दोषकी परीक्षा किये विना ही कार्य करनेकी आदतसी हो जाती है और क्रूरता आ जाती है, वह परिणाम 'कृष्णलेश्या' है।

(२) अशोक वृक्षके समान नीले रँगके लेश्या-पुद्गलोंसे ऐसा परिणाम आत्मामें उत्पन्न होता है कि जिससे ईर्ष्या, असहिष्णुता तथा माया-कपट होने लगते हैं; निर्लज्जता आ जाती है; विषयोंकी लालसा प्रदीप्त हो उठती है; रस-लोलुपता होती है और सदा पौद्गलिक सुखकी खोज की जाती है, वह परिणाम 'नीललेश्या' है।

(३) कबूतरके गलेके समान रक्त तथा कृष्ण वर्णके पुद्गलोंसे इस प्रकारका परिणाम आत्मामें उत्पन्न होता है, जिससे बोलने, काम करने और विचारनेमें सब-कहीं वक्रता ही वक्रता होती है; किसी विषयमें सरलता नहीं होती; नास्तिकता आती है और दूसरोंको कष्ट हो, ऐसा भाषण करनेकी प्रवृत्ति होती है, वह परिणाम 'कापोतलेश्या' है।

(४) तोतेकी चोंचके समान रक्त वर्णके लेश्या-पुद्गलोंसे एक प्रकारका आत्मामें परिणाम होता है, जिससे कि नम्रता आ जाती है; शठता दूर हो जाती है; चपलता रुक जाती है; धर्ममें रुचि तथा दृढता होती है और सब लोगोंका हित करनेकी इच्छा होती है, वह परिणाम 'तेजोलेश्या' है।

(५) हल्दीके समान पीले रँगके लेश्या-पुद्गलोंसे एक तरहका परिणाम आत्मामें होता है, जिससे क्रोध, मान आदि कषाय बहुत अंशोंमें मन्द हो जाते हैं; चित्त प्रशान्त हो जाता है; आत्म-संयम किया जा सकता है; मित-भाषिता और जितेन्द्रियता आ जाती है, वह परिणाम 'पद्मलेश्या' है।

(६) 'शुक्ललेश्या', उस परिणामको समझना चाहिये, जिससे कि आर्त्त-रौद्र-ध्यान बंद होकर धर्म तथा शुक्ल-ध्यान होने लगता है; मन, वचन और शरीरको नियमित बनानेमें रुकावट नहीं आती; कषायकी उपशान्ति होती है और वीतराग-भाव सम्पादन करनेकी भी अनु-

कुलता हो जाती है। ऐसा परिणाम शङ्खके समान श्वेत वर्णके लेश्या-जातीय-पुद्गलोंके सम्बन्धसे होता है।

(११)—भव्यत्वमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः—

(१) 'भव्य' वे हैं, जो अनादि तादृश-पारिणामिक-भावके कारण मोक्षको पाते हैं या पानेकी योग्यता रखते हैं[1]।

(२) जो अनादि तथाविध परिणामके कारण किसी समय मोक्ष पानेकी योग्यता ही नहीं रखते, वे 'अभव्य' हैं।

(१२)—सम्यक्त्वमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः—

(१) चार अनन्तानुबन्धीकषाय और दर्शनमोहनीयके उपशमसे प्रकट होनेवाला तत्त्व-रुचिरूप आत्म-परिणाम, 'औपशमिकसम्यक्त्व' है। इसके (क) 'ग्रन्थि-भेद-जन्य' और (ख) 'उपशमश्रेणि-भावी', ये दो भेद हैं।

(क) 'ग्रन्थि-भेद-जन्य औपशमिकसम्यक्त्व', अनादि मिथ्यात्वी भव्योंको होता है। इसके प्राप्त होनेकी प्रक्रियाका विचार दूसरे

१—अनेक भव्य ऐसे हैं कि जो मोक्षकी योग्यता रखते हुए भी उसे नहीं पाते; क्योंकि उन्हें वैसी अनुकूल सामग्री ही नहीं मिलती, जिससे कि मोक्ष प्राप्त हो। इसलिये उन्हें 'जाति-भव्य' कहते हैं। ऐसी भी मिट्टी है कि जिसमें सुवर्णके अंश तो हैं, पर अनुकूल साधनके अभावसे वे न तो अब तक प्रकट हुए और न आगे ही प्रकट होनेकी सम्भावना है; तो भी उस मिट्टीको योग्यताकी अपेक्षासे जिस प्रकार 'सुवर्ण-मृत्तिका' (सोनेकी मिट्टी) कह सकते हैं; वैसे ही मोक्षकी योग्यता होते हुए भी उसके विशिष्ट साधन न मिलनेसे, मोक्षको कभी न पा सकनेवाले जीवोंको 'जातिभव्य' कहना विरुद्ध नहीं। इसका विचार प्रज्ञापनाके १८वें पदकी टीकामें, उपाध्याय-समयसुन्दरगणि-कृत विशेषशतकमें तथा भगवतीके १२वें शतकके २रे 'जयन्ती' नामक अधिकारमें है।

२—देखिये, परिशिष्ट 'भ।'

कर्मग्रन्थकी २री गाथाके भावार्थमें लिखा गया है। इसको 'प्रथमोपशमसम्यक्त्व' भी कहा है।

(ख) 'उपशमश्रेणि-भावी औपशमिकसम्यक्त्व'की प्राप्ति चौथे, पाँचवें, छठे या सातवेंमेंसे किसी भी गुणस्थानमें हो सकती है; परन्तु आठवें गुणस्थानमें तो उसकी प्राप्ति अवश्य ही होती है।

औपशमिकसम्यक्त्वके समय आयुबन्ध, मरण, अनन्तानुबन्धी-कषायका बन्ध तथा अनन्तानुबन्धीकषायका उदय, ये चार बातें नहीं होतीं। पर उससे च्युत होनेके बाद सास्वादन-भावके समय उक्त चारों बातें हो सकती हैं।

(२) अनन्तानुबन्धीय और दर्शनमोहनीयके क्षयोपशमसे प्रकट होनेवाला तत्त्व-रुचिरूप परिणाम, 'क्षायोपशमिकसम्यक्त्व' है।

(३) जो तत्त्व-रुचिरूप परिणाम, अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और दर्शनमोहनीय-त्रिकके क्षयसे प्रकट होता है, वह 'क्षायिकसम्यक्त्व' है।

यह क्षायिकसम्यक्त्व, जिन-कालिक मनुष्योंको होता है[1]। जो जीव, आयुबन्ध करनेके बाद इसे प्राप्त करते हैं, वे तीसरे या चौथे भवमें मोक्ष पाते हैं; परन्तु अगले भवकी आयु बाँधनेके पहिले जिनको यह सम्यक्त्व प्राप्त होता है, वे वर्तमान भवमें ही मुक्त होते हैं।

१—यह मत, श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनोंको एकसा इष्ट है :

"दंसणखवणस्सरिहो, जिणकालीयो पुमट्ठवासुवरिं" इत्यादि।

—पञ्चसंग्रह पृ० ११११।

"दंसणमोहक्खवणा,–पट्ठवगो कम्मभूमिजो मणुसो।
तित्थयरपायमूले, केवलिसुदकेवलीमूले ॥११०॥"

—लब्धिसार।

(४) औपशमिकसम्यक्त्वका त्याग कर मिथ्यात्वके अभिमुख होनेके समय, जीवका जो परिणाम होता है, उसीको 'सासादन-सम्यक्त्व' कहते हैं। इसकी स्थिति, जघन्य एक समयकी और उत्कृष्ट छह आवलिकाओंकी होती है। इसके समय, अनन्तानुबन्धी-कषायोंका उदय रहनेके कारण, जीवके परिणाम निर्मल नहीं होते; सासादनमें अतत्त्व-रुचि, अव्यक्त होती है और मिथ्यात्वमें व्यक्त, यही दोनोंमें अन्तर है।

(५) तत्त्व और अतत्त्व, इन दोनोंकी रुचिरूप मिश्र परिणाम, जो सम्यङ्मिथ्यामोहनीयकर्मके उदयसे होता है, वह 'मिश्रसम्यक्त्व (सम्यङ्मिथ्यात्व)' है।

(६) 'मिथ्यात्व' वह परिणाम है, जो मिथ्यामोहनीयकर्मके उदयसे होता है, जिसके होनेसे जीव, जड-चेतनका भेद नहीं जान पाता; इसीसे आत्मोन्मुख प्रवृत्तिवाला भी नहीं हो सकता है। हठ, कदाग्रह आदि दोष इसीके फल हैं।

(१३)—संज्ञीमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः—

(१) विशिष्ट मनःशक्ति अर्थात् दीर्घकालिकीसंज्ञाका होना 'संज्ञित्व' है।

(२) उक्त संज्ञाका न होना 'असंज्ञित्व' है॥१३॥

१—यद्यपि प्राणीमात्रको किसी न किसी प्रकारकी संज्ञा होती ही है; क्योंकि उसके बिना जीवत्व ही असम्भव है, तथापि शास्त्रोंमें जो संज्ञी-असंज्ञीका भेद किया गया है, सो दीर्घ-कालिकीसंज्ञाके आधारपर। इसकेलिये देखिये, परिशिष्ट 'ग।'

(१)—मार्गणाओंमें जीवस्थान।

[पाँच गाथाओंसे।]

आहारेयर भेया, सुरनरयविभंगमइसुओहिदुगे।
सम्मत्ततिगे पम्हा,—सुक्कासन्नीसु सन्निदुगं ॥ १४ ॥

आहारेतरौ भेदास्सुरनरकविभङ्गमतिश्रुतावधिद्विके।
सम्यक्त्वत्रिके पद्माशुक्लासंज्ञिषु संज्ञिद्विकम् ॥ १४ ॥

अर्थ—आहारकमार्गणाके आहारक और अनाहारक, ये दो भेद हैं। देवगति, नरकगति, विभङ्गज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, अवधिदर्शन, तीन सम्यक्त्व (औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक), दो लेश्याएँ (पद्मा और शुक्ला) और संज्ञित्व, इन तेरह मार्गणाओंमें अपर्याप्त संज्ञी और पर्याप्त संज्ञी, ये दो जीवस्थान होते हैं ॥१४॥

(१४)—आहारकमार्गणाके भेदोंका स्वरूप:—

भावार्थ—(१) जो जीव, ओज, लोम और कवल, इनमेंसे किसी भी प्रकारके आहारको करता है, वह 'आहारक' है।

(२) उक्त तीन तरहके आहारमेंसे किसी भी प्रकारके आहारको जो जीव ग्रहण नहीं करता है, वह 'अनाहारक' है।

देवगति और नरकगतिमें वर्तमान कोई भी जीव, असंज्ञी नहीं होता। चाहे अपर्याप्त हो या पर्याप्त, पर होते हैं सभी संज्ञी ही। इसीसे इन दो गतियोंमें दो ही जीवस्थान माने गये हैं।

विभङ्गज्ञानको पानेकी योग्यता किसी असंज्ञीमें नहीं होती। अतः उसमें भी अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञी, ये दो ही जीवस्थान माने गये हैं[२]।

१—यह विषय पञ्चसंग्रह गाथा २२ से २७ तकमें है।

२—यद्यपि पञ्चसंग्रह द्वार १ गाथा २७वींमें यह उल्लेख है कि विभङ्गज्ञानमें संज्ञि-पर्याप्त

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-द्विक, औपशमिक आदि उक्त तीन सम्यक्त्व और पद्म-शुक्ल-लेश्या- इन नौ मार्गणाओंमें दो संज्ञी जीवस्थान माने गये हैं। इसका कारण यह है कि किसी असंज्ञीमें सम्यक्त्वका सम्भव नहीं है और सम्यक्त्वके सिवाय मति-श्रुत-ज्ञान आदिका होना ही असम्भव है। इस प्रकार संज्ञीके सिवाय दूसरे जीवोंमें पद्म या शुक्ल-लेश्याके योग्य परिणाम नहीं हो सकते। अपर्याप्त-अवस्थामें मति-श्रुत-ज्ञान और अवधि-द्विक इसलिये माने जाते हैं कि कोई-कोई जीव तीन ज्ञानसहित जन्मग्रहण करते हैं। जो जीव, आयु बाँधनेके बाद क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह बँधी हुई आयुके अनुसार चार गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें जाता है। इसी अपेक्षासे अपर्याप्त-अवस्थामें क्षायिकसम्यक्त्व माना जाता है। उस अवस्थामें क्षायोपशमिकसम्यक्त्व माननेका कारण यह है कि भावी तीर्थङ्कर आदि, जब देव आदि गतिसे निकल कर मनुष्य-जन्म ग्रहण करते हैं, तब वे क्षायोपशमिकसम्यक्त्वसहित होते हैं। औपशमिकसम्यक्त्वके विषयमें यह जानना चाहिये कि आयुके पूरे हो जानेसे जब कोई औपशमिकसम्यक्त्वी ग्यारहवें गुणस्थानसे

एक ही जीवस्थान है, तथापि उसके साथ इस कर्मग्रन्थका कोई विरोध नहीं; क्योंकि मूल पञ्च-संग्रहमें विभङ्गज्ञानमें एक ही जीवस्थान कहा है, सो अपेक्षा-विशेषसे। अतः अन्य अपेक्षासे विभङ्गज्ञानमें दो जीवस्थान भी उसे इष्ट हैं। इस बातका खुलासा श्रीमलयगिरिसूरिने उक्त २७वीं गाथाकी टीकामें स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते हैं कि "संज्ञि-पञ्चेन्द्रियतिर्यंच और मनुष्यको अपर्याप्त-अवस्थामें विभङ्गज्ञान उत्पन्न नहीं होता। तथा जो असंज्ञी जीव मरकर रत्नप्रभानरकमें नारकका जन्म लेते हैं, उन्हें भी अपर्याप्त-अवस्थामें विभङ्गज्ञान नहीं होता। इस अपेक्षासे विभङ्ग-ज्ञानमें एक (पर्याप्त संज्ञिरूप) जीवस्थान कहा गया है। सामान्य-दृष्टिसे उसमें दो जीवस्थान ही समझने चाहिये। क्योंकि जो संज्ञी जीव, मरकर देव या नारकरूपसे पैदा होते हैं, उन्हें अपर्याप्त-अवस्थामें भी विभङ्गज्ञान होता है।

च्युत होकर अनुत्तरविमानमें पैदा होता है, तब अपर्याप्त-अवस्थामें औपशमिकसम्यक्त्व पाया जाता है[1]।

१—यह मन्तव्य "सप्ततिका" नामक छठे कर्मग्रन्थकी चूर्णी और पञ्चसंग्रहके मतानुसार समझना चाहिये। चूर्णीमें अपर्याप्त-अवस्थाके समय नारकोंमें क्षायोपशमिक और क्षायिक, ये दो; पर देवोंमें औपशमिकसहित तीन सम्यक्त्व माने हैं। पञ्चसंग्रहमें भी द्वार १ गा० २५वीं तथा उसकी टीकामें उक्त चूर्णीके मतकी ही पुष्टि की गई है। गोम्मटसार भी इसी मतके पक्षमें है; क्योंकि वह द्वितीय—उपशमश्रेणि-भावी—उपशमसम्यक्त्वको अपर्याप्त-अवस्थाके जीवोंको मानता है। इसकेलिये देखिये, जीवकाण्ड की गा० ७२९ वीं।

परन्तु कोई आचार्य यह मानते हैं कि 'अपर्याप्त-अवस्थामें औपशमिकसम्यक्त्व नहीं होता। इससे उसमें केवल पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान मानना चाहिये।' इस मतके समर्थनमें वे कहते हैं कि 'अपर्याप्त-अवस्थामें योग्य (विशुद्ध) अध्यवसाय न होनेसे औपशमिकसम्यक्त्व नया तो उत्पन्न ही नहीं हो सकता। रहा पूर्व-भवमें प्राप्त किया हुआ, सो उसका भी अपर्याप्त-अवस्था तक रहना शास्त्र-सम्मत नहीं है; क्योंकि औपशमिकसम्यक्त्व दो प्रकारका है। एक तो वह, जो अनादि मिथ्यात्वीको पहले-पहल होता है। दूसरा वह, जो उपशमश्रेणिके समय होता है। इसमें पहले प्रकारके सम्यक्त्वके सहित तो जीव मरता ही नहीं। इसका प्रमाण आगममें इस प्रकार है:—

"अणबंधोदयमाउग,-बंधं कालं च सासणो कुणई।
उवसमसम्मद्दिट्ठी, चउण्हमिक्कं पि नो कुणई॥"

अर्थात् "अनन्तानुबन्धीका बन्ध, उसका उदय, आयुका बन्ध और मरण, ये चार कार्य दूसरे गुणस्थानमें होते हैं, पर इनमेंसे एक भी कार्य औपशमिकसम्यक्त्वमें नहीं होता।"

दूसरे प्रकारके औपशमिकसम्यक्त्वके विषयमें यह नियम है कि उसमें वर्तमान जीव मरता तो है, पर जन्म ग्रहण करते ही सम्यक्त्वमोहनीयका उदय होनेसे वह औपशमिकसम्यक्त्वी न रह कर क्षायोपशमिकसम्यक्त्वी बन जाता है। यह बात शतक (पाँचवें कर्मग्रन्थ) की बृहच्चूर्णीमें लिखी है:—

"जो उवसमसम्मद्दिट्ठी उवसमसेढीए कालं करेइ सो पढमसमये चेव सम्मत्तपुंजं उदयावलियाए, छोढूण सम्मत्तपुग्गले वेएइ, तेण न उवसमसम्मद्दिट्ठी अपज्जत्तगो लब्भइ।"

अर्थात् "जो उपशमसम्यग्दृष्टि, उपशमश्रेणिमें मरता है, वह मरणके प्रथम समयमें ही

संज्ञिमार्गणामें दो संज्ञि-जीवस्थानके सिवाय अन्य किसी जीवस्थानका सम्भव नहीं है; क्योंकि अन्य सब जीवस्थान असंज्ञी ही हैं।

देवगति आदि उपर्युक्त मार्गणाओंमें अपर्याप्त संज्ञीका मतलब करण-अपर्याप्तसे है, लब्धि-अपर्याप्तसे नहीं। इसका कारण यह है कि देवगति और नरकगतिमें लब्धि-अपर्याप्तरूपसे कोई जीव पैदा नहीं होते और न लब्धि-अपर्याप्तको, मति आदि ज्ञान, पद्म आदि लेश्या तथा सम्यक्त्व होता है ॥ १४ ॥

तमसंनिअपज्जजुयं,–नरे सबायरअपज्ज तेऊए।
थावर इगिंदि पढमा,–चउ बार असन्नि दु दु विगले॥१५॥

तदसंज्ञ्यपर्याप्तयुतं, नरे सबादरापर्याप्तं तेजसि।
स्थावर एकेन्द्रिये प्रथमानि, चत्वारि द्वादशासंज्ञिनि द्वे द्वे विकले॥१५॥

सम्यक्त्वमोहनीय-पुञ्जको उदयावलिकामें लाकर उसे वेदता है, इससे अपर्याप्त-अवस्थामें औपशमिकसम्यक्त्व पाया नहीं जा सकता।"

इस प्रकार अपर्याप्त-अवस्थामें किसी तरहके औपशमिकसम्यक्त्वका सम्भव न होनेसे उन आचार्योंके मतमें सम्यक्त्वमें केवल पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान ही माना जाता है।

इस प्रसङ्गमें श्रीजीवविजयजीने अपने टबेमें ग्रन्थके नामका उल्लेख किये बिना ही उसकी गाथाको उद्धृत करके लिखा है कि औपशमिकसम्यक्त्वी ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरता है सही; पर उसमें मरता नहीं। मरनेवाला क्षायिकसम्यक्त्वी ही होता है। गाथा इस प्रकार है:—

"उवसमसेढिं पत्ता, मरंति उवसमगुणेसु जे सत्ता।
ते लवसत्तम देवा, सव्वट्ठे खयसमत्तजुआ॥"

उसका मतलब यह है कि "जो जीव उपशमश्रेणिको पाकर ग्यारहवें गुणस्थानमें मरते हैं, वे सर्वार्थसिद्धविमानमें क्षायिकसम्यक्त्व-युक्त ही पैदा होते हैं और 'लवसत्तम देव' कहलाते हैं।" लवसप्तम कहलानेका सबब यह है कि सात लव-प्रमाण आयु कम होनेसे उनको देवका जन्म ग्रहण करना पड़ता है। यदि उनकी आयु और भी अधिक होती तो देव हुए विना उसी जन्ममें मोक्ष होता।

अर्थ—मनुष्यगतिमें पूर्वोक्त संज्ञि-द्विक (अपर्याप्त तथा पर्याप्त संज्ञी) और अपर्याप्त असंज्ञी, ये तीन जीवस्थान हैं। तेजोलेश्यामें बादर अपर्याप्त और संज्ञि-द्विक, ये तीन जीवस्थान हैं। पाँच स्थावर और एकेन्द्रियमें पहले चार (अपर्याप्त सूक्ष्म, पर्याप्त सूक्ष्म, अपर्याप्त बादर और पर्याप्त बादर) जीवस्थान हैं। असंज्ञिमार्गणामें संज्ञि-द्विकके सिवाय पहले बारह जीवस्थान हैं। विकलेन्द्रियमें दो-दो (अपर्याप्त तथा पर्याप्त) जीवस्थान हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य दो प्रकारके हैं:—गर्भज और सम्मूर्च्छिम। गर्भज सभी संज्ञी ही होते हैं, वे अपर्याप्त तथा पर्याप्त दोनों प्रकारके पाये जाते हैं। पर संमूर्च्छिम मनुष्य, जो ढाई द्वीप-समुद्रमें गर्भज मनुष्यके मल-मूत्र, शुक्र-शोणित आदिमें पैदा होते हैं, उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण ही होती है। वे स्वयोग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण किये विना ही मर जाते हैं, इसीसे उन्हें लब्धि-अपर्याप्त ही माना है, तथा वे असंज्ञी ही माने गये हैं[1]। इसलिये सामान्य मनुष्यगतिमें उपर्युक्त तीन ही जीवस्थान पाये जाते हैं।

१—जैसे, भगवान् श्यामाचार्य प्रज्ञापना पृ० ५०/१ मे वर्णन करते हैं:—

"कहिणं भंते संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति? गोयमा! अंतो मणुस्सखेत्तस्स पणयालीसाए जोयणसयसहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पनाए अंतरदीवेसु गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चेव उच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा सुक्केसु वा सोणिएसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा विगयजीवकलेवरेसु वा थीपुरिससंजोगेसु वा नगरनिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइठाणेसु इच्छणं संमुच्छिममणुस्सा संमुच्छंति अंगुलस्स असंखभागमित्ताए ओगाहणाए असन्नी मिच्छादिट्ठी अन्नाणी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्ता अंतमुहुत्ताउया चेव कालं करंति त्ति।"

तेजोलेश्या, पर्याप्त तथा अपर्याप्त, दोनों प्रकारके संज्ञियोंमें पायी जाती है तथा वह बादर एकेन्द्रियमें भी अपर्याप्त-अवस्थामें होती है, इसीसे उस लेश्यामें उपर्युक्त तीन जीवस्थान माने हुए हैं। बादर एकेन्द्रियको अपर्याप्त-अवस्थामें तेजोलेश्या मानी जाती है, सो इस अपेक्षासे कि भवनपति, व्यन्तर आदि देव, जिनमें तेजोलेश्याका सम्भव है वे जब तेजोलेश्यासहित मरकर पृथिवी, पानी या वनस्पतिमें जन्म ग्रहण करते हैं, तब उनको अपर्याप्त (करण-अपर्याप्त-) अवस्थामें कुछ काल तक तेजोलेश्या रहती है।

पहले चार जीवस्थानके सिवाय अन्य किसी जीवस्थानमें एकेन्द्रिय तथा स्थावरकायिक जीव नहीं हैं। इसीसे एकेन्द्रिय और पाँच स्थावर-काय, इन छह मार्गणाओंमें पहले चार जीवस्थान माने गये हैं।

इसका सार संक्षेपमें इस प्रकार है:—'प्रश्न करनेपर भगवान् महावीर, गणधर और गौतमसे कहते हैं कि पैंतालीस लाख योजन-प्रमाण मनुष्य-क्षेत्रके भीतर ढाई द्वीप-समुद्रमें पन्द्रह कर्मभूमि, तीस अकर्मभूमि और छप्पन अन्तर्द्वीपोंमें गर्भज-मनुष्योंके मल, मूत्र, कफ आदि सभी अशुचि-पदार्थोंमें संमूर्च्छिम पैदा होते हैं, जिनका देह-परिमाण अंगुलके असंख्यातवें भागके बराबर है, जो असंयती, मिथ्यात्वी तथा अज्ञानी होते हैं और जो अपर्याप्त ही हैं तथा अन्तर्मुहूर्त्त-मात्रमें मर जाते हैं।

१—"किण्हा नीला काऊ, तेऊलेसा य भवणवंतरिया।
जोइससोहम्मीसा,-ण तेऊलेसा मुणेयव्वा ॥१९३॥"

—बृहत्संग्रहणी।

अर्थात् "भवनपति और व्यन्तरमें कृष्ण आदि चार लेश्याएँ होती हैं; किन्तु ज्योतिष और सौधर्म-ईशान देवलोकमें तेजोलेश्या ही होती है।"

२—"पुढवी आउवणस्सइ, गब्भे पज्जत्त संखजीवेसु।
सग्गचुयाणं वासो, सेसा पडिसेहिया ठाणा ॥"

—विशेषावश्यक भाष्य।

अर्थात् "पृथ्वी, जल, वनस्पति और संख्यात-वर्ष-आयुवाले गर्भज-पर्याप्त, इन स्थानोंहीमें स्वर्ग-च्युत देव पैदा होते हैं, अन्य स्थानोंमें नहीं।"

चौदह जीवस्थानोंमेंसे दो ही जीवस्थान संज्ञी हैं। इसी कारण असंज्ञिमार्गणामें बारह जीवस्थान समझना चाहिये।

प्रत्येक विकलेन्द्रियमें अपर्याप्त तथा पर्याप्त दो-दो जीवस्थान पाये जाते हैं, इसीसे विकलेन्द्रियमार्गणामें दो-ही-दो जीवस्थान माने गये हैं ॥१५॥

दस चरम तसे अजया,-हारगतिरितणुकसायदुअनाणे।
पढमतिलेसाभवियर,-अचक्खुनपुमिच्छि सव्वे वि॥१६॥

दश चरमाणि त्रसेऽयताहारकतिर्यक्तनुकषायद्व्यज्ञाने।
प्रथमत्रिलेश्याभव्येतराऽचक्षुर्नपुंमिथ्यात्वे सर्वाण्यपि ॥ १६ ॥

अर्थ—त्रसकायमें अन्तिम दस जीवस्थान हैं। अविरति, आहारक, तिर्यञ्चगति, काययोग, चार कषाय, मति-श्रुत दो अज्ञान, कृष्ण आदि पहली तीन लेश्याएँ, भव्यत्व, अभव्यत्व, अचक्षुर्दर्शन, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व, इन अठारह मार्गणाओंमें सभी (चौदह) जीवस्थान पाये जाते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—चौदहमेंसे अपर्याप्त और पर्याप्त सूक्ष्म-एकेन्द्रिय तथा अपर्याप्त और पर्याप्त बादर-एकेन्द्रिय, इन चार के सिवाय शेष दस जीवस्थान त्रसकायमें हैं, क्योंकि उन दसमें ही त्रसनामकर्मका उदय होता है और इससे वे ही स्वतन्त्रतापूर्वक चल-फिर सकते हैं।

अविरति आदि उपर्युक्त अठारह मार्गणाओंमें सभी जीवस्थान, इसलिये माने जाते हैं कि सब प्रकारके जीवोंमें इन मार्गणाओंका सम्भव[1] है।

मिथ्यात्वमें सब जीवस्थान कहे हैं। अर्थात् सब जीवस्थानोंमें सामान्यतः मिथ्यात्व कहा है; किन्तु पहले बारह जीवस्थानोंमें अना-

१—देखिये, परिशिष्ट 'ट।'

भोग मिथ्यात्व समझना चाहिये; क्योंकि उनमें अनाभोग-जन्य (अज्ञान-जन्य) अतत्त्व-रुचि है। पञ्चसंग्रहमें 'अनभिग्रहिक-मिथ्यात्व' उन जीवस्थानोंमें लिखा है, सो अन्य अपेक्षासे। अर्थात् देव-गुरु-धर्मका स्वीकार न होनेके कारण उन जीवस्थानोंका मिथ्यात्व 'अनभिग्रहिक' भी कहा जा सकता है॥१६॥

पजसन्नी केवलदुग,-संजममणनाणदेसमणमीसे।

पण चरमपज्ज वयणे, तिय छ व पज्जियर चक्खुंमि॥१७॥

पर्याप्तसंज्ञी केवलद्विक-संयतमनोज्ञानदेशमनोमिश्रे।

पञ्च चरमपर्याप्तानि वचने, त्रीणि षड् वा पर्याप्तेतराणि चक्षुषि॥१७॥

अर्थ—केवल-द्विक (केवलज्ञान-केवलदर्शन) सामायिक आदि पाँच संयम, मनःपर्यायज्ञान, देशविरति, मनोयोग और मिश्रसम्यक्त्व, इन ग्यारह मार्गणाओंमें सिर्फ पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान है। वचनयोगमें अन्तिम पाँच (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय) पर्याप्त जीवस्थान हैं। चक्षुर्दर्शनमें पर्याप्त तीन (चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय) जीवस्थान हैं या मतान्तरसे पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकारके उक्त तीन अर्थात् कुल छह जीवस्थान हैं॥ १७॥

भावार्थ—केवल-द्विक आदि उपर्युक्त ग्यारह मार्गणाओंमें सिर्फ पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान माना जाता है। इसका कारण यह है कि पर्याप्त संज्ञीके सिवाय अन्य प्रकारके जीवोंमें न सर्वविरतिका और न देशविरतिका संभव है। अत एव संज्ञि-भिन्न जीवोंमें केवल-द्विक, पाँच संयम, देशविरति और मनःपर्यायज्ञान, जिनका सम्बन्ध विरतिसे है, वे हो ही नहीं सकते। इसी तरह पर्याप्त संज्ञीके सिवाय अन्य जीवोंमें तथाविध-द्रव्यमनका सम्बन्ध न होनेके कारण मनोयोग नहीं होता और मिश्रसम्यक्त्वकी योग्यता भी नहीं होती।

एकेन्द्रियमें भाषापर्याप्ति नहीं होती। भाषापर्याप्तिके सिवाय वचनयोगका होना संभव नहीं। द्वीन्द्रिय आदि जीवोंमें भाषापर्याप्तिका संभव है। वे जब सम्पूर्ण स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लेते हैं, तभी उनमें भाषापर्याप्तिके हो जानेसे वचनयोग हो सकता है। इसीसे वचनयोगमें पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि उपर्युक्त पाँच जीवस्थान माने हुए हैं।

आँखवालोंको ही चक्षुर्दर्शन हो सकता है। चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन तीन प्रकारके ही जीवोंको आँखें होती हैं। इसीसे इनके सिवाय अन्य प्रकारके जीवोंमें चक्षुर्दर्शनका अभाव है। उक्त तीन प्रकारके जीवोंके विषयमें भी दो मत हैं।

१—इन्द्रियपर्याप्तिकी नीचे-लिखी दो व्याख्यायें, इन मतोंकी जड़ हैं:—

(क) "इन्द्रियपर्याप्ति जीवकी वह शक्ति है, जिसकेद्वारा धातुरूपमें परिणत आहार पुद्गलोंमेंसे योग्य पुद्गल, इन्द्रियरूपमें परिणत किये जाते हैं।"

यह व्याख्या, प्रज्ञापना-वृत्ति तथा पञ्चसंग्रह-वृत्ति पृ० ५/१ में है। इस व्याख्याके अनुसार इन्द्रियपर्याप्तिका मतलब, इन्द्रिय-जनक शक्तिसे है। इस व्याख्याको माननेवाले पहले मतका आशय यह है कि स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण बन चुकनेके बाद (पर्याप्त-अवस्थामें) सबको इन्द्रिय-जन्य उपयोग होता है, अपर्याप्त-अवस्थामें नहीं। इसलिये इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन चुकनेके बाद, नेत्र होनेपर भी अपर्याप्त-अवस्थामें चतुरिन्द्रिय आदिको चक्षुर्दर्शन नहीं माना जाता।

(ख)—"इन्द्रियपर्याप्ति जीवकी वह शक्ति है, जिसकेद्वारा योग्य आहार पुद्गलोंको इन्द्रियरूपमें परिणत करके इन्द्रिय-जन्य बोधका सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है।"

यह व्याख्या बृहत्संग्रहणी पृ० १२८ तथा भगवती-वृत्ति पृ० २६९/१ में है। इसके अनुसार इन्द्रियपर्याप्तिका मतलब, इन्द्रिय-रचनासे लेकर इन्द्रिय-जन्य उपयोग तककी सब क्रियाओंको करनेवाली शक्तिसे है। इस व्याख्याको माननेवाले दूसरे मतके अनुसार इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन जानेसे अपर्याप्त-अवस्थामें भी सबको इन्द्रिय-जन्य उपयोग होता है। इसलिये इन्द्रियपर्याप्ति बन जानेके बाद नेत्र-जन्य उपयोग होनेके कारण अपर्याप्त-अवस्थामें भी चतुरिन्द्रिय आदिको चक्षुर्दर्शन मानना चाहिये। इस मतकी पुष्टि, पञ्चसंग्रह-मलयगिरि-वृत्तिके ८/१ पृष्ठपर उल्लिखित इस मन्तव्यसे होती है:—

पहले मतके अनुसार उनमें स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण बन जानेके बाद ही चक्षुर्दर्शन माना जाता है। दूसरे मतके अनुसार स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण होनेके पहले भी—अपर्याप्त-अवस्थामें भी—चक्षुर्दर्शन माना जाता है; किन्तु इसकेलिये इन्द्रियपर्याप्तिका पूर्ण बन जाना आवश्यक है; क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति न बन जाय तब तक आँखके पूर्ण न बननेसे चक्षुर्दर्शन हो ही नहीं सकता। इस दूसरे मतके अनुसार चक्षुर्दर्शनमें छह जीवस्थान माने हुए हैं और पहले मतके अनुसार तीन जीवस्थान ॥ १७ ॥

थीनरपणिंदि चरमा, चउ अणहारे दु संनि छ अपज्जा।
ते सुहुमअपज्ज विणा, सासणि इत्तो गुणे वुच्छं ॥१८॥

स्त्रीनरपञ्चेन्द्रिये चरमाणि, चत्वार्यनाहारके द्वौ साञ्ज्ञनौ षडपर्याप्ताः।
ते सूक्ष्मापर्याप्तं विना, सासादन इतो गुणान् वक्ष्ये ॥ १८ ॥

अर्थ—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और पञ्चेन्द्रियजातिमें अन्तिम चार (अपर्याप्त तथा पर्याप्त असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, अपर्याप्त तथा पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय) जीवस्थान हैं। अनाहारकमार्गणामें अपर्याप्त-पर्याप्त दो संज्ञी और सूक्ष्म-एकेन्द्रिय, बादर-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, ये छह अपर्याप्त, कुल आठ जीवस्थान हैं। सासादनसम्यक्त्वमें उक्त आठमेंसे सूक्ष्म-अपर्याप्तको छोड़कर शेष सात जीवस्थान हैं।

अब आगे गुणस्थान कहे जायँगे ॥ १८ ॥

भावार्थ—स्त्रीवेद आदि उपर्युक्त तीन मार्गणाओंमें अपर्याप्त

"करणापर्याप्तेषु चतुरिन्द्रियादिष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते।"

इन्द्रियपर्याप्तिकी उक्त दोनों व्याख्याओंका उल्लेख, लोकप्र० स० ३ श्लो० २०–२१ में है।

असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय आदि चार जीवस्थान कहे हुए हैं। इसमें अपर्याप्त-का मतलब करण-अपर्याप्तसे है, लब्धि-अपर्याप्तसे नहीं; क्योंकि लब्धि-अपर्याप्तको द्रव्यवेद, नपुंसक ही होता है।

असंज्ञि-पञ्चेन्द्रियको यहाँ स्त्री और पुरुष, ये दो वेद माने हैं और सिद्धान्तमें नपुंसक; तथापि इसमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि यहाँ-का कथन द्रव्यवेदकी अपेक्षासे और सिद्धान्तका कथन भाववेदकी अपेक्षासे है। भाव-नपुंसकवेदवालेको स्त्री या पुरुषके भी चिह्न होते हैं।

अनाहारक-मार्गणामें जो आठ जीवस्थान ऊपर कहे हुए हैं, इनमें सात अपर्याप्त हैं और एक पर्याप्त। सब प्रकारके अपर्याप्त जीव, अनाहारक उस समय होते हैं, जिस समय वे विग्रहगति (वक्रगति) में एक, दो या तीन समय तक आहार ग्रहण नहीं करते। पर्याप्त संज्ञीको अनाहारक इस अपेक्षासे माना है कि केवलज्ञानी, द्रव्यमनके संबन्धसे संज्ञी कहलाते हैं और वे केवलिसमुद्घातके तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें कार्मणकाययोगी होनेके कारण किसी प्रकारके आहारको ग्रहण नहीं करते।

१—"तेणं भंते असंनिपंचेंदिय तिरिक्खजोणिया किं इत्थिवेयगा पुरिसवेयगा नपुंसकवेयगा? गोयमा! नो इत्थिवेयगा नो पुरिसवेयगा, नपुंसकवेयगा।" —भगवती।

२—"यद्यपि चासंज्ञिपर्याप्तापर्याप्तौ नपुंसकौ तथापि स्त्रीपुंसलिङ्गाकारमात्रमङ्गीकृत्य स्त्रीपुंसावुक्ताविति।"

—पञ्चसंग्रह द्वार १, गा० २४ की मूल टीका।

३—देखिये, परिशिष्ट 'ठ।'

सासादनसम्यक्त्वमें सात जीवस्थान कहे हैं, जिनमेंसे छह अपर्याप्त हैं और एक पर्याप्त। सूक्ष्म-एकेन्द्रियको छोड़कर अन्य छह प्रकारके अपर्याप्त जीवस्थानोंमें सासादनसम्यक्त्व इसलिये माना जाता है कि जब कोई औपशमिकसम्यक्त्ववाला जीव, उस सम्यक्त्व-को छोड़ता हुआ बादर-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय या संज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें जन्म ग्रहण करता है, तब उसको अपर्याप्त-अवस्थामें सासादनसम्यक्त्व पाया जाता है; परन्तु कोई जीव औपशमिकसम्यक्त्वको वमन करता हुआ सूक्ष्म-एकेन्द्रियमें पैदा नहीं होता, इसलिये उसमें अपर्याप्त-अवस्थामें सासादन-सम्यक्त्वका संभव नहीं है। संज्ञि-पञ्चेन्द्रियके सिवाय कोई भी जीव, पर्याप्त-अवस्थामें सासादनसम्यक्त्वी नहीं होता; क्योंकि इस अवस्थामें औपशमिकसम्यक्त्व पानेवाले संज्ञी ही होते हैं, दूसरे नहीं ॥ १८ ॥



(२)-मार्गणाओंमें गुणस्थान।

[पाँच गाथाओंसे।]

पण तिरि चउ सुरनरए, नरसंनिपणिंदिभव्वतसि सव्वं।
इगविगलभूदगवणे, दु दु एगं गइतसअभव्वं॥ १६॥

पञ्च तिरश्चि चत्वारि सुरनरके, नरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियभव्यत्रस सर्वाणि।
एकविकलभूदकवने, द्वे द्वे एकं गतित्रसाभव्ये॥ १९॥

अर्थ—तिर्यञ्चगतिमें पाँच गुणस्थान हैं। देव तथा नरकगतिमें चार गुणस्थान हैं। मनुष्यगति, संज्ञी, पञ्चेन्द्रियजाति, भव्य और त्रसकाय, इन पाँच मार्गणाओंमें सब गुणस्थान हैं। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकायमें पहला और दूसरा, ये दो गुणस्थान हैं। गतित्रस (तेजःकाय और वायुकाय) और अभव्यमें एक (पहला) ही गुणस्थान है॥ १९॥

भावार्थ—तिर्यञ्चगतिमें पहले पाँच गुणस्थान हैं; क्योंकि उसमें जाति-स्वभावसे सर्वविरतिका संभव नहीं होता और सर्वविरतिके सिवाय छठे आदि गुणस्थानोंका संभव नहीं है।

देवगति और नरकगतिमें पहले चार गुणस्थान माने जानेका सबब यह है कि देव या नारक, स्वभावसे ही विरतिरहित होते हैं और विरतिके विना अन्य गुणस्थानोंका संभव नहीं है।

मनुष्यगति आदि उपर्युक्त पाँच मार्गणाओंमें हर प्रकारके परिणामोंके संभव होनेके कारण सब गुणस्थान पाये जाते हैं।

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकायमें दो गुणस्थान कहे हैं। इनमेंसे दूसरा गुणस्थान अपर्याप्त-अवस्थामें ही होता है। एकेन्द्रिय आदिकी आयुका बन्ध हो जानेके

बाद जब किसीको औपशमिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है, तब वह उसे त्याग करता हुआ सासादनसम्यक्त्वसहित एकेन्द्रिय आदिमें जन्म ग्रहण करता है। उस समय अपर्याप्त-अवस्थामें कुछ काल तक दूसरा गुणस्थान पाया जाता है। पहला गुणस्थान तो एकेन्द्रिय आदिकेलिये सामान्य है; क्योंकि वे सब अनाभोग (अज्ञान-) के कारण तत्त्व-श्रद्धा-हीन होनेसे मिथ्यात्वी होते हैं। जो अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि, दूसरे गुणस्थानके अधिकारी कहे गये हैं, वे करण-अपर्याप्त हैं, लब्धि-अपर्याप्त नहीं; क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त तो सभी जीव, मिथ्यात्वी ही होते हैं।

तेजःकाय और वायुकाय, जो गतित्रस या लब्धित्रस कहे जाते हैं, उनमें न तो औपशमिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है और न औपशमिकसम्यक्त्वको वमन करनेवाला जीव ही उनमें जन्म ग्रहण करता है; इसीसे उनमें पहला ही गुणस्थान कहा गया है।

अभव्योंमें सिर्फ प्रथम गुणस्थान, इस कारण माना जाता है कि वे स्वभावसे ही सम्यक्त्व-लाभ नहीं कर सकते और सम्यक्त्व प्राप्त किये विना दूसरे आदि गुणस्थान असम्भव हैं ॥ १९ ॥

वेयतिकसाय नव दस, लोभे चउ अजय दु ति अनाणतिगे।
बारस अचक्खु चक्खुसु, पढमा अहक्खाइ चरम चउ ॥२०॥

वेदत्रिकषाये नव दश, लोभे चत्वार्ययते द्वे त्राण्यज्ञानत्रिके।
द्वादशाचक्षुश्चक्षुषोः, प्रथमानि यथाख्याते चरमाणि चत्वारि ॥ २० ॥

अर्थ—तीन वेद तथा तीन कषाय (संज्वलन-क्रोध, मान और माया-) में पहले नौ गुणस्थान पाये जाते हैं। लोभमें (संज्वलन-लोभ-) में दस गुणस्थान होते हैं। अयत (अविरति-) में चार गुणस्थान हैं। तीन अज्ञान (मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञान-) में पहले दो या तीन गुणस्थान माने जाते हैं। अचक्षुर्दर्शन और चक्षु-

दर्शनमें पहले बारह गुणस्थान होते हैं। यथाख्यातचारित्रमें अन्तिम चार गुणस्थान हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—तीन वेद और तीन संज्वलन-कषायमें नौ गुणस्थान कहे गये हैं, सो उदयकी अपेक्षासे समझना चाहिये; क्योंकि उनकी सत्ता ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त पाई जा सकती है। नववें गुणस्थानके अन्तिम समय तकमें तीन वेद और तीन सञ्ज्वलनकषाय या तो क्षीण हो जाते हैं या उपशान्त; इस कारण आगेके गुणस्थानोंमें उनका उदय नहीं रहता।

सञ्ज्वलनलोभमें दस गुणस्थान उदयकी अपेक्षासे ही समझने चाहिये; क्योंकि सत्ता तो उसकी ग्यारहवें गुणस्थान तक पाई जा सकती है।

अविरतिमें पहले चार गुणस्थान इसलिये कहे हुए हैं कि पाँचवेंसे लेकर आगेके सब गुणस्थान विरतिरूप हैं।

अज्ञान-त्रिकमें गुणस्थानोंकी संख्याके विषयमें दो मत हैं। पहला उसमें दो गुणस्थान मानता है और दूसरा तीन गुणस्थान। ये दोनों मत कार्मग्रन्थिक हैं।

(१) दो गुणस्थान माननेवाले आचार्यका अभिप्राय यह है कि तीसरे गुणस्थानके समय शुद्ध सम्यक्त्व न होनेके कारण पूर्ण यथार्थ ज्ञान भले ही न हो, पर उस गुणस्थानमें मिश्र-दृष्टि होनेसे यथार्थ ज्ञानकी थोड़ी-बहुत मात्रा रहती ही है। क्योंकि मिश्र-

---

१—इनमेंसे पहला मत ही गोम्मटसार-जीवकाण्डकी ६८६ वीं गाथामें उल्लिखित है।

२—"मिथ्यात्वाधिकस्य मिश्रदृष्टेरज्ञानबाहुल्यं सम्यक्त्वाधिकस्य पुनः सम्यग्ज्ञानबाहुल्यमिति।"

अर्थात् "मिथ्यात्व अधिक होनेपर मिश्र-दृष्टिमें अज्ञानकी बहुलता और सम्यक्त्व अधिक होनेपर ज्ञानकी बहुलता होती है।"

दृष्टिके समय मिथ्यात्वका उदय जब अधिक प्रमाणमें रहता है, तब तो अज्ञानका अंश अधिक और ज्ञानका अंश कम होता है। पर जब मिथ्यात्वका उदय मन्द और सम्यक्त्व-पुद्गलका उदय तीव्र रहता है, तब ज्ञानकी मात्रा ज्यादा और अज्ञानकी मात्रा कम होती है। चाहे मिश्र-दृष्टिकी कैसी भी अवस्था हो, पर उसमें न्यून-अधिक प्रमाणमें ज्ञानकी मात्राका संभव होनेके कारण उस समयके ज्ञानको अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मानना उचित है। इसलिये अज्ञान-त्रिकमें दो ही गुणस्थान मानने चाहिये।

(२) तीन गुणस्थान माननेवाले आचार्यका आशय यह है कि यद्यपि तीसरे गुणस्थानके समय अज्ञानको ज्ञान-मिश्रित कहा है तथापि मिश्र ज्ञानको ज्ञान मानना उचित नहीं; उसे अज्ञान ही कहना चाहिये। क्योंकि शुद्ध सम्यक्त्व हुए विना चाहे कैसा भी ज्ञान हो, पर वह है अज्ञान। यदि सम्यक्त्वके अंशके कारण तीसरे गुणस्थानमें ज्ञानको अज्ञान न मान कर ज्ञान ही मान लिया जाय तो दूसरे गुण-स्थानमें भी सम्यक्त्वका अंश होनेके कारण ज्ञानको अज्ञान न मान-कर ज्ञान ही मानना पड़ेगा, जो कि इष्ट नहीं है। इष्ट न होनेका सबब यही है कि अज्ञान-त्रिकमें दो गुणस्थान माननेवाले भी, दूसरे गुणस्थानमें मति आदिको अज्ञान मानते हैं। सिद्धान्तवादीके सिवाय किसी भी कार्मग्रन्थिक विद्वान्को दूसरे गुणस्थानमें मति आदिको ज्ञान मानना इष्ट नहीं है। इस कारण सासादनकी तरह मिश्रगुणस्थानमें भी मति आदिको अज्ञान मानकर अज्ञान-त्रिकमें तीन गुणस्थान मानना युक्त है।

अचक्षुर्दर्शन तथा चक्षुर्दर्शनमें बारह गुणस्थान इस अभिप्रायसे

१—"मिस्संमि वा मिस्सा" इत्यादि।

अर्थात् "मिश्रगुणस्थानमें अज्ञान, ज्ञान-मिश्रित है।"

माने जाते हैं कि उक्त दोनों दर्शन क्षायोपशमिक हैं; इससे क्षायिक-दर्शनके समय अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें उनका अभाव हो जाता है; क्योंकि क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शनका साहचर्य नहीं रहता।

यथाख्यातचारित्रमें अन्तिम चार गुणस्थान माने जानेका अभिप्राय यह है कि यथाख्यातचारित्र, मोहनीयकर्मका उदय रुक जानेपर प्राप्त होता है और मोहनीयकर्मका उदयाभाव ग्यारहवेंसे चौदहवें तक चार गुणस्थानोंमें रहता है ॥ २० ॥

मणनाणि सग जयाई, समइयछेय चउ दुन्नि परिहारे।
केवलदुगि दो चरमा, जयाइ नव मइसुओहिदुगे ॥२१॥

मनोज्ञाने सप्त यतादीनि, सामायिकच्छेदे चत्वारि द्वे परिहारे।
केवलद्विके द्वे चरमेऽयतादीनि नव मतिश्रुतावधिद्विके ॥ २१ ॥

अर्थ—मनःपर्यायज्ञानमें प्रमत्तसंयत आदि सात गुणस्थान; सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय-संयममें प्रमत्तसंयत आदि चार गुणस्थान; परिहारविशुद्धसंयममें प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान; केवल-द्विकमें अन्तिम दो गुणस्थान; मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि-द्विक, इन चार मार्गणाओंमें अविरतसम्यग्दृष्टि आदि नौ गुणस्थान हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ—मनःपर्यायज्ञानवाले, छठे आदि सात गुणस्थानोंमें वर्तमान पाये जाते हैं। इस ज्ञानकी प्राप्तिके समय सातवाँ और प्राप्तिके बाद अन्य गुणस्थान होते हैं।

सामायिक और छेदोपस्थापनीय, ये दो संयम, छठे आदि चार गुणस्थानोंमें माने जाते हैं; क्योंकि वीतराग-भाव होनेके कारण ऊपरके गुणस्थानोंमें इन सराग-संयमोंका संभव नहीं है।

परिहारविशुद्धसंयममें रहकर श्रेणि नहीं की जा सकती; इसलिये उसमें छठा और सातवाँ, ये दो ही गुणस्थान समझने चाहिये।

केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों क्षायिक हैं। क्षायिक-ज्ञान और क्षायिक-दर्शन, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें होते हैं, इसीसे केवल-द्विकमें उक्त दो गुणस्थान माने जाते हैं।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि-द्विकवाले, चौथेसे लेकर बारहवें तक नौ गुणस्थानमें वर्तमान होते हैं; क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्त होनेके पहले अर्थात् पहले तीन गुणस्थानोंमें मति आदि अज्ञानरूप ही हैं और अन्तिम दो गुणस्थानमें क्षायिक-उपयोग होनेसे इनका अभाव ही हो जाता है।

इस जगह अवधिदर्शनमें नव गुणस्थान कहे हुए हैं, सो कार्मग्रन्थिक मतके अनुसार। कार्मग्रन्थिक विद्वान् पहले तीन गुणस्थानोंमें अवधिदर्शन नहीं मानते। वे कहते हैं कि विभङ्गज्ञानसे अवधिदर्शनकी भिन्नता न माननी चाहिये। परन्तु सिद्धान्तके मतानुसार उसमें और भी तीन गुणस्थान गिनने चाहिये। सिद्धान्ती, विभङ्गज्ञानसे अवधिदर्शनको जुदा मानकर पहले तीन गुणस्थानोंमें भी अवधिदर्शन मानते हैं[1]॥ २१॥

अड उवसमि चउ वेयगि, खइए इक्कार मिच्छतिगि देसे।
सुहुमे य सठाणं तेर,-स जोग आहार सुक्काए॥ २२॥

अष्टोपशमे चत्वारि वेदके, क्षायिक एकादश मिथ्यात्रिके देशे।
सूक्ष्मे च स्वस्थानं त्रयोदश योगे आहारे शुक्लायाम्॥ २२॥

अर्थ—उपशमसम्यक्त्वमें चौथा आदि आठ, वेदक (क्षायोपशमिक-) सम्यक्त्वमें चौथा आदि चार और क्षायिकसम्यक्त्वमें चौथा

१—देखिये, परिशिष्ट 'ढ।'

आदि ग्यारह गुणस्थान हैं। मिथ्यात्व-त्रिक (मिथ्यादृष्टि, सास्वादन और मिश्रदृष्टि-) में, देशविरतिमें तथा सूक्ष्मसम्परायचरित्रमें स्व-स्व स्थान (अपना-अपना एक ही गुणस्थान) है। योग, आहारक और शुक्लेश्यामार्गणामें पहले तेरह गुणस्थान हैं॥ २२ ॥

भावार्थ—उपशमसम्यक्त्वमें आठ गुणस्थान माने हैं। इनमेंसे चौथा आदि चार गुणस्थान, ग्रन्थि-भेद-जन्य प्रथम सम्यक्त्व पाते समय और आठवाँ आदि चार गुणस्थान, उपशमश्रेणि करते समय होते हैं।

वेदकसम्यक्त्व तभी होता है, जब कि सम्यक्त्वमोहनीयका उदय हो। सम्यक्त्वमोहनीयका उदय, श्रेणिका आरम्भ न होने तक (सातवें गुणस्थान तक) रहता है। इसी कारण वेदकसम्यक्त्वमें चौथेसे लेकर चार ही गुणस्थान समझने चाहिये।

चौथे और पाँचवें आदि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है, जो सदाकेलिये रहता है; इसीसे उसमें चौथा आदि ग्यारह गुणस्थान कहे गये हैं।

पहला ही गुणस्थान मिथ्यात्वरूप, दूसरा ही सास्वादन-भावरूप, तीसरा ही मिश्र-दृष्टिरूप, पाँचवाँ ही देशविरतिरूप और दसवाँ ही सूक्ष्मसम्परायचारित्ररूप है। इसीसे मिथ्यात्व-त्रिक, देशविरति और सूक्ष्मसम्परायमें एक-एक गुणस्थान कहा गया है।

तीन प्रकारका योग, आहारक और शुक्लेश्या, इन छह मार्गणाओं-में तेरह गुणस्थान होते हैं; क्योंकि चौदहवें गुणस्थानके समय न तो किसी प्रकारका योग रहता है, न किसी तरहका आहार ग्रहण किया जाता है और न लेश्याका ही सम्भव है।

योगमें तेरह गुणस्थानोंका कथन मनोयोग आदि सामान्य योगों-

१—देखिये, परिशिष्ट 'ढ।'

की अपेक्षासे किया गया है। सत्यमनोयोग आदि विशेष योगोंकी अपेक्षासे गुणस्थान इस प्रकार हैं:—

(क) सत्यमन, असत्यामृषामन, सत्यवचन, असत्यामृषावचन और औदारिक, इन पाँच योगोंमें तेरह गुणस्थान हैं।

(ख) असत्यमन, मिश्रमन, असत्यवचन, और मिश्रवचन, इन चारमें पहले बारह गुणस्थान हैं।

(ग) औदारिकमिश्र तथा कार्मणकाययोगमें पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ, ये चार गुणस्थान हैं।

(घ) वैक्रियकाययोगमें पहले सात और वैक्रियमिश्रकाययोगमें पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा, ये पाँच गुणस्थान हैं।

(च) आहारककाययोगमें छठा और सातवाँ, ये दो और आहारकमिश्रकाययोगमें केवल छठा गुणस्थान है ॥ २२ ॥

अस्सन्निसु पढमदुगं, पढमातिलेसासु छच्च दुसु सत्त।
पढमंतिमदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥२३॥

असंज्ञिषु प्रथमद्विकं, प्रथमत्रिलेश्यासु षट् च द्वयोस्सप्त।
प्रथमान्तिमद्विकायतान्यनाहारे मार्गणासु गुणाः ॥ २३ ॥

अर्थ—असंज्ञिओंमें पहले दो गुणस्थान पाये जाते हैं। कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन लेश्याओंमें पहले छह गुणस्थान और तेजः और पद्म, इन दो लेश्याओंमें पहले सात गुणस्थान हैं। अनाहारकमार्गणामें पहले दो, अन्तिम दो और अविरतसम्यग्दृष्टि, ये पाँच गुणस्थान हैं। इस प्रकार मार्गणाओंमें गुणस्थानका वर्णन हुआ ॥ २३ ॥

भावार्थ—असंज्ञीमें दो गुणस्थान कहे हुए हैं। पहला गुणस्थान सब प्रकारके असंज्ञियोंको होता है और दूसरा कुछ असंज्ञिओंको। ऐसे असंज्ञी, करण-अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि ही हैं; क्योंकि

लब्धि-अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदिमें कोई जीव सास्वादन-भावसहित आकार जन्म ग्रहण नहीं करता।

कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन लेश्याओंमें छह गुणस्थान माने जाते हैं। इनमेंसे पहले चार गुणस्थान ऐसे हैं कि जिनकी प्राप्तिके समय और प्राप्तिके बाद भी उक्त तीन लेश्याएँ होती हैं। परन्तु पाँचवाँ और छठा, ये दो गुणस्थान ऐसे नहीं हैं। ये दो गुणस्थान सम्यक्त्व-मूलक विरतिरूप हैं; इसलिये इनकी प्राप्ति तेजः आदि शुभ लेश्याओंके समय होती है; कृष्ण आदि अशुभ लेश्याओंके समय नहीं। तो भी प्राप्ति हो जानेके बाद परिणाम-शुद्धि कुछ घट जानेपर इन दो गुणस्थानोंमें अशुभ लेश्याएँ भी आ जाती हैं[1]।

कहीं-कहीं[2] कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओंमें पहले चार ही गुणस्थान कहे गये हैं, सो प्राप्ति-कालकी अपेक्षासे अर्थात् उक्त तीन लेश्याओंके समय पहले चार गुणस्थानोंके सिवाय अन्य कोई गुण-स्थान प्राप्त नहीं किया जा सकता।

तेजोलेश्या और पद्मलेश्यामें पहले सात गुणस्थान माने हुए हैं, सो प्रतिपद्यमान और पूर्वप्रतिपन्न, दोनोंकी अपेक्षासे अर्थात् सात गुणस्थानोंको पानेके समय और पानेके बाद भी उक्त दो लेश्याएँ रहती हैं।

१—यही बात श्रीभद्रबाहुस्वामीने कही है:—

"सम्मत्तसुयं सव्वा,–सु लहइ सुद्धासु तीसु य चारित्तं।
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरीए उ लेसाए॥८२२॥"

—आवश्यक-निर्युक्ति, पृ० ३३९

अर्थात् "सम्यक्त्वकी प्राप्ति सब लेश्याओंमें होती है, चारित्रकी प्राप्ति पिछली तीन शुद्ध लेश्याओंमें ही होती है। परन्तु चारित्र प्राप्त होनेके बाद छहमेंसे कोई लेश्या आ सकती है।"

२—इसकेलिये देखिये, पञ्चसंग्रह, द्वार १, गा० ३० तथा बन्धस्वामित्व, गा० २४ और जीवकाण्ड गा० ५३१।

अनाहारकमार्गणामें पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ और चौदहवाँ, ये पाँच गुणस्थान कहे हुए हैं। इनमेंसे पहले तीन गुणस्थान विग्रहगति-कालीन अनाहारक-अवस्थाकी अपेक्षासे, तेरहवाँ गुणस्थान केवलिसमुद्घातके तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें होनेवाली अनाहारक-अवस्थाकी अपेक्षासे। और चौदहवाँ गुणस्थान योग-निरोध-जन्य अनाहारक-अवस्थाकी अपेक्षासे समझना चाहिये।

कहीं-कहीं यह लिखा हुआ मिलता है कि तीसरे, बारहवें और तेरहवें, इन तीन गुणस्थानोंमें मरण नहीं होता, शेष ग्यारह गुणस्थानोंमें इसका संभव है। इसलिये इस जगह यह शङ्का होती है कि जब उक्त शेष ग्यारह गुणस्थानोंमें मरणका संभव है, तब विग्रहगतिमें पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन ही गुणस्थान क्यों माने जाते हैं?

इसका समाधान यह है कि मरणके समय उक्त ग्यारह गुणस्थानोंके पाये जानेका कथन है, सो व्यावहारिक मरणको लेकर (वर्तमान भावका अन्तिम समय, जिसमें जीव मरणोन्मुख हो जाता है, उसको लेकर), निश्चय मरणको लेकर नहीं। परभवकी आयुका प्राथमिक उदय, निश्चय मरण है। उस समय जीव विरति-रहित होता है। विरतिका सम्बन्ध वर्तमान भवके अन्तिम समय तक ही है। इसलिये निश्चय मरण-कालमें अर्थात् विग्रहगतिमें पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थानको छोड़कर विरतिवाले पाँचवें आदि आठ गुणस्थानोंका संभव ही नहीं है॥ २३॥

(३)-मार्गणाओंमें योग।

[छह गाथाओंसे।]

सचेयरमीसअस,-चमोसमणवइविउव्वियाहारा।
उरलं मीसा कम्मण, इय जोगा कम्ममणहारे ॥२४॥

सत्येतरमिश्रासत्यमृषमनोवचोवैकुर्विकाहारकाणि ।
औदारिकं मिश्राणि कार्मणमिति योगाः कार्मणमनाहारे ॥ २४ ॥

अर्थ—सत्य, असत्य, मिश्र (सत्यासत्य) और असत्यामृष, ये चार भेद मनोयोगके हैं। वचनयोग भी उक्त चार प्रकारका ही है। वैक्रिय, आहारक और औदारिक, ये तीन शुद्ध तथा ये ही तीन मिश्र और कार्मण, इस तरह सात भेद काययोगके हैं। सब मिलाकर पन्द्रह योग हुए।

अनाहारक-अवस्थामें कार्मणकाययोग ही होता है ॥ २५ ॥

मनोयोगके भेदोंका स्वरूपः-

भावार्थ—(१) जिस मनोयोगद्वारा वस्तुका यथार्थ स्वरूप विचारा जाय; जैसेः—जीव द्रव्यार्थिकनयसे नित्य और पर्यायार्थिकनयसे अनित्य है, इत्यादि, वह 'सत्यमनोयोग' है।

(२) जिस मनोयोगसे वस्तुके स्वरूपका विपरीत चिन्तन हो; जैसेः—जीव एक ही है या नित्य ही है, इत्यादि, वह 'असत्यमनोयोग' है।

(३) किसी अंशमें यथार्थ और किसी अंशमें अयथार्थ, ऐसा मिश्रित चिन्तन, जिस मनोयोगकेद्वारा हो, वह 'मिश्रमनोयोग' है। जैसेः—किसी व्यक्तिमें गुण-दोष दोनोंके होते हुए भी उसे सिर्फ

दोषी समझना। इसमें एक अंश मिथ्या है; क्योंकि दोषकी तरह गुण भी दोषरूपसे ख़याल किये जाते हैं।

(४) जिस मनोयोगकेद्वारा की जानेवाली कल्पना विधि-निषेध-शून्य हो,—जो कल्पना, न तो किसी वस्तुका स्थापन ही करती हो और न उत्थापन, वह 'असत्यामृषामनोयोग' है। जैसेः—हे देवदत्त ! हे इन्द्रदत्त! इत्यादि। इस कल्पनाका अभिप्राय अन्य कार्यमें व्यग्र-व्यक्तिको सम्बोधित करना मात्र है, किसी तत्त्वके स्थापन-उत्थापनका नहीं।

उक्त चार भेद, व्यवहारनयकी अपेक्षासे हैं: क्योंकि निश्चय-दृष्टिसे सबका समावेश सत्य और असत्य, इन दो भेदोंमें ही हो जाता है। अर्थात् जिस मनोयोगमें छल-कपटकी बुद्धि नहीं है, चाहे मिश्र हो या असत्यामृष, उसे 'सत्यमनोयोग' ही समझना चाहिये। इसके विपरीत जिस मनोयोगमें छल-कपटका अंश है, वह 'असत्यमनोयोग' ही है।

वचनयोगके भेदोंका स्वरूपः—

(१) जिस 'वचनयोग'केद्वारा वस्तुका यथार्थ स्वरूप स्थापित किया जाय; जैसेः—यह कहना कि जीव सद्रूप भी है और असद्रूप भी, वह 'सत्यवचनयोग' है।

(२) किसी वस्तुको अयथार्थरूपसे सिद्ध करनेवाला वचन-योग, 'असत्यवचनयोग' है; जैसेः—यह कहना कि आत्मा कोई चीज़ नहीं है या पुण्य-पाप कुछ भी नहीं है।

(३) अनेकरूप वस्तुको एकरूप ही प्रतिपादन करनेवाला वचनयोग 'मिश्रवचनयोग' है। जैसेः—आम, नीम आदि अनेक प्रकारके वृक्षोंके वनको आमका ही वन कहना, इत्यादि।

(४) जो 'वचनयोग' किसी वस्तुके स्थापन-उत्थापनकेलिये

प्रवृत्त नहीं होता, वह 'असत्यामृषवचनयोग' है; जैसेः—किसीका ध्यान अपनी ओर खींचनेकेलिये कहना कि हे भोजदत्त! हे मित्रसेन! इत्यादि पद सम्बोधनमात्र हैं, स्थापन-उत्थापन नहीं। वचनयोगके भी मनोयोगकी तरह, तत्त्व-दृष्टिसे सत्य और असत्य, ये दो ही भेद समझने चाहिये।

काययोगके भेदोंका स्वरूपः—

(१) सिर्फ वैक्रियशरीरकेद्वारा वीर्य-शक्तिका जो व्यापार होता है, वह 'वैक्रियकाययोग'। यह योग, देवों तथा नारकोंको पर्याप्त-अवस्थामें सदा ही होता है। और मनुष्यों तथा तिर्यञ्चोंको वैक्रियलब्धिके बलसे वैक्रियशरीर धारण कर लेनेपर ही होता है। 'वैक्रियशरीर' उस शरीरको कहते हैं, जो कभी एकरूप और कभी अनेकरूप होता है, तथा कभी छोटा, कभी बड़ा, कभी आकाश-गामी, कभी भूमि-गामी, कभी दृश्य और कभी अदृश्य होता है। ऐसा वैक्रिय-शरीर, देवों तथा नारकोंको जन्म-समयसे ही प्राप्त होता है; इसलिये वह 'औपपातिक' कहलाता है। मनुष्यों तथा तिर्यञ्चोंका वैक्रियशरीर 'लब्धिप्रत्यय' कहलाता है; क्योंकि उन्हें ऐसा शरीर, लब्धिके निमित्तसे प्राप्त होता है, जन्मसे नहीं।

(२) वैक्रिय और कार्मण तथा वैक्रिय और औदारिक, इन दो-दो शरीरोंकेद्वारा होनेवाला वीर्य-शक्तिका व्यापार, 'वैक्रियमिश्रकाययोग' है। पहले प्रकारका वैक्रियमिश्रकाययोग, देवों तथा नारकोंको उत्पत्तिके दूसरे समयसे लेकर अपर्याप्त-अवस्था तक रहता है। दूसरे प्रकारका वैक्रियमिश्रकाययोग, मनुष्यों और तिर्यञ्चोंमें तभी पाया जाता है, जब कि वे लब्धिके सहारेसे वैक्रियशरीरका आरम्भ और परित्याग करते हैं।

(३) सिर्फ आहारकशरीरकी सहायतासे होनेवाला वीर्य-शक्तिका व्यापार, 'आहारककाययोग' है।

(४) 'आहारकमिश्रकाययोग' वीर्य-शक्तिका वह व्यापार है, जो आहारक और औदारिक, इन दो शरीरोंकेद्वारा होता है। आहारक-शरीर धारण करनेके समय, आहारकशरीर और उसका आरम्भ-परित्याग करनेके समय, आहारकमिश्रकाययोग होता है। चतुर्दश-पूर्वधर मुनि, संशय दूर करने, किसी सूक्ष्म विषयको जानने अथवा समृद्धि देखनेके निमित्त, दूसरे क्षेत्रमें तीर्थङ्करके पास जानेकेलिये विशिष्ट-लब्धिकेद्वारा आहारकशरीर बनाते हैं।

(५) औदारिककाययोग, वीर्य-शक्तिका वह व्यापार है, जो सिर्फ औदारिकशरीरसे होता है। यह योग, सब औदारिकशरीरी जीवोंको पर्याप्त-दशामें होता है। जिस शरीरको तीर्थङ्कर आदि महान् पुरुष धारण करते हैं, जिससे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, जिसके बननेमें भिंडीके समान थोड़े पुद्गलोंकी आवश्यकता होती है और जो मांस-हड्डी और नस आदि अवयवोंसे बना होता है, वही शरीर, 'औदारिक' कहलाता है।

(६) वीर्य-शक्तिका जो व्यापार, औदारिक और कार्मण इन दोनों शरीरोंकी सहायतासे होता है, वह 'औदारिकमिश्रकाययोग' है। यह योग, उत्पत्तिके दूसरे समयसे लेकर अपर्याप्त-अवस्था पर्यन्त सब औदारिकशरीरी जीवोंको होता है।

(७) सिर्फ कार्मणशरीरकी मददसे वीर्य-शक्तिकी जो प्रवृत्ति होती है, वह 'कार्मणकाययोग' है। यह योग, विग्रहगतिमें तथा उत्पत्तिके प्रथम समयमें सब जीवोंको होता है। और केवलिसमुद्घातके तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें केवलीको होता है। 'कार्मणशरीर' वह है, जो कर्म-पुद्गलोंसे बना होता है और आत्माके प्रदेशोंमें इस तरह मिला रहता है, जिस तरह दूधमें पानी। सब शरीरोंकी जड, कार्मणशरीर ही है अर्थात् जब इस शरीरका समूल नाश होता है, तभी संसारका उच्छेद हो जाता है। जीव, नये जन्मको

ग्रहण करनेकेलिये जब एक स्थानसे दूसरे स्थानको जाता है, तब वह इसी शरीरसे वेष्टित रहता है। यह शरीर इतना सूक्ष्म है कि वह रूपवाला होनेपर भी नेत्र आदि इन्द्रियोंका विषय बन नहीं सकता। इसी शरीरको दूसरे दार्शनिक ग्रन्थोंमें 'सूक्ष्मशरीर' या 'लिङ्गशरीर' कहा है।

यद्यपि तैजस नामका एक और भी शरीर माना गया है, जो कि खाये हुए आहारको पचाता है और विशिष्ट लब्धि-धारी तपस्वी, जिसकी सहायतासे तेजोलेश्याका प्रयोग करते हैं। इसलिये यह शङ्का हो सकती है कि कार्मणकाययोगके समान तैजसकाययोग भी मानना आवश्यक है।

इस शङ्काका समाधान यह है कि तैजसशरीर और कार्मणशरीर-का सदा साहचर्य रहता है। अर्थात् औदारिक आदि अन्य शरीर, कभी-कभी कार्मणशरीरको छोड़ भी देते हैं; पर तैजसशरीर उसे कभी नहीं छोड़ता। इसलिये वीर्य-शक्तिका जो व्यापार, कार्मण-शरीरकेद्वारा होता है, वही नियमसे तैजसशरीरकेद्वारा भी होता रहता है। अतः कार्मणकाययोगमें ही तैजसकाययोगका समावेश हो जाता है; इसलिये उसको जुदा नहीं गिना है।

आठ मार्गणाओंमें योगका विचार:—

ऊपर जिन पन्द्रह योगोंका विचार किया गया है, उनमेंसे कार्म-णकाययोग ही ऐसा है, जो अनाहारक-अवस्थामें पाया जाता है। शेष चौदह योग, आहारक-अवस्थामें ही होते हैं। यह नियम नहीं है कि अनाहारक-अवस्थामें कार्मणकाययोग होता ही है; क्योंकि चौदहवें गुणस्थानमें अनाहारक-अवस्था होनेपर भी किसी तरहका

१—"उक्तस्य सूक्ष्मशरीरस्य स्वरूपमाह—"सप्तदशैकं लिङ्गम्।"

—सांख्यदर्शन-अ० ३, सू० ९।

योग नहीं होता। यह भी नियम नहीं है कि कार्मणकाययोगके समय, अनाहारक-अवस्था अवश्य होती है; क्योंकि उत्पत्ति-क्षणमें कार्मण-काययोग होनेपर भी जीव, अनाहारक नहीं होता, बल्कि वह, उसी योगकेद्वारा आहार लेता है। परन्तु यह तो नियम ही है कि जब जीवकी अनाहारक-अवस्था होती है, तब कार्मणकाययोगके सिवाय अन्य योग होता ही नहीं। इसीसे अनाहारक-मार्गणामें एक मात्र कार्मणकाययोग माना गया है ॥ २४ ॥

नरगइपणिंदितसतणु,-अचक्खुनरनपुकसायसंमदुगे ।
संनिछलेसाहारग,-भवमइसुओहिदुगे सव्वे ॥२५॥

नरगतिपञ्चेन्द्रियत्रसतन्वचक्षुर्नरनपुंसककषायसम्यक्त्वद्विके ।
संज्ञिषड्लेश्याहारकभव्यमतिश्रुतावधिद्विके सर्वे ॥ २५ ॥

अर्थ—मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति,त्रसकाय, काययोग, अचक्षु-दर्शन, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, चार कषाय, क्षायिक तथा क्षायोपश-मिक, ये दो सम्यक्त्व, संज्ञी, छह लेश्याएँ, आहारक, भव्य, मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधि-द्विक, इन छब्बीस मार्गणाओंमें सब -- पन्द्रहों-योग होते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ—उपर्युक्त छब्बीस मार्गणाओंमें पन्द्रह योग इसलिये कहे गये हैं कि इन सब मार्गणाओंका सम्बन्ध मनुष्यपर्यायके साथ है और मनुष्यपर्यायमें सब योगोंका सम्भव है।

यद्यपि कहीं-कहीं यह कथन मिलता है कि आहारकमार्गणामें कार्मणयोग नहीं होता, शेष चौदह योग होते हैं। किन्तु वह युक्ति-सङ्गत नहीं जान पड़ता; क्योंकि जन्मके प्रथम समयमें, कार्मण-योगके सिवाय अन्य किसी योगका सम्भव नहीं है। इसलिये उस समय, कार्मणयोगकेद्वारा ही आहारकत्व घटाया जा सकता है।

जन्मके प्रथम समयमें जो आहार किया जाता है,उसमें सूक्ष्म।

पुद्गल ही साधन होते हैं; इसलिये उस समय, कार्मणकाययोग मानने की ज़रूरत नहीं है। ऐसी शङ्का करना व्यर्थ है। क्योंकि प्रथम समयमें, आहाररूपसे ग्रहण किये हुए पुद्गल उसी समय शरीररूपमें परिणत होकर दूसरे समयमें आहार लेनेमें साधन बन सकते हैं, पर अपने ग्रहणमें आप साधन नहीं बन सकते ॥ २५ ॥

तिरिइत्थिअजयसासण,-अनाणउवसमअभव्वमिच्छेसु।
तेराहारदुगूणा, ते उरलदुगूण सुरनरए ॥ २६ ॥

तिर्यक्स्त्र्ययतसासादनाज्ञानोपशमाभव्यमिथ्यात्वेषु ।
त्रयोदशाहारकद्विकोनास्त औदारिकद्विकोनाः सुरेनरके ॥ २६ ॥

अर्थ—तिर्यञ्चगति, स्त्रीवेद, अविरति, सास्वादन, तीन अज्ञान, उपशमसम्यक्त्व, अभव्य और मिथ्यात्व, इन दस मार्गणाओंमें आहारक-द्विकके सिवाय तेरह योग होते हैं। देवगति और नरकगतिमें उक्त तेरहमेंसे औदारिक-द्विकके सिवाय शेष ग्यारह योग होते हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ—तिर्यञ्चगति आदि उपर्युक्त दस मार्गणाओंमें आहारक-द्विकके सिवाय शेष सब योग होते हैं। इनमेंसे स्त्रीवेद और उपशमसम्यक्त्वको छोड़कर शेष आठ मार्गणाओंमें आहारकयोग न होनेका कारण सर्वविरतिका अभाव ही है। स्त्रीवेदमें सर्वविरतिका संभव होनेपर भी आहारकयोग न होनेका कारण स्त्रीजातिको दृष्टिवाद—जिसमें चौदह पूर्व हैं—पढ़नेका निषेध है। उपशमसम्यक्त्वमें सर्वविरतिका संभव है तथापि उसमें आहारकयोग न माननेका कारण यह है कि उपशमसम्यक्त्वी आहारकलब्धिका प्रयोग नहीं करते।

१—देखिये, परिशिष्ट 'त।'

तिर्यञ्चगतिमें तेरह योग कहे गये हैं। इनमेंसे चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिककाययोग, इस तरहसे ये नौ योग पर्याप्त-अवस्थामें होते हैं। वैक्रियकाययोग और वैक्रियमिश्रकाययोग पर्याप्त-अवस्थामें होते हैं सही: पर सब तिर्यञ्चोंको नहीं; किन्तु वैक्रिय-लब्धिके बलसे वैक्रियशरीर बनानेवाले कुछ तिर्यञ्चोंको ही। कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग, तिर्यञ्चोंको अपर्याप्त-अवस्थामें ही होते हैं।

स्त्रीवेदमें तेरह योगोंका संभव इस प्रकार है:—मनके चार, वचनके चार, दो वैक्रिय और एक औदारिक, ये ग्यारह योग मनुष्य-तिर्यञ्च-स्त्रीको पर्याप्त-अवस्थामें, वैक्रियमिश्रकाययोग देव-स्त्रीको अपर्याप्त-अवस्थामें, औदारिकमिश्रकाययोग मनुष्य-तिर्यञ्च-स्त्रीको अपर्याप्त-अवस्थामें और कार्मणकाययोग पर्याप्त-मनुष्य-स्त्रीको केवलिसमुद्घात-अवस्थामें होता है।

अविरति, सम्यग्दृष्टि, सास्वादन, तीन अज्ञान, अभव्य और मिथ्यात्व, इन सात मार्गणाओंमें चार मनके, चार वचनके, औदा-रिक और वैक्रिय, ये दस योग पर्याप्त-अवस्थामें होते हैं। कार्मण-काययोग विग्रहगतिमें तथा उत्पत्तिके प्रथम क्षणमें होता है। औदा-रिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये दो योग अपर्याप्त-अवस्थामें होते हैं।

१—स्त्रीवेदका मतलब इस जगह द्रव्यस्त्रीवेदसे ही है। क्योंकि उसीमें आहारकयोगका अभाव घट सकता है। भावस्त्रीवेदमें तो आहारकयोगका संभव है अर्थात् जो द्रव्यसे पुरुष होकर भावस्त्रीवेदका अनुभव करता है, वह भी आहारकयोगवाला होता है। इसी तरह आगे उप-योगाधिकारमें जहाँ वेदमें बारह उपयोग कहे हैं, वहाँ भी वेदका मतलब द्रव्यवेदसे ही है। क्योंकि क्षायिक-उपयोग भाववेदरहितको ही होते हैं, इसलिये भाववेदमें बारह उपयोग नहीं घट सकते। इससे उलटा, गुणस्थान-अधिकारमें वेदका मतलब भाववेदसे ही है; क्योंकि वेदमें नौ गुणस्थान कहे हुए हैं, सो भाववेदमें ही घट सकते हैं, द्रव्यवेद तो चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त रहता है।

उपशमसम्यक्त्वमें चार मनके, चार वचनके, औदारिक और वैक्रिय, ये दस योग पर्याप्त-अवस्थामें पाये जाते हैं। कार्मण और वैक्रियमिश्र, ये दो योग अपर्याप्त-अवस्थामें देवोंकी अपेक्षासे समझने चाहिये; क्योंकि जिनका यह मत है कि उपशमश्रेणिसे गिरनेवाले जीव मरकर अनुत्तरविमानमें उपशमसम्यक्त्वसहित जन्म लेते हैं, उनके मतसे अपर्याप्त देवोंमें उपशमसम्यक्त्वके समय उक्त दोनों योग पाये जाते हैं। उपशमसम्यक्त्वमें औदारिकमिश्रयोग गिना है, सो सैद्धान्तिक मतके अनुसार, कार्मग्रन्थिक मतके अनुसार नहीं; क्योंकि कार्मग्रन्थिक मतसे पर्याप्त-अवस्थामें केवलीके सिवाय अन्य किसीको वह योग नहीं होता। अपर्याप्त-अवस्थामें मनुष्य तथा तिर्यञ्चको होता है सही, पर उन्हें उस अवस्थामें किसी तरहका उपशमसम्यक्त्व नहीं होता। सैद्धान्तिक मतसे उपशमसम्यक्त्वमें औदारिकमिश्रयोग घट सकता है; क्योंकि सैद्धान्तिक विद्वान् वैक्रियशरीरकी रचनाके समय वैक्रियमिश्रयोग न मानकर औदारिकमिश्रयोग मानते हैं; इसलिये वह योग, ग्रन्थि-भेद-जन्य उपशमसम्यक्त्ववाले वैक्रियलब्धि-संपन्न मनुष्यमें वैक्रियशरीरकी रचनाके समय पाया जा सकता है।

देवगति और नरकगतिमें विरति न होनेसे दो आहारकयोगोंका सम्भव नहीं है तथा औदारिकशरीर न होनेसे दो औदारिकयोगोंका संभव नहीं है। इसलिये इन चार योगोंके सिवाय शेष ग्यारह योग उक्त दो गतियोंमें कहे गये हैं; सो यथासम्भव विचार लेना चाहिये ॥ २६ ॥

१—यह मत स्वयं ग्रन्थकारने ही आगेकी ४९वीं गाथामें इस अंशसे निर्दिष्ट किया है—

"विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं"

कम्मुरलदुगं थावरि, ते सविउव्विदुग पंच इगि पवणे।
छ असंनि चरमवइजुय, ते विउवदुगूण चउ विगले ॥२७॥

कार्मणौदारिकद्विकं स्थावरे, ते सवैक्रियद्विकाः पञ्चैकस्मिन् पवने।
षडसञ्ज्ञिनि चरमवचोयुतास्ते वैक्रियद्विकोनाश्चत्वारो विकले ॥२७॥

अर्थ—स्थावरकायमें, कार्मण तथा औदारिक-द्विक, ये तीन योग होते हैं। एकेन्द्रियजाति और वायुकायमें उक्त तीन तथा वैक्रिय-द्विक, ये कुल पाँच योग होते हैं। असंज्ञीमें उक्त पाँच और चरम वचनयोग (असत्यामृषावचन) कुल छह योग होते हैं। विकलेन्द्रियमें उक्त छह-मेंसे वैक्रिय-द्विकको घटाकर शेष चार (कार्मण, औदारिकमिश्र, औदारिक और असत्यामृषावचन) योग होते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—स्थावरकायमें तीन योग कहे गये हैं, सो वायुकायके सिवाय अन्य चार प्रकारके स्थावरोंमें समझना चाहिये। क्योंकि वायुकायमें और भी दो योगोंका संभव है। तीन योगोंमेंसे कार्मणकाय-योग, विग्रहगतिमें तथा उत्पत्ति-समयमें, औदारिकमिश्रकाययोग, उत्पत्ति-समयको छोड़कर शेष अपर्याप्त-कालमें और औदारिक-काययोग, पर्याप्त-अवस्थामें समझना चाहिये।

एकेन्द्रियजातिमें, वायुकायके जीव भी आ जाते हैं। इसलिये उसमें तीन योगोंके अतिरिक्त, दो वैक्रिययोग मानकर पाँच योग कहे हैं।

वायुकायमें अन्य स्थानोंकी तरह कार्मण आदि तीन योग पाये जाते हैं; पर इनके सिवाय और भी दो योग (वैक्रिय और वैक्रियमिश्र) होते हैं। इसीसे उसमें पाँच योग माने गये हैं। वायुकायमें पर्याप्त बादर

१—यही बात प्रज्ञापना-चूर्णिमें कही हुई है:—

जीव, वैक्रियलब्धि-संपन्न होते हैं, वे ही वैक्रिय-द्विकके अधिकारी हैं, सब नहीं। वैक्रियशरीर बनाते समय, वैक्रियमिश्रकाययोग और बना चुकनेके बाद उसे धारण करते समय वैक्रियकाययोग होता है।

असंज्ञीमें छह योग कहे गये हैं। इनमेंसे पाँच योग तो वायुकायकी अपेक्षासे; क्योंकि सभी एकेन्द्रिय असंज्ञी ही हैं। छठा असत्यामृषावचनयोग, द्वीन्द्रिय आदिकी अपेक्षासे; क्योंकि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रिय, ये सभी असंज्ञी हैं। द्वीन्द्रिय आदि असंज्ञी जीव, भाषालब्धि-युक्त होते हैं; इसलिये उनमें असत्यामृषावचनयोग होता है।

विकलेन्द्रियमें चार योग कहे गये हैं; क्योंकि वे, वैक्रियलब्धिसंपन्न न होनेके कारण वैक्रियशरीर नहीं बना सकते। इसलिये उनमें असंज्ञीसम्बन्धी छह योगोंमेंसे वैक्रिय-द्विक नहीं होता॥ २७॥

कम्मुरलमीसविणु मण,-वइसमइयछेयचक्खुमणनाणे।
उरलदुगकम्मपढमं,-तिममणवइ केवलदुगंमि॥ २८॥

कर्मौदारिकमिश्रं विना मनोवचस्सामायिकच्छेदचक्षुर्मनोज्ञाने।
औदारिकद्विककर्मप्रथमान्तिममनोवचः केवलद्विके॥ २८॥

अर्थ—मनोयोग, वचनयोग, सामायिकचारित्र, छेदोपस्थापनीयचारित्र, चक्षुर्दर्शन और मनःपर्यायज्ञान, इन छह मार्गणाओंमें

"तिण्हं ताव रासीणं, वेउव्विअलद्धी चेव नत्थि।
बादरपज्जत्ताणं पि, संखेज्जइ भागस्स त्ति॥"

—पञ्चसंग्रह-द्वार १ की टीकामें प्रमाणरूपसे उद्धृत।

अर्थात्—"अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म और अपर्याप्त बादर, इन तीन प्रकारके वायुकायिकोंमें तो वैक्रियलब्धि है ही नहीं। पर्याप्त बादर वायुकायमें है, परन्तु वह सबमें नहीं; सिर्फ उसके संख्यातवें भागमें ही है।"

कार्मण तथा औदारिकमिश्रको छोड़कर तेरह योग होते हैं। केवल-द्विकमें औदारिक-द्विक, कार्मण, प्रथम तथा अन्तिम मनोयोग (सत्य तथा असत्यामृषामनोयोग) और प्रथम तथा अन्तिम वचनयोग (सत्य तथा असत्यामृषावचनयोग), ये सात योग होते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ—मनोयोग आदि उपर्युक्त छह मार्गणाएँ पर्याप्त-अवस्थामें ही पायी जाती हैं। इसलिये इनमें कार्मण तथा औदारिक-मिश्र, ये अपर्याप्त-अवस्था-भावी दो योग, नहीं होते। केवलीको केवलिसमुद्घातमें ये योग होते हैं। इसलिये यद्यपि पर्याप्त-अवस्थामें भी इनका संभव है तथापि यह जानना चाहिये कि केवलि-समुद्घातमें जब कि ये योग होते हैं, मनोयोग आदि उपर्युक्त छहमेंसे कोई भी मार्गणा नहीं होती। इसीसे इन छह मार्गणाओंमें उक्त दो योगके सिवाय, शेष तेरह योग कहे गये हैं[1]।

केवल-द्विकमें औदारिक-द्विक आदि सात योग कहे गये हैं, सो इस प्रकारः—सयोगीकेवलीको, औदारिककाययोग सदा ही रहता है; सिर्फ केवलिसमुद्घातके मध्यवर्ती छह समयोंमें नहीं होता। औदा-रिकमिश्रकाययोग, केवलिसमुद्घातके दूसरे, छठे और सातवें समयमें तथा कार्मणकाययोग तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें होता है। दो वचनयोग, देशना देनेके समय होते हैं और दो मनोयोग किसीके प्रश्नका मनसे उत्तर देनेके समय। मनसे उत्तर देनेका मतलब यह है कि जब कोई अनुत्तरविमानवासी देव या मनःपर्यायज्ञानी अपने स्थानमें रहकर मनसे ही केवलीको प्रश्न करते हैं, तब उनके प्रश्नको केवलज्ञानसे जानकर केवली भगवान उसका उत्तर मनसे ही देते हैं। अर्थात् मनोद्रव्यको ग्रहणकर उसकी ऐसी रचना करते हैं कि

१—देखिये, परिशिष्ट 'थ।'

२—गोम्मटसार-जीवकाण्डकी २२८वीं गाथामें भी केवलीको द्रव्यमनका सम्बन्ध माना है।

जिसको अवधिज्ञान या मनःपर्यायज्ञानकेद्वारा देखकर प्रश्नकर्ता केवली भगवान्के दिये हुए उत्तरको अनुमानद्वारा जान लेते हैं। यद्यपि मनोद्रव्य बहुत सूक्ष्म है तथापि अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञानमें उसका प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेनेकी शक्ति है। जैसे कोई मानसशास्त्रज्ञ किसीके चेहरेपर होनेवाले सूक्ष्म परिवर्तनोंको देखकर उसके मनो-गत-भावको अनुमानद्वारा जान लेता है, वैसे ही अवधिज्ञानी या मनःपर्यायज्ञानी मनोद्रव्यकी रचनाको साक्षात् देखकर अनुमानद्वारा यह जान लेते हैं कि इस प्रकारकी मनो-रचनाकेद्वारा अमुक अर्थका ही चिन्तन किया हुआ होना चाहिये॥ २८॥

मणवइउरला परिहा,-रि सुहुमि नव ते उ मीसि सविउव्वा।
देसे सविउव्विदुगा, सकम्मुरलमीस अहखाए॥ २९॥

मनोवच औदारिकाणि परिहारे सूक्ष्मे नव ते तु मिश्रे सवैक्रियाः।
देशे सवैक्रियद्विकाः, सकार्मणौदारिकमिश्राः यथाख्याते॥२९॥

अर्थ—परिहारविशुद्ध और सूक्ष्मसम्परायचारित्रमें मनके चार, वचनके चार और एक औदारिक, ये नौ योग होते हैं। मिश्रमें (सम्यग्मिथ्यादृष्टिमें) उक्त नौ तथा एक वैक्रिय, कुल दस योग होते हैं। देशविरतिमें उक्त नौ तथा वैक्रिय-द्विक, कुल ग्यारह योग होते हैं। यथाख्यातचारित्रमें चार मनके, चार वचनके, कार्मण और औदारिक-द्विक, ये ग्यारह योग होते हैं॥ २९॥

भावार्थ—कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग छद्मस्थकेलिये अपर्याप्त-अवस्था-भावी हैं; किन्तु चारित्र कोई भी अपर्याप्त-अवस्थामें नहीं होता। वैक्रिय और वैक्रियमिश्र, ये दो योग वैक्रिय-लब्धिका प्रयोग करनेवाले ही मनुष्यको होते हैं। परन्तु परिहार-विशुद्ध या सूक्ष्मसम्परायचारित्रवाला कभी वैक्रियलब्धिका प्रयोग नहीं करता। आहारक और आहारकमिश्र, ये दो योग चतुर्दश-

पूर्व-धर प्रमत्त मुनिको ही होते हैं; किन्तु परिहारविशुद्धचारित्रका अधिकारी कुछ-कम दस पूर्वका ही पाठी होता है और सूक्ष्मसंपराय-चारित्रवाला चतुर्दश-पूर्व-धर होनेपर भी अप्रमत्त ही होता है; इस कारण परिहारविशुद्ध और सूक्ष्मसंपरायमें कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र, आहारक और आहारकमिश्र, ये छह योग नहीं होते, शेष नौ होते हैं।

मिश्रसम्यक्त्वके समय मृत्यु नहीं होती। इस कारण अपर्याप्त-अवस्थामें वह सम्यक्त्व नहीं पाया जाता। इसीसे उसमें कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये अपर्याप्त-अवस्था-भावी तीन योग नहीं होते। तथा मिश्रसम्यक्त्वके समय चौदह पूर्वके ज्ञानका संभव न होनेके कारण दो आहारकयोग नहीं होते। इस प्रकार कार्मण आदि उक्त पाँच योगोंको छोड़कर शेष दस योग मिश्रसम्यक्त्वमें होते हैं।

इस जगह यह शङ्का होती है कि मिश्रसम्यक्त्वमें अपर्याप्त-अवस्था-भावी वैक्रियमिश्रयोग नहीं माना जाता, सो तो ठीक है; परन्तु वैक्रियलब्धिका प्रयोग करते समय मनुष्य और तिर्यञ्चको पर्याप्त-अवस्थामें जो वैक्रियमिश्रयोग होता है, वह मिश्रसम्यक्त्वमें क्यों नहीं माना जाता? इसका समाधान इतना ही दिया जाता है कि मिश्रसम्यक्त्व और लब्धि-जन्य वैक्रियमिश्रयोग, ये दोनों पर्याप्त-अवस्था-भावी हैं; किन्तु इनका साहचर्य नहीं होता। अर्थात् मिश्र-सम्यक्त्वके समय लब्धिका प्रयोग न किये जानेके कारण वैक्रिय-मिश्रकाययोग नहीं होता।

व्रतधारी श्रावक, चतुर्दश-पूर्वी और अपर्याप्त नहीं होता; इस कारण देशविरतिमें दो आहारक और अपर्याप्त-अवस्था-भावी कार्मण और औदारिकमिश्र, इन चारके सिवाय शेष ग्यारह योग माने जाते हैं। ग्यारहमें वैक्रिय और वैक्रियमिश्र, ये दो योग गिने हुए हैं,

सो इसलिये कि 'अम्बड' आदि श्रावकद्वारा वैक्रियलब्धिसे वैक्रिय-शरीर बनाये जानेकी बात शास्त्रमें प्रसिद्ध है।

यथाख्यातचारित्रवाला अप्रमत्त ही होता है, इसलिये उस चारित्रमें दो वैक्रिय और दो आहारक, ये प्रमाद-सहचारी चार योग नहीं होते; शेष ग्यारह होते हैं। ग्यारहमें कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग गिने गये हैं, सो केवलिसमुद्घातकी अपेक्षासे। केवलिसमुद्घातके दूसरे, छठे और सातवें समयमें औदारिकमिश्र और तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें कार्मणयोग होता है ॥२३॥



१—देखिये, औपपातिक पृ० ९६।
२—देखिये, परिशिष्ट 'द'।

(४)–मार्गणाओंमें उपयोग।

[छह गाथाओंसे ।]

ति अनाण नाण पण चउ, दंसण बार जियलक्खणुवओगा।
विणु मणनाणदुकेवल, नव सुरतिरिनिरयअजएसु ॥३०॥

त्रीण्यज्ञानानि ज्ञानानि पञ्च चत्वारि दर्शनानि द्वादश जीवलक्षणमुपयोगाः।
विना मनोज्ञानद्विकेवलं, नव सुरतिर्यङ्निरयायतेषु ॥ ३० ॥

अर्थ—तीन अज्ञान, पाँच ज्ञान और चार दर्शन, ये बारह उपयोग हैं, जो जीवके लक्षण हैं। इनमेंसे मनःपर्यायज्ञान और केवल-द्विक, इन तीनके सिवाय शेष नौ उपयोग देवगति, तिर्यञ्च-गति, नरकगति और अविरतमें पाये जाते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ—किसी वस्तुका लक्षण, उसका असाधारण धर्म है; क्योंकि लक्षणका उद्देश्य, लक्ष्यको अन्य वस्तुओंसे भिन्न बतलाना है; जो असाधारण धर्ममें ही घट सकता है। उपयोग, जीवके असाधारण (खास) धर्म हैं और अजीवसे उसकी भिन्नताको दरसाते हैं; इसी कारण वे जीवके लक्षण कहे जाते हैं।

मनःपर्याय और केवल-द्विक, ये तीन उपयोग सर्वविरति-सापेक्ष हैं; परन्तु देवगति, तिर्यञ्चगति, नरकगति और अविरति, इन चार मार्गणाओंमें सर्वविरतिका संभव नहीं है; इस कारण इनमें तीन उपयोगोंको छोड़कर शेष नौ उपयोग माने जाते हैं।

अविरतिवालोंमेंसे शुद्ध सम्यक्त्वीको तीन ज्ञान, तीन दर्शन, ये छह उपयोग और शेष सबको तीन अज्ञान और दो दर्शन, ये पाँच उपयोग समझने चाहिये ॥ ३० ॥

तसजोयवेयसुक्का,-हारनरपणिंदसंनिभवि सव्वे।
नयणेयरपणलेसा,-कसाइ दस केवलदुगूणा ॥ ३१ ॥

त्रसयोगवेदशुक्लाहारकनरपञ्चेन्द्रियसंज्ञिभव्ये सर्वे।
नयनेतरपञ्चलेश्याकषाये दश केवलद्विकोनाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—त्रसकाय, तीन योग, तीन वेद, शुक्लेलेश्या, आहारक, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, संज्ञी और भव्य, इन तेरह मार्गणाओंमें सब उपयोग होते हैं। चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, शुक्लके सिवाय शेष पाँच लेश्याएँ और चार कषाय, इन ग्यारह मार्गणाओंमें केवल-द्विक-को छोड़कर शेष दस उपयोग पाये जाते हैं ॥ ३१ ॥

भावार्थ—त्रसकाय आदि उपर्युक्त तेरह मार्गणाओंमेंसे योग, शुक्ललेश्या और आहारकत्व, ये तीन मार्गणाएँ तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त और शेष दस, चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त पायी जाती हैं; इसलिये इन सबमें बारह उपयोग माने जाते है। चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त वेद पाये जानेका मतलब, द्रव्यवेदसे है; क्योंकि भाववेद तो नौवें गुणस्थान तक ही रहता है।

चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन, ये दो बारहवें गुणस्थान पर्यन्त, कृष्ण-आदि तीन लेश्याएँ छठे गुणस्थान पर्यन्त, तेजः-पद्म, दो लेश्याएँ सातवें गुणस्थान पर्यन्त और कषायोदय अधिकसे अधिक दसवें गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है; इस कारण चक्षुर्दर्शन आदि उक्त ग्यारह मार्गणाओंमें केवल-द्विकके सिवाय शेष दस उपयोग होते हैं ॥ ३१ ॥

चउरिंदिअसंनि दुअना,-णदंसण इगिबितिथावरि अचक्खु।
तिअनाण दंसणदुगं, अनाणतिगअभवि मिच्छदुगे ॥३२॥

चतुरिन्द्रियासंज्ञिनि द्व्यज्ञानदर्शनमेकाद्वित्रिस्थावरेऽचक्षुः ।
त्र्यज्ञानं दर्शनाद्विकमज्ञानत्रिकाभव्ये मिथ्यात्वद्विके ॥ ३२ ॥

अर्थ—चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें मति और श्रुत दो अज्ञान तथा चक्षुः और अचक्षुः दो दर्शन, कुल चार उपयोग होते हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और पाँच प्रकारके स्थावरमें उक्त चारमेंसे चक्षुर्दर्शनके सिवाय, शेष तीन उपयोग होते हैं। तीन अज्ञान, अभव्य, और मिथ्यात्व-द्विक (मिथ्यात्व तथा सासादन), इन छह मार्गणाओंमें तीन अज्ञान और दो दर्शन, कुल पाँच उपयोग होते हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थ—चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रियमें विभङ्गज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है तथा उनमें सम्यक्त्व न होनेके कारण, सम्यक्त्वके सहचारी पाँच ज्ञान और अवधि और केवल दो दर्शन, ये सात उपयोग नहीं होते, इस तरह कुल आठके सिवाय शेष चार उपयोग होते हैं।

एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त आठ मार्गणाओंमें नेत्र न होनेके कारण चक्षुर्दर्शन और सम्यक्त्व न होनेके कारण पाँच ज्ञान तथा अवधि और केवल, ये दो दर्शन और तथाविध योग्यता न होनेके कारण विभङ्गज्ञान, इस तरह कुल नौ उपयोग नहीं होते, शेष तीन होते हैं।

अज्ञान-त्रिक आदि उपर्युक्त छह मार्गणाओंमें सम्यक्त्व तथा विरति नहीं है; इसलिये उनमें पाँच ज्ञान और अवधि-केवल, ये दो दर्शन, इन सातके सिवाय शेष पाँच उपयोग होते हैं।

सिद्धान्ती, विभङ्गज्ञानीमें अवधिदर्शन मानते हैं और सास्वादन-गुणस्थानमें अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मानते[1] हैं; इसलिये इस जगह अज्ञान-त्रिक आदि छह मार्गणाओंमें अवधिदर्शन नहीं माना है और

१—खुलासेकेलिये २१वीं तथा ४९वीं गाथाका टिप्पण देखना चाहिये।

सास्वादनमार्गणामें ज्ञान नहीं माना है, सो कार्मग्रन्थिक मतके अनुसार समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

केवलदुगे नियदुगं, नव तिअनाण विणु खइयअहखाये।
दंसणनाणतिगं दे,-सि मीसि अन्नाणमीसं तं॥ ३३ ॥

केवलद्विके निजद्विकं, नव त्र्यज्ञानं विना क्षायिकयथाख्याते।
दर्शनज्ञानत्रिकं देशे मिश्रेऽज्ञानमिश्रं तत् ॥३३॥

अर्थ—केवल-द्विकमें निज-द्विक (केवलज्ञान और केवलदर्शन) दो ही उपयोग हैं। क्षायिकसम्यक्त्व और यथाख्यातचारित्रमें तीन अज्ञानको छोड़, शेष नौ उपयोग होते हैं। देशविरतिमें तीन ज्ञान और तीन दर्शन, ये छह उपयोग होते हैं। मिश्र-दृष्टिमें वही उपयोग अज्ञान-मिश्रित होते हैं ॥३३॥

भावार्थ—केवल-द्विकमें केवलज्ञान और केवलदर्शन दो ही उपयोग माने जानेका कारण यह है कि मतिज्ञान आदि शेष दस छाद्मस्थिक उपयोग, केवलीको नहीं होते।

क्षायिकसम्यक्त्वके समय, मिथ्यात्वका अभाव ही होता है। यथाख्यातचारित्रके समय, ग्यारहवें गुणस्थानमें मिथ्यात्व भी है, पर सिर्फ सत्तागत, उदयमान नहीं; इस कारण इन दो मार्गणाओंमें मिथ्यात्वोदय-सहभावी तीन अज्ञान नहीं होते। शेष नौ उपयोग होते हैं। सो इस प्रकारः—उक्त दो मार्गणाओंमें छद्मस्थ-अवस्थामें पहले चार ज्ञान तथा तीन दर्शन, ये सात उपयोग और केवलि-अवस्थामें केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो उपयोग।

देशविरतिमें, मिथ्यात्वका उदय न होनेके कारण तीन अज्ञान नहीं होते और सर्वविरतिकी अपेक्षा रखनेवाले मनःपर्यायज्ञान और

१—यही मत गोम्मटसार-जीवकाण्डकी ७०४वीं गाथामें उल्लिखित है।

केवल-द्विक, ये तीन उपयोग भी नहीं होते; शेष छह होते हैं। छहमें अवधि-द्विकका परिगणन इसलिये किया गया है कि श्रावकोंको अवधि-उपयोगका वर्णन, शास्त्रमें मिलता है।

मिश्र-दृष्टिमें छह उपयोग वही होते हैं, जो देशविरतिमें; पर विशेषता इतनी है कि मिश्र-दृष्टिमें तीन ज्ञान, मिश्रित होते हैं, शुद्ध नहीं अर्थात् मतिज्ञान, मति-अज्ञान-मिश्रित, श्रुतज्ञान, श्रुत-अज्ञान-मिश्रित और अवधिज्ञान, विभङ्गज्ञान-मिश्रित होता है। मिश्रितता इसलिये मानी जाती है कि मिश्र-दृष्टिगुणस्थानके समय अर्द्ध-विशुद्ध दर्शनमोहनीय-पुञ्जका उदय होनेके कारण परिणाम कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध अर्थात् मिश्र होते हैं। शुद्धिकी अपेक्षासे मति आदिको ज्ञान और अशुद्धिकी अपेक्षासे अज्ञान कहा जाता है।

गुणस्थानमें अवधिदर्शनका सम्बन्ध विचारनेवाले कार्मग्रन्थिक पक्ष दो हैं। पहला चौथे आदि नौ गुणस्थानोंमें अवधिदर्शन मानता है, जो २१वीं गा०में निर्दिष्ट है। दूसरा पक्ष, तीसरे गुणस्थानमें भी अवधिदर्शन मानता है, जो ४८वीं गाथामें निर्दिष्ट है। इस जगह दूसरे पक्षको लेकर ही मिश्र-दृष्टिके उपयोगोंमें अवधिदर्शन गिना है ॥ ३३ ॥

मणनाणचक्खुवज्जा, अणहारि तिन्नि दंसण चउ नाणा।
चउनाणसंजमोवस,-मवेयगे ओहिदंसे य ॥ ३४ ॥

मनोज्ञानचक्षुर्वर्जा अनाहारे त्रीणि दर्शनानि चत्वारि ज्ञानानि।
चतुर्ज्ञानसंयमोपशमवेदकेऽवधिदर्शने च ॥३४॥

अर्थ—अनाहारकमार्गणामें मनःपर्यायज्ञान और चक्षुर्दर्शनको छोड़कर, शेष दस उपयोग होते हैं। चार ज्ञान, चार संयम, उप-

१—जैसेः—श्रीयुत धनपतिसिंहजीद्वारा मुद्रित उपासकदशा पृ० ७०।

२—गोम्मटसारमें यही बात मानी हुई है। देखिये, जीवकाण्डकी गाथा ७०४।

शमसम्यक्त्व, वेदक अर्थात् क्षायोपशमिकसम्यक्त्व और अवधि-दर्शन, इन ग्यारह मार्गणाओंमें चार ज्ञान तथा तीन दर्शन, कुल सात उपयोग होते हैं ॥ ३४ ॥

भावार्थ—विग्रहगति, केवलिसमुद्घात और मोक्षमें अनाहारकत्व होता है। विग्रहगतिमें आठ उपयोग होते हैं। जैसेः—भावी तीर्थंकर आदि सम्यक्त्वीको तीन ज्ञान, मिथ्यात्वीको तीन अज्ञान और सम्यक्त्वी-मिथ्यात्वी उभयको अचक्षु और अवधि, ये दो दर्शन। केवलिसमुद्घात और मोक्षमें केवलज्ञान और केवलदर्शन, दो उपयोग होते हैं। इस तरह सब मिलाकर अनाहारकमार्गणामें दस उपयोग हुए। मनःपर्यायज्ञान और चक्षुर्दर्शन, ये दो उपयोग पर्याप्त-अवस्था-भावी होनेके कारण अनाहारकमार्गणामें नहीं होते।

केवलज्ञानके सिवाय चार ज्ञान, यथाख्यातके सिवाय चार चारित्र, औपशमिक-क्षायोपशमिक दो सम्यक्त्व और अवधिदर्शन, ये ग्यारह मार्गणाएँ चौथेसे लेकर बारहवें गुणस्थान तकमें ही पायी जाती हैं; इस कारण इनमें तीन अज्ञान और केवल-द्विक, इन पाँच-के सिवाय शेष सात उपयोग माने हुए हैं।

इस जगह अवधिदर्शनमें तीन अज्ञान नहीं माने हैं। सो २१ वीं गाथामें कहे हुए "जयाइ नव मइसुओहिदुगे" इस कार्मग्रन्थिक मत-के अनुसार समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

दो तेर तेर बारस, मणे कमा अट्ठ दु चउ चउ वयणे।
चउ दु पण तिन्नि काये, जियगुणजोगोवओगन्ने॥ ३५ ॥

द्वे त्रयोदश त्रयोदश द्वादश, मनसि क्रमादष्ट द्वे चत्वारश्चत्वारो वचने।
चत्वारि द्वे पञ्च त्रयः काये, जीवगुणयोगोपयोगा अन्ये ॥ ३५ ॥

अर्थ—अन्य आचार्य मनोयोगमें जीवस्थान दो, गुणस्थान तेरह, योग तेरह, उपयोग बारह, वचनयोगमें जीवस्थान आठ, गुणस्थान

दो, योग चार, उपयोग चार और काययोगमें जीवस्थान चार, गुणस्थान दो, योग पाँच और उपयोग तीन मानते हैं ॥ ३५ ॥

भावार्थ—पहले किसी प्रकारकी विशेष विवक्षा किये विना ही मन, वचन और काययोगमें जीवस्थान आदिका विचार किया गया है; पर इस गाथामें कुछ विशेष विवक्षा करके। अर्थात् इस जगह प्रत्येक योग यथासम्भव अन्य योगसे रहित लेकर उसमें जीव-स्थान आदि दिखाये हैं। यथासम्भव कहनेका मतलब यह है कि मनोयोग तो अन्य योगरहित मिलता ही नहीं; इस कारण वह वचन-काय उभय योग-सहचरित ही लिया जाता है; पर वचन तथा काय-योगके विषयमें यह बात नहीं; वचनयोग कहीं काययोगरहित न मिलनेपर भी द्वीन्द्रियादिमें मनोयोगरहित मिल जाता है। इसलिये वह मनोयोगरहित लिया जाता है। काययोग एकेन्द्रियमें मन-वचन उभय योगरहित मिल जाता है। इसीसे वह वैसा ही लिया जाता है।

मनोयोगमें अपर्याप्त और पर्याप्त संज्ञी, ये दो जीवस्थान हैं, अन्य नहीं; क्योंकि अन्य जीवस्थानोंमें मनःपर्याप्ति, द्रव्यमन आदि सामग्री न होनेसे मनोयोग नहीं होता। मनोयोगमें गुणस्थान तेरह हैं; क्योंकि चौदहवें गुणस्थानमें कोई भी योग नहीं होता। मनोयोग पर्याप्त-अवस्था-भावी है, इस कारण उसमें अपर्याप्त-अवस्था-भावी कार्मण और औदारिकमिश्र, इन दोको छोड़ शेष तेरह योग होते हैं। यद्यपि केवलिसमुद्घातके समय पर्याप्त-अवस्थामें भी उक्त दो योग होते हैं। तथापि उस समय प्रयोजन न होनेके कारण केवलज्ञानी मनोद्रव्यको ग्रहण नहीं करते। इसलिये उस अवस्थामें भी उक्त दो योगके साथ मनोयोगका साहचर्य नहीं घटता। मनवाले प्राणिओंमें सब प्रकारके बोधकी शक्ति पायी जाती है; इस कारण मनोयोगमें बारह उपयोग कहे गये हैं।

१७वीं गाथामें मनोयोगमें सिर्फ पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान माना है, सो वर्तमान-मनोयोगवालोंको मनोयोगी मानकर। इस गाथामें मनोयोगमें अपर्याप्त-पर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय दो जीवस्थान माने हैं; सो वर्तमान-भावी उभय मनोयोगवालोंको मनोयोगी मानकर। मनोयोगसम्बन्धी गुणस्थान, योग और उपयोगके सम्बन्धमें क्रमसे २२, २८, ३१वीं गाथाका जो मन्तव्य है, इस जगह भी वही है; तथापि फिरसे उल्लेख करनेका मतलब सिर्फ मतान्तरको दिखाना है। मनोयोगमें जीवस्थान और योग विचारनेमें विवक्षा भिन्न-भिन्न की गयी है। जैसेः—भावी मनोयोगवाले अपर्याप्त संज्ञि-पञ्चेन्द्रियको भी मनोयोगी मानकर उसे मनोयोगमें गिना है। पर योगके विषयमें ऐसा नहीं किया है। जो योग मनोयोगके समकालीन हैं, उन्हींको मनोयोगमें गिना है। इसीसे उसमें कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग नहीं गिने हैं।

वचनयोगमें आठ जीवस्थान कहे गये हैं। वे ये हैंः—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, ये चार पर्याप्त तथा अपर्याप्त। इस जगह वचनयोग, मनोयोगरहित लिया गया है, सो इन आठ जीवस्थानोंमें ही पाया जाता है। १७ वीं गाथामें सामान्य वचनयोग लिया गया है। इसलिये उस गाथामें वचनयोगमें संज्ञिपञ्चेन्द्रिय जीवस्थान भी गिना गया है। इसके सिवाय यह भी भिन्नता है कि उस गाथामें वर्तमान वचनयोगवाले ही वचनयोगके स्वामी विवक्षित हैं; पर इस गाथामें वर्तमानकी तरह भावी वचनयोगवाले भी वचनयोगके स्वामी माने गये हैं; इसी कारण वचनयोगमें वहाँ पाँच और यहाँ आठ जीवस्थान गिने गये हैं।

वचनयोगमें पहला, दूसरा दो गुणस्थान; औदारिक, औदारिकमिश्र, कार्मण और असत्यामृषावचन, ये चार योग; तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन, ये चार उपयोग हैं।

२२, २८ और ३१वीं गाथामें अनुक्रमसे वचनयोगमें तेरह गुणस्थान, तेरह योग और बारह उपयोग माने गये हैं। इस भिन्नताका कारण वही है। अर्थात् वहाँ वचनयोग सामान्यमात्र लिया गया है, पर इस गाथामें विशेष—मनोयोगरहित। पूर्वमें वचनयोगमें सम-कालीन योग विवक्षित है; इसलिये उसमें कार्मण-औदारिकमिश्र, ये दो अपर्याप्त-अवस्था-भावी योग नहीं गिने गये हैं। परन्तु इस जगह असम-कालीन भी योग विवक्षित है। अर्थात् कार्मण और औदारिकमिश्र, अपर्याप्त-अवस्था-भावी होनेके कारण, पर्याप्त-अवस्था-भावी वचनयोगके असम-कालीन हैं तथापि उक्त दो योगवालोंको भविष्यत्में वचनयोग होता है। इस कारण उसमें ये दो योग गिने गये हैं।

काययोगमें सूक्ष्म और बादर, ये दो पर्याप्त तथा अपर्याप्त, कुल चार जीवस्थान; पहला और दूसरा दो गुणस्थान; औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रिय, वैक्रियमिश्र और कार्मण, ये पाँच योग तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अचक्षुर्दर्शन, ये तीन उपयोग समझने चाहिये। १६, २२, २५ और ३१वीं गाथामें चौदह जीवस्थान, तेरह गुणस्थान, पन्द्रह योग और बारह उपयोग, काययोगमें बतलाये गये हैं। इस मत-भेदका तात्पर्य भी ऊपरके कथनानुसार है। अर्थात् वहाँ सामान्य काययोगको लेकर जीवस्थान आदिका विचार किया गया है, पर इस जगह विशेष। अर्थात् मनोयोग और वचनयोग, उभयरहित काययोग, जो एकेन्द्रियमात्रमें पाया जाता है, उसे लेकर ॥ ३५ ॥

(५)-मार्गणाओंमें लेश्या।

छसु लेसासु सठाणं, एगिंदिअसंनिभूदगवणेसु।
पढमा चउरो तिन्नि उ, नारयविगलग्गिपवणेसु ॥३६॥

षट्सु लेश्यासु स्वस्थानमेकेन्द्रियासंज्ञिभूदकवनेषु।
प्रथमाश्चतस्रस्तिस्रस्तु, नारकविकलाग्निपवनेषु ॥ ३६ ॥

अर्थ—छह लेश्यामार्गणाओंमें अपना-अपना स्थान है। एकेन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय, इन पाँच मार्गणाओंमें पहली चार लेश्याएँ हैं। नरकगति, विकलेन्द्रिय-त्रिक, अग्निकाय और वायुकाय, इन छह मार्गणाओंमें पहली तीन लेश्याएँ हैं ॥ ३६ ॥

भावार्थ—छह लेश्याओंमें अपना-अपना स्थान है, इसका मतलब यह है कि एक समयमें एक जीवमें एक ही लेश्या होती है, दो नहीं। क्योंकि छहों लेश्याएँ समान कालकी अपेक्षासे आपसमें विरुद्ध हैं; कृष्णलेश्यावाले जीवोंमें कृष्णलेश्या ही होती है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये।

एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त पाँच मार्गणाओंमें कृष्णसे तेजः पर्यन्त चार लेश्याएँ मानी जाती हैं। इनमेंसे पहली तीन तो भवप्रत्यय होनेके कारण सदा ही पायी जा सकती हैं, पर तेजोलेश्याके सम्बन्धमें यह बात नहीं; वह सिर्फ अपर्याप्त-अवस्थामें पायी जाती है। इसका कारण यह है कि जब कोई तेजोलेश्यावाला जीव मरकर पृथ्वीकाय, जलकाय या वनस्पतिकायमें जनमता है, तब उसे कुछ काल तक पूर्व जन्मकी मरण-कालीन तेजोलेश्या रहती है।

नरकगति आदि उपर्युक्त छह मार्गणाओंके जीवोंमें ऐसे अशुभ परिणाम होते हैं, जिससे कि वे कृष्ण आदि तीन लेश्याओंके सिवाय अन्य लेश्याओंके अधिकारी नहीं बनते ॥ ३६ ॥

(६)-मार्गणाओंका अल्प-बहुत्व।

[आठ गाथाओंसे।]

अहखायसुहुमकेवल,-दुगि सुक्का छावि सेसठाणेसु।
नरनिरयदेवतिरिया, थोवा दु असंखणंतगुणा[1] ॥३७॥

यथाख्यातसूक्ष्मकेवलद्विके शुक्ला षडपि शेषस्थानेषु।
नरनिरयदेवतिर्यञ्चः, स्तोकद्व्यसंख्यानन्तगुणाः ॥ ३७ ॥

अर्थ—यथाख्यातचारित्र, सूक्ष्मसंपरायचारित्र और केवल-द्विक, इन चार मार्गणाओंमें शुक्ललेश्या है; शेष मार्गणास्थानोंमें छहों लेश्याएँ होती हैं।

[गतिमार्गणाका अल्प-बहुत्वः—] मनुष्य सबसे कम हैं, नारक उनसे असंख्यातगुण हैं, नारकोंसे देव असंख्यातगुण हैं और देवोंसे तिर्यञ्च अनन्तगुण हैं ॥ ३७ ॥

भावार्थ—यथाख्यात आदि उपर्युक्त चार मार्गणाओंमें परिणाम इतने शुद्ध होते हैं कि जिससे उनमें शुक्ललेश्याके सिवाय अन्य लेश्याका संभव नहीं है। पूर्व गाथामें सत्रह और इस गाथामें यथाख्यातचारित्र आदि चार, सब मिलाकर इक्कीस मार्गणाएँ हुईं।

१—यहाँसे लेकर ४४वीं गाथा तक, चौदह मार्गणाओंमें अल्प बहुत्वका विचार है; वह प्रज्ञापनाके अल्प-बहुत्व नामक तीसरे पदसे उद्धृत है। उक्त पदमें मार्गणाओंके सिवाय और भी तेरह द्वारोंमें अल्प-बहुत्वका विचार है। गति-विषयक अल्प-बहुत्व प्रज्ञापनाके ११९वें पृष्ठपर है। इस अल्प-बहुत्वका विशेष परिज्ञान करनेकेलिये इस गाथाकी व्याख्यामें, मनुष्य आदिकी संख्या दिखायी गयी है, जो अनुयोगद्वारमें वर्णित है:—मनुष्य-संख्या, पृ० २०५, नारक-संख्या, पृ० १९९ असुरकुमार-संख्या, पृ० २००; व्यन्तर-संख्या, पृ० २०८; ज्योतिष्क-संख्या, पृ० २०८; वैमानिक-संख्या, पृ० २०९। यहाँके समान पञ्चसंग्रहमें थोड़ासा वर्णन है:—व्यन्तर-संख्या, द्वा० २, गा० १४; ज्योतिष्क-संख्या, द्वा० २, गा० १५; मनुष्य-संख्या, द्वा० २, गा० २१।

इनको छोड़कर, शेष इकतालीस मार्गणाओंमें छहों लेश्याएँ पायी जाती हैं। शेष मार्गणाएँ ये हैं :—

१ देवगति, १ मनुष्यगति, १ तिर्यञ्चगति, १ पञ्चेन्द्रियजाति, १ त्रसकाय, ३ योग, ३ वेद, ४ कषाय, ४ ज्ञान (मति आदि), ३ अज्ञान, ३ चारित्र (सामायिक, छेदोपस्थापनीय और परिहार-विशुद्ध), १ देशविरति, १ अविरति, ३ दर्शन, १ भव्यत्व, १ अभव्यत्व, ३ सम्यक्त्व (क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक), १ सासादन, १ सम्यग्मिथ्यात्व, १ मिथ्यात्व, १ संज्ञित्व, १ आहारकत्व और १ अनाहारकत्व, कुल ४१।

[मनुष्यों, नारकों, देवों और तिर्यञ्चोंका परस्पर अल्प-बहुत्व, ऊपर कहा गया है, उसे ठीक-ठीक समझनेकेलिये मनुष्य आदिकी संख्या शास्त्रोक्त रीतिके अनुसार दिखायी जाती है]:—

मनुष्य, जघन्य उन्तीस अङ्क-प्रमाण और उत्कृष्ट, असंख्यात होते हैं।

(क) जघन्यः—मनुष्योंके गर्भज और संमूर्च्छिम, ये दो भेद हैं। इनमेंसे संमूर्च्छिम मनुष्य किसी समय बिलकुल ही नहीं रहते, केवल गर्भज रहते हैं। इसका कारण यह है कि संमूर्च्छिम मनुष्योंकी आयु, अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण होती है। जिस समय, संमूर्च्छिम मनुष्यों-की उत्पत्तिमें एक अन्तर्मुहूर्त्तसे अधिक समयका अन्तर पड़ जाता है, उस समय, पहलेके उत्पन्न हुए सभी संमूर्च्छिम मनुष्य मर चुकते हैं। इस प्रकार नये संमूर्च्छिम मनुष्योंकी उत्पत्ति न होनेके समय तथा पहले उत्पन्न हुए सभी संमूर्च्छिम मनुष्योंके मर चुकनेपर, गर्भज मनुष्य ही रह जाते हैं, जो कमसे कम नीचे-लिखे उन्तीस अङ्कोंके बराबर होते हैं। इसलिये मनुष्योंकी कमसे कम यही संख्या हुई।

१—अनुयोगद्वार, पृ० २०५—२०६।

पाँचवें वर्गके[1] साथ छठे वर्गको गुणनेसे जो उन्तीस अङ्क होते हैं, वे ही यहाँ लेने चाहिये। जैसेः—२को २के साथ गुणनेसे ४ होते हैं, यह पहला वर्ग। ४के साथ ४को गुणनेसे १६ होते हैं, यह दूसरा वर्ग। १६को १६से गुणनेपर २५६ होते हैं, यह तीसरा वर्ग। २५६को २५६से गुणनेपर ६५५३६ होते हैं, यह चौथा वर्ग। ६५५३६को ६५५३६से गुणनेपर ४२९४९६७२९६ होते हैं, यह पाँचवाँ वर्ग। इसी पाँचवें वर्गकी सङ्ख्याको उसी सङ्ख्याके साथ गुणनेसे १८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ होते हैं, यह छठा वर्ग। इस छठे वर्गकी संख्याको उपर्युक्त पाँचवें वर्गकी संख्यासे गुणनेपर ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ होते हैं, ये उन्तीस अङ्क[2] हुए। अथवा १का दूना २, २का दूना ४, इस तरह पूर्व-पूर्व संख्याको, उत्तरोत्तर छयानवें वार दूना करनेसे, वे ही उन्तीस अङ्क होते हैं।

(ख) उत्कृष्टः—जब संमूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं, तब वे एक साथ अधिकसे अधिक असंख्यात तक होते हैं, उसी समय मनुष्योंकी उत्कृष्ट संख्या पायी जाती है। असंख्यात संख्याके असंख्यात भेद हैं, इनमेंसे जो असंख्यात संख्या मनुष्योंकेलिये इष्ट है, उसका परिचय शास्त्रमें काल[3] और क्षेत्र[4], दो प्रकारसे दिया गया है।

१—समान दो संख्याके गुणनफलको उस संख्याका वर्ग कहते हैं। जैसेः—५ का वर्ग २५।

२—ये ही उन्तीस अङ्क, गर्भज-मनुष्यकी संख्याकेलिये अक्षरोंके संकेतद्वारा गोम्मटसार-जीवकाण्डकी १५७वीं गाथामें बतलाये हैं।

३—देखिये, परिशिष्ट 'ध।'

४—कालसे क्षेत्र अत्यन्त सूक्ष्म माना गया है, क्योंकि अङ्गुल-प्रमाण सूचि-श्रेणिके प्रदेशोंकी संख्या असंख्यात अवसर्पिणीके समयोंके बरावर मानी हुई है।

(१) कालः—असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीके जितने समय होते हैं, मनुष्य अधिकसे अधिक उतने पाये जा सकते हैं।

(२) क्षेत्रः—सात रज्जु-प्रमाण घनीकृत लोककी अङ्गुलमात्र सूचि-श्रेणिके प्रदेशोंके तीसरे वर्गमूलको उन्हींके प्रथम वर्ग-मूलके साथ गुणना, गुणनेपर जो संख्या प्राप्त हो, उसका संपूर्ण सूचि-श्रेणि-गत प्रदेशोंमें भाग देना, भाग देनेपर जो संख्या लब्ध होती है, एक-कम वही संख्या मनुष्योंकी उत्कृष्ट संख्या है। यह संख्या, अङ्गुलमात्र सूचि-श्रेणिके प्रदेशोंकी संख्या, उनके तीसरे वर्ग-मूल और प्रथम वर्गमूलकी संख्या तथा संपूर्ण सूचि-श्रेणिके प्रदेशोंकी संख्या वस्तुतः असंख्यात ही है, तथापि उक्त भाग-विधिसे मनुष्योंकी जो उत्कृष्ट संख्या दिखायी गयी है, उसका कुछ खयाल आनेकेलिये कल्पना करके इस प्रकार समझाया जा सकता है।

मान लीजिये कि संपूर्ण सूचि-श्रेणिके प्रदेश ३२०००० हैं और अङ्गुलमात्र सूचि-श्रेणिके प्रदेश २५६। २५६का प्रथम वर्गमूल १६ और तीसरा वर्गमूल २ होता है। तीसरे वर्गमूलके साथ, प्रथम वर्गमूलको गुणनेसे ३२ होते हैं, ३२का ३२०००००में भाग देनेपर १००००० लब्ध होते हैं; इनमेंसे १ कम कर देनेपर, शेष बचे ९९९९९। कल्पनानु-सार यह संख्या, जो वस्तुतः असंख्यातरूप है, उसे मनुष्योंकी उत्कृष्ट संख्या समझनी चाहिये[3]।

"सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयरं हवइ खित्तं।
अङ्गुलसेढीमित्ते, ओसप्पिणीउ असंखेज्जा ॥३७॥"

—आवश्यक-निर्युक्ति, पृ० ३३।

१—रज्जु, घनीकृत लोक, सूचि-श्रेणि और प्रतर आदिका स्वरूप पाँचवें कर्मग्रन्थकी ९७वीं गाथासे जान लेना चाहिये।

२—जिस संख्याका वर्ग किया जाय, वह संख्या उस वर्गका वर्गमूल है।

३—मनुष्यकी यही संख्या इसी रीतिसे गोम्मटसार-जीवकाण्डकी १५६वीं गाथामें बतलाया है।

नारक भी असंख्यात हैं, परन्तु नारकोंकी असंख्यात संख्या मनुष्योंकी असंख्यात संख्यासे असंख्यातगुनी अधिक है। नारकोंकी संख्याको शास्त्रमें इस प्रकार बतलाया है :—

कालसे वे असंख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीके समयोंके तुल्य हैं। तथा क्षेत्रसे, सात रज्जु-प्रमाण घनीकृत लोकके अङ्गुल-मात्र प्रतर-क्षेत्रमें जितनी सूचि-श्रेणियाँ होती हैं, उनके द्वितीय वर्ग-मूलको, उन्हींके प्रथम वर्गमूलके साथ गुणनेपर, जो गुणनफल हो, उतनी सूचि-श्रेणियोंके प्रदेशोंकी संख्या और नारकोंकी संख्या बराबर होती है[1]। इसको कल्पनासे इस प्रकार समझ सकते हैं।

कल्पना कीजिये कि अङ्गुलमात्र प्रतर-क्षेत्रमें २५६ सूचि-श्रेणियाँ हैं। इनका प्रथम वर्गमूल १६ हुआ और दूसरा ४। १६को ४के साथ गुणनेसे ६४ होता है। ये ६४ सूचि-श्रेणियाँ हुई। प्रत्येक सूचि-श्रेणिके ३२००००० प्रदेशोंके हिसाबसे, ६४ सूचि-श्रेणियोंके २०४८००००० प्रदेश हुए, इतने ही नारक हैं।

भवनपति देव असंख्यात हैं, इनमेंसे असुरकुमारकी संख्या इस प्रकार बतलायी गयी है:—अङ्गुलमात्र आकाश-क्षेत्रके जितने प्रदेश हैं, उनके प्रथम वर्गमूलके असंख्यातवें भागमें जितने आकाश-प्रदेश आ सकते हैं, उतनी सूचि-श्रेणियोंके प्रदेशोंके बराबर असुरकुमारकी संख्या होती है। इसी प्रकार नागकुमार आदि अन्य सब भवनपति देवोंकी भी संख्या समझ लेनी चाहिये[2]।

इस संख्याको समझनेकेलिये कल्पना कीजिये कि अङ्गुलमात्र आकाश-क्षेत्रमें २५६ प्रदेश हैं। उनका प्रथम वर्गमूल होगा १६।

१—गोम्मटसारमें दी हुई नारकोंकी संख्या, इस संख्यासे नहीं मिलती। इसकेलिये देखिये, जीवकाण्डकी १५२ वीं गाथा।

२—गोम्मटसारमें प्रत्येक निकायकी जुदा-जुदा संख्या न देकर सब भवनपतिओंकी संख्या एक साथ दिखायी है। इसकेलिये देखिये, जीवकाण्डकी १६०वीं गाथा।

१६का कल्पनासे असंख्यातवाँ भाग २ मान लिया जाय तो २ सूचि-श्रेणियोंके प्रदेशोंके बराबर असुरकुमार हैं। प्रत्येक सूचि-श्रेणिके ३२०००००प्रदेश कल्पनासे माने गये हैं। तदनुसार २ सूचि-श्रेणियोंके ६४०००००प्रदेश हुए। यही संख्या असुरकुमार आदि प्रत्येक भवनपतिकी समझनी चाहिये, जो कि वस्तुतः असंख्यात ही है।

व्यन्तरनिकायके देव भी असंख्यात हैं। इनमेंसे किसी एक प्रकारके व्यन्तर देवोंकी संख्याका मान इस प्रकार बतलाया गया है। सङ्ख्यात योजन-प्रमाण सूचि-श्रेणिके जितने प्रदेश हैं, उनसे घनीकृत लोकके मण्डकाकार समग्र प्रतरके प्रदेशोंको भाग दिया जाय, भाग देनेपर जितने प्रदेश लब्ध होते हैं, प्रत्येक प्रकारके व्यन्तर देव उतने होते हैं[1]।

इसे समझनेकेलिये कल्पना कीजिये कि सङ्ख्यात योजन-प्रमाण सूचि-श्रेणिके १०००००० प्रदेश हैं। प्रत्येक सूचि-श्रेणिके ३२००००० प्रदेशोंकी कल्पित संख्याके अनुसार, समग्र प्रतरके १०२४०००००००००० प्रदेश हुए। अब इस संख्याको १०००००० भाग देनेपर १०२४०००० लब्ध होते हैं। यही एक व्यन्तरनिकाय-की सङ्ख्या हुई। यह सङ्ख्या वस्तुतः असंख्यात है।

ज्योतिषी देवोंकी असङ्ख्यात सङ्ख्या इस प्रकार मानी गयी है। २५६ अङ्गुल-प्रमाण सूचि-श्रेणिके जितने प्रदेश होते हैं, उनसे समग्र प्रतरके प्रदेशोंको भाग देना, भाग देनेसे जो लब्ध हो, उतने ज्योतिषी देव[2] हैं।

१—व्यन्तरका प्रमाण गोम्मटसारमें यही जान पड़ता है। देखिये, जीवकाण्डकी १५९ वीं गाथा।

२—ज्योतिषी देवोंकी संख्या गोम्मटसारमें भिन्न है। देखिये, जीवकाण्डकी १५९ वीं गाथा।

इसको भी कल्पनासे इस प्रकार समझना चाहिये। २५६ अङ्गुल-प्रमाण सूचि-श्रेणिमें ६५५३६ प्रदेश होते हैं, उनसे समग्र प्रतरके कल्पित १०२४०००००००००००को भाग देना, भागनेसे लब्ध हुए १५६२५००००। यही मान, ज्योतिषी देवोंका समझना चाहिये।

वैमानिक देव, असङ्ख्यात हैं। इनकी असङ्ख्यात संख्या इस प्रकार दरसायी गयी है:—अङ्गुलमात्र आकश-क्षेत्रके जितने प्रदेश हैं, उनके तीसरे वर्गमूलका घन[1] करनेसे जितने आकाश-प्रदेश हों, उतनी सूचि-श्रेणियोंके प्रदेशोंके बराबर वैमानिकदेव[2] हैं।

इसको कल्पनासे इस प्रकार बतलाया जा सकता है:—अङ्गुलमात्र आकाशके २५६ प्रदेश हैं। २५६का तीसरा वर्गमूल २। २का घन ८ है। ८ सूचि-श्रेणियोंके प्रदेश २५६०००० होते हैं; क्योंकि प्रत्येक सूचि-श्रेणिके प्रदेश, कल्पनासे ३२०००० मान लिये गये हैं। यही संख्या वैमानिकोंकी संख्या समझनी चाहिये।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक सब देव मिलकर नारकोंसे असङ्ख्यातगुण होते हैं।

देवोंसे तिर्यञ्चोंके अनन्तगुण होनेका कारण यह है कि अनन्त-कायिक-वनस्पति जीव, जो संख्यामें अनन्त हैं, वे भी तिर्यञ्च हैं। क्योंकि वनस्पतिकायिक जीवोंको तिर्यञ्चगतिनामकर्मका उदय होता है॥ ३७॥

१—किसी संख्याके वर्गके साथ उस संख्याको गुणनेसे जो गुणनफल प्राप्त होता है, वह उस संख्याका 'घन' है। जैसे:—४का वर्ग १६, उसके साथ ४को गुणनेसे ६४ होता है। यही चारका घन है।

२—सब वैमानिकोंकी संख्या गोम्मटसारमें एक साथ न देकर जुदा-जुदा दी है।
—जीव० गा० १६०—१६२।

इन्द्रिय और कायमार्गणाका अल्प-बहुत्व[1]:—

पणचउतिदुएगिंदि, थोवा तिन्नि अहिया अणंतगुणा।
तस थोव असंखग्गी,भूजलानिल अहिय वण णंता॥३८॥

पञ्चचतुस्त्रिद्व्येकेन्द्रियाः, स्तोकास्त्रयोऽधिका अनन्तगुणाः।
त्रसाः स्तोका असंख्या, अग्नयो भूजलानिला अधिका वना अनन्ताः॥३८॥

अर्थ—पञ्चेन्द्रिय जीव सबसे थोड़े हैं। पञ्चेन्द्रियोंसे चतुरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रियोंसे त्रीन्द्रिय और त्रीन्द्रियोंसे द्वीन्द्रिय जीव विशेषाधिक[2] हैं। द्वीन्द्रियोंसे एकेन्द्रिय जीव अनन्तगुण हैं।

त्रसकायिक जीव अन्य सब कायके जीवोंसे थोड़े हैं। इनसे अग्निकायिक जीव असङ्ख्यात गुण हैं। अग्निकायिकोंसे पृथिवीकायिक, पृथिवीकायिकोंसे जलकायिक और जलकायिकोंसे वायुकायिक विशेषाधिक हैं। वायुकायिकोंसे वनस्पतिकायिक अनन्तगुण हैं॥३८॥

भावार्थ—असङ्ख्यात कोटाकोटी योजन-प्रमाण सूचि-श्रेणिके जितने प्रदेश हैं, घनीकृत लोकको उतनी सूचि-श्रेणियोंके प्रदेशोंके बराबर द्वीन्द्रिय जीव आगममें कहे गये हैं। त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च द्वीन्द्रियके बराबर ही कहे गये हैं।

१—यह अल्प-बहुत्व प्रज्ञापनामें पृ० १२०—१२४ तक है। गोम्मटसारकी इन्द्रियमार्गणामें द्वीन्द्रियसे पञ्चेन्द्रिय पर्यन्तका विशेषाधिकत्व यहांके समान वर्णित है।

—जीव० गा० १७७—७८।

कायमार्गणामें तेजःकायिक आदिका भी विशेषाधिकत्व यहांके समान है।

—जीव० गा० २०३ से आगे।

२—एक संख्या अन्य संख्यासे बड़ी होकर भी जब तक दूनी न हो, तब तक वह उससे 'विशेषाधिक' कही जाती है। यथा ४ या ५ की संख्या ३से विशेषाधिक है, पर ६की संख्या ३से दूनी है, विशेषाधिक नहीं।

इसलिये यह शङ्का होती है कि जब आगममें[1] द्वीन्द्रिय आदि जीवोंकी संख्या समान कही हुई है तब पञ्चेन्द्रिय आदि जीवोंका उपर्युक्त अल्प-बहुत्व कैसे घट सकता है ?। इसका समाधान यह है कि असंख्यात सङ्ख्याके असङ्ख्यात प्रकार हैं। इसलिये असंख्यात कोटाकोटी योजन-प्रमाण 'सूचि-श्रेणि' शब्दसे सब जगह एक ही असङ्ख्यात सङ्ख्या न लेकर भिन्न-भिन्न लेनी चाहिये। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके परिमाणकी असङ्ख्यात सङ्ख्या इतनी छोटी ली जाती है कि जिससे अन्य सब पञ्चेन्द्रियोंको मिलानेपर भी कुल पञ्चेन्द्रिय जीव चतुरिन्द्रियोंकी अपेक्षा कम ही होते हैं। द्वीन्द्रियोंसे एकेन्द्रिय जीव अनन्तगुण इसलिये कहे गये हैं कि साधारण वनस्पतिकायके जीव अनन्तानन्त हैं, जो सभी एकेन्द्रिय हैं।

सब प्रकारके त्रस घनीकृत लोकके एक प्रतरके प्रदेशोंके बराबर भी नहीं होते और केवल तेजःकायिक जीव, असङ्ख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर होते हैं। इसी कारण त्रस सबसे थोड़े और तेजःकायिक उनसे असङ्ख्यातगुण माने जाते हैं। तेजःकायिक, पृथिवीकायिक, जलकायिक और वायुकायिक, ये सभी सामान्यरूपसे असंख्यात लोकाकाश-प्रदेश-प्रमाण आगममें[2] माने गये हैं तथापि इनके परिमाणसम्बन्धिनी असङ्ख्यात सङ्ख्या भिन्न-भिन्न समझनी चाहिये। इसी अभिप्रायसे इनका उपर्युक्त अल्प-बहुत्व कहा गया है। वायुकायिक जीवोंसे वनस्पतिकायिक इसलिये अनन्तगुण कहे गये हैं कि निगोदके जीव अनन्त लोकाकाश-प्रदेश-प्रमाण हैं, जो वनस्पतिकायिक हैं॥ ३८॥

१—अनुयोगद्वार-सूत्र, पृ० २०३, २०४।

२—अनुयोगद्वार, पृ० २०२/१

योग और वेदमार्गणाका अल्प-बहुत्व[1]।

मणवयणकायजोगा, थोवा असंखगुण अणंतगुणा।
पुरिसा थोवा इत्थी, संखगुणाणंतगुण कीवा॥ ३६॥

मनोवचनकाययोगाः, स्तोका असङ्ख्यगुणा अनन्तगुणाः।
पुरुषाः स्तोकाः स्त्रियः, सङ्ख्यगुणा अनन्तगुणाः क्लीबाः॥३९॥

अर्थ—मनोयोगवाले अन्य योगवालोंसे थोड़े हैं। वचनयोगवाले उनसे असंख्यातगुण और काययोगवाले वचनयोगवालोंसे अनन्तगुण हैं।

पुरुष सबसे थोड़े हैं। स्त्रियाँ पुरुषोंसे सङ्ख्यातगुण और नपुंसक स्त्रियोंसे अनन्तगुण हैं॥ ३६॥

भावार्थ—मनोयोगवाले अन्य योगवालोंसे इसलिये थोड़े माने गये हैं कि मनोयोग संज्ञी जीवोंमें ही पाया जाता है और संज्ञी जीव अन्य सब जीवोंसे अल्प ही हैं। वचनयोगवाले मनोयोगवालोंसे असङ्ख्यगुण कहे गये हैं। इसका कारण यह है कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, ये सभी वचनयोगवाले हैं। काययोगवाले वचनयोगियोंसे अनन्तगुण इस अभिप्रायसे कहे गये हैं कि मनोयोगी तथा वचनयोगीके अतिरिक्त एकेन्द्रिय भी काययोगवाले हैं।

तिर्यञ्च-स्त्रियाँ तिर्यञ्च पुरुषोंसे तीन गुनी और तीन अधिक होती

१—यह अल्प-बहुत्व, प्रज्ञापनाके १३४वें पृष्ठमें है। गोम्मटसारमें पन्द्रह योगोंको लेकर संख्याका विचार किया है। देखिये, जीव० गा० २५८—२६९।

वेद-विषयक अल्प-बहुत्वका विचार भी उसमें कुछ भिन्न प्रकारसे है। देखिये, जीव० गा० २७६—२८०।

हैं। मनुष्य-स्त्रियाँ मनुष्यजातिके पुरुषोंसे सताईसगुनी[1] और सत्ताईस अधिक होती हैं। देवियाँ देवोंसे बत्तीसगुनी[2] और बत्तीस अधिक होती हैं। इसी कारण पुरुषोंसे स्त्रियाँ संख्यातगुण मानी हुई हैं। एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय पर्यन्त सब जीव, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और नारक, ये सब नपुंसक ही हैं। इसीसे नपुंसक स्त्रियोंकी अपेक्षा अनन्तगुण माने हुए हैं॥ ३९॥

कषाय, ज्ञान, संयम और दर्शनमार्गणाओंका अल्प-बहुत्वः—

[तीन गाथाओंसे।]

माणी कोही माई, लोही अहिय मणनाणिनो थोवा।
ओहि असंखा मइसुय, अहियसम असंख विब्भंगा ॥४०॥

मानिनः क्रोधिनो मायिनो, लोभिनोऽधिका मनोज्ञानिनः स्तोकाः।
अवधयोऽसंख्या मतिश्रुता, अधिकास्समा असङ्ख्या विभङ्गाः॥ ४०॥

अर्थ—मानकषायवाले अन्य कषायवालोंसे थोड़े हैं। क्रोधी मानियोंसे विशेषाधिक हैं। मायावी क्रोधियोंसे विशेषाधिक हैं। लोभी मायावियोंसे विशेषाधिक हैं।

मनःपर्यायज्ञानी अन्य सब ज्ञानियोंसे थोड़े हैं। अवधिज्ञानी मनःपर्यायज्ञानियोंसे असंख्यगुण हैं। मतिज्ञानी तथा श्रुतज्ञानी आपसमें तुल्य हैं। परन्तु अवधिज्ञानियोंसे विशेषाधिक ही हैं। विभङ्गज्ञानी श्रुतज्ञानवालोंसे असङ्ख्यगुण हैं॥ ४०॥

भावार्थ—मानवाले क्रोध आदि अन्य कषायवालोंसे कम हैं, इसका कारण यह है कि मानकी स्थिति क्रोध आदि अन्य कषायों-की स्थितिकी अपेक्षा अल्प है। क्रोध मानकी अपेक्षा अधिक देर

१—देखिये, पञ्चसंग्रह द्वा० २, गा० ६५।
२—देखिये, पञ्चसंग्रह द्वा० २, गा० ६८।

तक ठहरता है। इसीसे क्रोधवाले मानियोंसे अधिक हैं। मायाकी स्थिति क्रोधकी स्थितिसे अधिक है तथा वह क्रोधियोंकी अपेक्षा अधिक जीवोंमें पायी जाती है। इसीसे मायावियोंको क्रोधियोंकी अपेक्षा अधिक कहा है। मायावियोंसे लोभियोंको अधिक कहनेका कारण यह है कि लोभका उदय दसवें गुणस्थान पर्यन्त रहता है, पर मायाका उदय नववें गुणस्थान तक ही।

जो जीव मनुष्य-देहधारी, संयमवाले और अनेक-लब्धि-सम्पन्न हों, उनको ही मनःपर्यायज्ञान होता है। इसीसे मनःपर्यायज्ञानी अन्य सब ज्ञानियोंसे अल्प हैं। सम्यक्त्वी कुछ मनुष्य-तिर्यञ्चोंको और सम्यक्त्वी सब देव-नारकोंको अवधिज्ञान होता है। इसी कारण अवधिज्ञानी मनःपर्यायज्ञानियोंसे असंख्यगुण हैं। अवधिज्ञानियोंके अतिरिक्त सभी सम्यक्त्वी मनुष्य-तिर्यञ्च मति-श्रुत-ज्ञानवाले हैं। अत एव मति-श्रुत-ज्ञानी अवधिज्ञानियोंसे कुछ अधिक हैं। मति-श्रुत दोनों, नियमसे सहचारी हैं, इसीसे मति-श्रुत-ज्ञानवाले आपसमें तुल्य हैं। मति-श्रुत-ज्ञानियोंसे विभङ्गज्ञानियोंके असङ्ख्यगुण होनेका कारण यह है कि मिथ्यादृष्टिवाले देव-नारक, जो कि विभङ्गज्ञानी ही हैं, वे सम्यक्त्वी जीवोंसे असङ्ख्यातगुण हैं ॥ ४० ॥

केवलिणो णंतगुणा, मइसुयअन्नाणि णंतगुण तुल्ला।
सुहुमा थोवा परिहा-र संख अहखाय संखगुणा ॥४१॥

केवलिनोऽनन्तगुणाः, मतिश्रुताऽज्ञानिनोऽनन्तगुणास्तुल्याः।
सूक्ष्माः स्तोकाः परिहाराः संख्या यथाख्याताःसंख्यगुणाः ॥ ४१ ॥

अर्थ—केवलज्ञानी विभङ्गज्ञानियोंसे अनन्तगुण हैं। मति-अज्ञानी और श्रुत-अज्ञानी, ये दोनों आपसमें तुल्य हैं; परन्तु केवलज्ञानियोंसे अनन्तगुण हैं।

सूक्ष्मसम्परायचारित्रवाले अन्य चारित्रवालोंसे अल्प हैं। परि-

हारविशुद्धचारित्रवाले सूक्ष्मसम्परायचारित्रियोंसे संख्यातगुण हैं। यथाख्यातचारित्रवाले परिहारविशुद्धचारित्रियोंसे संख्यातगुण हैं।

भावार्थ—सिद्ध अनन्त हैं और वे सभी केवलज्ञानी हैं, इसीसे केवलज्ञानी विभङ्गज्ञानियोंसे अनन्तगुण हैं। वनस्पतिकायिक जीव सिद्धोंसे भी अनन्तगुण हैं और वे सभी मति-अज्ञानी तथा श्रुत-अज्ञानी ही हैं। अत एव मति-अज्ञानी तथा श्रुत-अज्ञानी, दोनोंका केवलज्ञानियोंसे अनन्तगुण होना संगत है। मति और श्रुत-ज्ञानकी तरह मति और श्रुत-अज्ञान, नियमसे सहचारी हैं, इसीसे मति-अज्ञानी तथा श्रुत-अज्ञानी आपसमें तुल्य हैं।

सूक्ष्मसंपरायचारित्री उत्कृष्ट दो सौसे नौ सौ तक, परिहार-विशुद्धचारित्री उत्कृष्ट दो हजारसे नौ हजार तक और यथाख्यात-चारित्री उत्कृष्ट दो करोड़से नौ करोड़ तक हैं। अत एव इन तीनों प्रकारके चारित्रियोंका उत्तरोत्तर संख्यातगुण अल्प-बहुत्व माना गया है ॥ ४१ ॥

छेयसमईय संखा, देस असंखगुण णंतगुण अजया।
थोवअसंखदुणंता, ओहिनयणकेवलअचक्खू ॥४२॥

छेदसामायिकाः संख्याः, देशा असंख्यगुणा अनन्तगुणा अयताः।
स्तोकाऽसंख्यद्व्यनन्तान्यवधिनयनकेवलाचक्षूंषि ॥ ४२ ॥

अर्थ—छेदोपस्थापनीयचारित्रवाले यथाख्यातचारित्रियोंसे संख्यातगुण हैं। सामायिकचारित्रवाले छेदोपस्थापनीयचारित्रियोंसे संख्यातगुण हैं। देशविरतिवाले सामायिकचारित्रियोंसे असं-ख्यातगुण हैं। अविरतिवाले देशविरतोंसे अनन्तगुण हैं।

अवधिदर्शनी अन्य सब दर्शनवालोंसे अल्प हैं। चक्षुर्दर्शनी अवधिदर्शनवालोंसे असंख्यातगुण हैं। केवलदर्शनी चक्षुर्दर्शनवालोंसे अनन्तगुण हैं। अचक्षुर्दर्शनी केवलदर्शनियोंसे भी अनन्तगुण हैं।

भावार्थ—यथाख्यातचारित्रवाले उत्कृष्ट दो करोड़से नौ करोड़ तक होते हैं; परन्तु छेदोपस्थापनीयचारित्रवाले उत्कृष्ट दो सौ करोड़से नौ सौ करोड़ तक और सामायिकचारित्रवाले उत्कृष्ट दो हजार करोड़से नौ हजार करोड़ तक पाये जाते हैं। इसी कारण ये उपर्युक्त रीतिसे संख्यातगुण माने गये हैं। तिर्यञ्च भी देशविरत होते हैं; ऐसे तिर्यञ्च असंख्यात होते हैं। इसीसे सामायिकचारित्रवालोंसे देशविरतिवाले असंख्यातगुण कहे गये हैं। उक्त चारित्रवालोंको छोड़ अन्य सब जीव अविरत हैं, जिनमें अनन्तानन्त वनस्पतिकायिक जीवोंका समावेश है। इसी अभिप्रायसे अविरत जीव देशविरतिवालोंकी अपेक्षा अनन्तगुण माने गये हैं।

देवों, नारकों तथा कुछ मनुष्य-तिर्यञ्चोंको ही अवधिदर्शन होता है। इसीसे अन्य दर्शनवालोंकी अपेक्षा अवधिदर्शनी अल्प हैं। चक्षुर्दर्शन, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय और संज्ञि-पञ्चेन्द्रिय, इन तीनों प्रकारके जीवोंमें होता है। इसलिये चक्षुर्दर्शनवाले अवधिदर्शनियोंकी अपेक्षा असंख्यातगुण कहे गये हैं। सिद्ध अनन्त हैं और वे सभी केवलदर्शनी हैं, इसीसे उनकी संख्या चक्षुर्दर्शनियोंकी संख्यासे अनन्तगुण है। अचक्षुर्दर्शन सभी संसारी जीवोंमें होता है, जिनमें अकेले वनस्पतिकायिक जीव ही अनन्तानन्त हैं। इसी कारण अचक्षुर्दर्शनियोंको केवलदर्शनियोंसे अनन्तगुण कहा है।

लेश्या आदि पाँच मार्गणाओंका अल्प-बहुत्व[1]।

[दो गाथाओंसे।]

पच्छाणुपुव्विलेसा, थोवा दो संख णंत दो अहिया।
अभवियर थोवणंता, सासण थोवोवसम संखा ॥४३॥

१—लेश्याका अल्प-बहुत्व प्रज्ञापना पृ० १३५/१, ३४२/१; भव्य-मार्गणाका पृ० ११०/१

पश्चानुपूर्व्या लेश्याः, स्तोका द्वे संख्ये अनन्ता द्वे अधिके।

अभव्येतराः स्तोकानन्ताः, सासादनाः स्तोका उपशमाः संख्याः ॥४३॥

अर्थ—लेश्याओंका अल्प-बहुत्व पश्चानुपूर्वीसे—पीछेकी ओरसे—जानना चाहिये। जैसेः—शुक्ललेश्यावाले, अन्य सब लेश्यावालोंसे अल्प हैं। पद्मलेश्यावाले, शुक्ललेश्यावालोंसे संख्यातगुण हैं। तेजोलेश्यावाले, पद्मलेश्यावालोंसे संख्यातगुण हैं। तेजोलेश्यावालोंसे कापोतलेश्यावाले अनन्तगुण हैं। कापोतलेश्यावालोंसे नीललेश्यावाले विशेषाधिक हैं। कृष्णलेश्यावाले, नीललेश्यावालोंसे भी विशेषाधिक हैं।

अभव्य जीव, भव्य जीवोंसे अल्प हैं। भव्य जीव, अभव्य जीवोंकी अपेक्षा अनन्तगुण हैं।

सासादनसम्यग्दृष्टिवाले, अन्य सब दृष्टिवालोंसे कम हैं। औपशमिकसम्यग्दृष्टिवाले, सासादनसम्यग्दृष्टिवालोंसे संख्यातगुण हैं ॥४३॥

भावार्थ—लान्तक देवलोकसे लेकर अनुत्तरविमान तकके वैमानिकदेवोंको तथा गर्भ-जन्य संख्यातवर्ष आयुवाले कुछ मनुष्य-तिर्यञ्चोंको शुक्ललेश्या होती है। पद्मलेश्या, सनत्कुमारसे ब्रह्मलोक तकके

संज्ञिमार्गणाका पृ० १३१ और आहारकमार्गणाका पृ० १३२ पर है। अल्प-बहुत्व पदमें सम्यक्त्वमार्गणाका जो अल्प बहुत्व पृ० १३६ पर है, वह संक्षिप्तमात्र है।

गोम्मटसार-जीवकाण्डकी ५३६ से लेकर ५४१ वीं तककी गाथाओंमें जो लेश्याका अल्प-बहुत्व द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिको लेकर बतलाया गया है, वह कहीं-कहीं यहाँसे मिलता है और कहीं-कहीं नहीं मिलता।

भव्यमार्गणामें अभव्यकी संख्या उसमें कर्मग्रन्थकी तरह जघन्य-युक्तानन्त कही हुई है।

—जी० गा० ५५९।

सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारकमार्गणाका भी अल्प-बहुत्व उसमें वर्णित है।

—जी० गा० ६५६—६५८—६६२—६७०।

वैमानिकदेवोंको और गर्भ-जन्य संख्यात वर्ष आयुवाले कुछ मनुष्य-तिर्यञ्चोंको होती है। तेजोलेश्या, बादर पृथ्वी, जल और वनस्पति-कायिक जीवोंको, कुछ पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च-मनुष्य, भवनपति और व्यन्तरोंको, ज्योतिषोंको तथा सौधर्म-ईशान कल्पके वैमानिकदेवों-को होती है। सब पद्मलेश्यावाले मिलाकर सब शुक्ललेश्यावालोंकी अपेक्षा संख्यातगुण हैं। इसी तरह सब तेजोलेश्यावाले मिलाये जायँ तो सब पद्मलेश्यावालोंसे संख्यातगुण ही होते हैं। इसीसे इनका

१—लान्तकसे लेकर अनुत्तरविमान तकके वैमानिकदेवोंकी अपेक्षा सनत्कुमारसे लेकर ब्रह्मलोक तकके वैमानिकदेव असंख्यातगुण हैं। इसी प्रकार सनत्कुमार आदिके वैमानिकदेवोंकी अपेक्षा केवल ज्योतिषदेव ही असंख्यात-गुण हैं। अत एव यह शङ्का होती है कि पद्मलेश्यावाले शुक्ललेश्यावालोंसे और तेजोलेश्यावाले पद्मलेश्यावालोंसे असंख्यातगुण न मानकर संख्यातगुण क्यों माने जाते हैं ?

इसका समाधान इतना ही है कि पद्मलेश्यावाले देव शुक्ललेश्यावाले देवोंसे असंख्यातगुण हैं सही, पर पद्मलेश्यावाले देवोंकी अपेक्षा शुक्ललेश्यावाले तिर्यञ्च असंख्यातगुण हैं। इसी प्रकार पद्मलेश्यावाले देवोंसे तेजोलेश्यावाले देवोंके असंख्यातगुण होनेपर भी तेजोलेश्यावाले देवोंसे पद्मलेश्यावाले तिर्यञ्च असंख्यातगुण हैं। अत एव सब शुक्ललेश्यावालोंसे सब पद्मलेश्यावाले और सब पद्मलेश्यावालोंसे सब तेजोलेश्यावाले संख्यातगुण ही होते हैं। सारांश, केवल देवोंकी अपेक्षा शुक्ल आदि उक्त तीन लेश्याओंका अल्प-बहुत्व विचारा जाता, तब तो असंख्यातगुण कहा जाता; परन्तु यह अल्प-बहुत्व सामान्य जीवराशिको लेकर कहा गया है और पद्मलेश्यावाले देवोंसे शुक्ल-लेश्यावाले तिर्यञ्चोंकी तथा तेजोलेश्यावाले देवोंसे पद्मलेश्यावाले तिर्यञ्चोंकी संख्या इतनी बड़ी है; जिससे कि उक्त संख्यातगुण ही अल्प-बहुत्व घट सकता है।

श्रीजयसोमसूरिने शुक्ललेश्यासे तेजोलेश्या तकका अल्प-बहुत्व असंख्यातगुण लिखा है; क्योंकि उन्होंने गाथा-गत 'दो संखा' पदके स्थानमें 'दोऽसंखा' का पाठान्तर लेकर व्याख्या की है और अपने टबेमें यह भी लिखा है कि किसी-किसी प्रतिमें 'दो संखा' का पाठान्तर है, जिसके अनुसार संख्यातगुणका अल्प-बहुत्व समझना चाहिये, जो सुज्ञोंको विचारणीय है।

'दोऽसंखा' यह पाठान्तर वास्तविक नहीं है। 'दो संखा' पाठ ही तथ्य है। इसके अनु-सार संख्यात-गुण अल्प-बहुत्वका शङ्का-समाधान-पूर्वक विचार, सुज्ञ श्रीमलयगिरिसूरिने प्रज्ञापनाके अल्प-बहुत्व तथा लेश्यापदकी अपनी वृत्तिमें बहुत स्पष्ट रीतिसे किया है।—पृ० १३६/१; ३७५/१।

अल्प-बहुत्व संख्यातगुण कहा है। कापोतलेश्या, अनन्तवनस्पतिकायिक जीवोंको होती है, इसी सबबसे कापोतलेश्यावाले तेजोलेश्यावालोंसे अनन्तगुण कहे गये हैं। नीललेश्या, कापोतलेश्यावालोंसे अधिक जीवोंमें और कृष्णलेश्या, नीललेश्यावालोंसे भी अधिक जीवोंमें होती है; क्योंकि नीललेश्या कापोतकी अपेक्षा क्लिष्टतर अध्यवसायरूप और कृष्णलेश्या नीललेश्यासे क्लिष्टतम अध्यवसायरूप है। यह देखा जाता है कि क्लिष्ट, क्लिष्टतर और क्लिष्टतम परिणामवाले जीवोंकी संख्या उत्तरोत्तर अधिकाधिक ही होती है।

भव्य जीव, अभव्य जीवोंकी अपेक्षा अनन्तगुण हैं; क्योंकि अभव्य-जीव 'जघन्ययुक्त' नामक चौथी अनन्तसंख्या-प्रमाण हैं, पर भव्य जीव अनन्तानन्त हैं।

औपशमिकसम्यक्त्वको त्याग कर जो जीव मिथ्यात्वकी ओर झुकते हैं, उन्हींको सासादनसम्यक्त्व होता है, दूसरोंको नहीं। इसीसे अन्य सब दृष्टिवालोंसे सासादनसम्यग्दृष्टिवाले कम ही पाये जाते हैं। जितने जीवोंको औपशमिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है, वे सभी उस सम्यक्त्वको वमन कर मिथ्यात्वके अभिमुख नहीं होते, किन्तु कुछ ही होते हैं: इसीसे औपशमिकसम्यक्त्वसे गिरनेवालोंकी अपेक्षा उसमें स्थिर रहनेवाले संख्यातगुण पाये जाते हैं ॥ ४३ ॥

मीसा संखा वेयग, असंखगुण खइयमिच्छ दु अणंता।
संनियर थोव णंता,-णहार थोवेयर असंखा ॥ ४४ ॥

मिश्राः संख्या वेदका, असंख्यगुणाः क्षायिकामिथ्या द्वावनन्तौ।
संज्ञीतरे स्तोकानन्ता, अनाहारकाः स्तोका इतरेऽसंख्याः ॥ ४४ ॥

अर्थ—मिश्रदृष्टिवाले, औपशमिकसम्यग्दृष्टिवालोंसे संख्यातगुण हैं। वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्ववाले जीव, मिश्रदृष्टिवालोंसे

असंख्यातगुण हैं। क्षायिकसम्यग्दृष्टिवाले जीव, वेदकसम्यग्दृष्टिवालोंसे अनन्तगुण हैं। मिथ्यादृष्टिवाले जीव, क्षायिकसम्यग्दृष्टिवाले जीवोंसे भी अनन्तगुण हैं।

संज्ञी जीव, असंज्ञी जीवोंकी अपेक्षा कम हैं और असंज्ञी जीव, उनसे अनन्तगुण हैं। अनाहारक जीव, आहारक जीवोंकी अपेक्षा कम हैं और आहारक जीव, उनसे असंख्यातगुण हैं ॥४४॥

भावार्थ—मिश्रदृष्टि पानेवाले जीव दो प्रकारके हैं। एक तो वे, जो पहले गुणस्थानको छोड़कर मिश्रदृष्टि प्राप्त करते हैं और दूसरे वे, जो सम्यग्दृष्टिसे च्युत होकर मिश्रदृष्टि प्राप्त करते हैं। इसीसे मिश्रदृष्टिवाले औपशमिकसम्यग्दृष्टिवालोंसे संख्यातगुण हो जाते हैं। मिश्रसम्यग्दृष्टिवालोंसे क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिवालोंके असंख्यातगुण होनेका कारण यह है कि मिश्रसम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायोपशमिकसम्यक्त्वकी स्थिति बहुत अधिक है; मिश्रसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तकी ही होती है, पर क्षायोपशमिकसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक छयासठ सागरोपमकी। क्षायिकसम्यक्त्वी, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वियोंसे अनन्तगुण हैं; क्योंकि सिद्ध अनन्त हैं और वे सब क्षायिकसम्यक्त्वी ही हैं। क्षायिकसम्यक्त्वियोंसे भी मिथ्यात्वियोंके अनन्तगुण होनेका कारण यह है कि सब वनस्पतिकायिक जीव मिथ्यात्वी ही हैं और वे सिद्धोंसे भी अनन्तगुण हैं।

देव, नारक, गर्भज-मनुष्य तथा गर्भज-तिर्यञ्च ही संज्ञी हैं, शेष सब संसारी जीव असंज्ञी हैं, जिनमें अनन्त वनस्पतिकायिक जीवोंका समावेश है; इसीलिये असंज्ञी जीव संज्ञियोंकी अपेक्षा अनन्तगुण कहे जाते हैं।

विग्रहगतिमें वर्तमान, केवलिसमुद्घातके तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें वर्तमान, चौदहवें गुणस्थानमें वर्तमान और सिद्ध-

ये सब जीव अनाहारक हैं; शेष सब आहारक हैं। इसीसे अनाहारकोंकी अपेक्षा आहारक जीव असंख्यातगुण कहे जाते हैं। वनस्पतिकायिक जीव सिद्धोंसे भी अनन्तगुण हैं और वे सभी संसारी होनेके कारण आहारक हैं। अत एव यह शङ्का होती है कि आहारक जीव, अनाहारकोंकी अपेक्षा अनन्तगुण होने चाहिये, असंख्यगुण कैसे ?

इसका समाधान यह है कि एक-एक निगोद-गोलकमें अनन्त जीव होते हैं; इनका असंख्यातवाँ भाग प्रतिसमय मरता और विग्रहगतिमें वर्तमान रहता है। ऊपर कहा गया है कि विग्रहगतिमें वर्तमान जीव अनाहारक ही होते हैं। ये अनाहारक इतने अधिक होते हैं, जिससे कुल आहारक जीव, कुल अनाहारकोंकी अपेक्षा अनन्तगुण कभी नहीं होने पाते, किन्तु असंख्यातगुण ही रहते हैं ॥४४॥

द्वितीयाधिकारके परिशिष्ट।



परिशिष्ट "ज"।

पृष्ठ ५२, पङ्क्ति २३के 'योगमार्गणा' शब्दपर—

तीन योगोंके बाह्य और आभ्यन्तर कारण दिखा कर उनकी व्याख्या राजवार्तिकमें बहुत ही स्पष्ट की गई है। उसका सारांश इस प्रकार है:—

(क) बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे होनेवाला जो मननके अभिमुख आत्माका प्रदेश-परिस्पन्द, वह 'मनोयोग' है। इसका बाह्य कारण मनोवर्गणाका आलम्बन और आभ्यन्तर कारण, वीर्यान्तरायकर्मका क्षय-क्षयोपशम तथा नो-इन्द्रियावरणकर्मका क्षय-क्षयोपशम (मनोलब्धि) है।

(ख) बाह्य और आभ्यन्तर कारण-जन्य आत्माका भाषाभिमुख प्रदेश-परिस्पन्द 'वचन-योग' है। इसका बाह्य कारण पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्मके उदयसे होनेवाला वचनवर्गणाका आलम्बन है और आभ्यन्तर कारण वीर्यान्तरायकर्मका क्षय-क्षयोपशम तथा मतिज्ञानावरण और अक्षरश्रुतज्ञानावरण आदि कर्मका क्षय-क्षयोपशम (वचनलब्धि) है।

(ग) बाह्य और आभ्यन्तर कारण-जन्य गमनादि-विषयक आत्माका प्रदेश-परिस्पन्द 'काय-योग' है। इसका बाह्य कारण किसी-न-किसी प्रकारकी शरीरवर्गणाका आलम्बन है और आभ्यन्तर कारण वीर्यान्तरायकर्मका क्षय-क्षयोपशम है।

यद्यपि तेरहवें और चौदहवें, इन दोनों गुणस्थानोंके समय वीर्यान्तरायकर्मका क्षयरूप आभ्यन्तर कारण समान ही है, परन्तु वर्गणालम्बनरूप बाह्य कारण समान नहीं है। अर्थात् वह तेरहवें गुणस्थानके समय पाया जाता है, पर चौदहवें गुणस्थानके समय नहीं पाया जाता। इसीसे तेरहवें गुणस्थानमें योग-विधि होती है, चौदहवेंमें नहीं। इसकेलिये देखिये, तत्त्वार्थ-अध्याय ६, सू० १, राजवार्तिक १०।

योगके विषयमें शङ्का-समाधानः—

(क) यह शङ्का होती है कि मनोयोग और वचनयोग, काययोग ही हैं; क्योंकि इन दोनों योगोंके समय, शरीरका व्यापार अवश्य रहता ही है और इन योगोंके आलम्बनभूत मनोद्रव्य तथा भाषाद्रव्यका ग्रहण भी किसी-न-किसी प्रकारके शारीरिक-योगसे ही होता है।

इसका समाधान यही है कि मनोयोग तथा वचनयोग, काययोगसे जुदा नहीं है; किन्तु काययोग-विशेष ही है। जो काययोग, मनन करनेमें सहायक होता है, वही उस समय 'मनोयोग' और जो काययोग, भाषाके बोलनेमें सहकारी होता है, वही उस समय 'वचनयोग' माना गया है। सारांश यह है कि व्यवहारकेलिये ही काययोगके तीन भेद किये हैं।

(ख) यह भी शङ्का होती है कि उक्त रीतिसे श्वासोच्छ्वासमें सहायक होनेवाले काययोगको 'श्वासोच्छ्वासयोग' कहना चाहिये और तीनकी जगह चार योग मानने चाहिये।

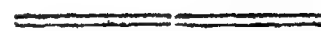
इसका समाधान यह दिया गया है कि व्यवहारमें, जैसा भाषाका और मनका विशिष्ट प्रयोजन दीखता है, वैसा श्वासोच्छ्वासका नहीं। अर्थात् श्वासोच्छ्वास और शरीरका प्रयोजन वैसा भिन्न नहीं है, जैसा शरीर और मन-वचनका। इसीसे तीन ही योग माने गये हैं। इस विषयके विशेष विचारकेलिये विशेषावश्यक-भाष्य, गा० ३५६—३६४ तथा लोकप्रकाश-सर्ग ३, श्लो० १३५४—१३५५ के बीचका गद्य देखना चाहिये।

द्रव्यमन, द्रव्यवचन और शरीरका स्वरूपः—

(क) जो पुद्गल मन बननेके योग्य है, जिनको शास्त्रमें 'मनोवर्गणा' कहते हैं, वे जब मनरूपमें परिणत हो जाते हैं—विचार करनेमें सहायक हो सकें, ऐसी स्थितिको प्राप्त कर लेते हैं—तब उन्हें 'मन' कहते हैं। शरीरमें द्रव्यमनके रहनेका कोई खास स्थान तथा उसका नियत आकार श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें नहीं है। श्वेताम्बर-सम्प्रदायके अनुसार द्रव्यमनको शरीर-व्यापी और शरीराकार समझना चाहिये। दिगम्बर-सम्प्रदायमें उसका स्थान हृदय तथा आकार कमलकासा माना है।

(ख) वचनरूपमें परिणत एक प्रकारके पुद्गल, जिन्हें भाषावर्गणा कहते हैं, वे ही 'वचन' कहलाते हैं।

(ग) जिससे चलना-फिरना, खाना-पीना आदि हो सकता है, जो सुख-दुःख भोगनेका स्थान है और जो औदारिक, वैक्रिय आदि वर्गणाओंसे बनता है, वह 'शरीर' कहलाता है।



परिशिष्ट "झ"।

पृष्ठ ६५, पङ्क्ति ८के 'सम्यक्त्व' शब्दपर—

इसका स्वरूप, विशेष प्रकारसे जाननेकेलिये निम्न-लिखित कुछ बातोंका विचार करना बहुत उपयोगी है:—

(१) सम्यक्त्व सहेतुक है या निर्हेतुक ?

(२) क्षायोपशमिक आदि भेदोंका आधार क्या है ?

(३) औपशमिक और क्षायोपशमिक-सम्यक्त्वका आपसमें अन्तर तथा क्षायिकसम्यक्त्व-की विशेषता।

(४) शङ्का-समाधान, विपाकोदय और प्रदेशोदयका स्वरूप।

(५) क्षयोपशम और उपशमकी व्याख्या तथा खुलासावार विचार।

(१)—सम्यक्त्व-परिणाम सहेतुक है या निर्हेतुक ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि उसको निर्हेतुक नहीं मान सकते; क्योंकि जो वस्तु निर्हेतुक हो, वह सब कालमें, सब जगह, एकसी होनी चाहिये अथवा उसका अभाव होना चाहिये। सम्यक्त्व-परिणाम, न तो सबमें समान है और न उसका अभाव है। इसलिये उसे सहेतुक मानना ही चाहिये। सहेतुक मान लेनेपर यह प्रश्न होता है कि उसका नियत हेतु क्या है; प्रवचन-श्रवण, भगवत्पूजन आदि जो-जो बाह्य निमित्त माने जाते हैं, वे तो सम्यक्त्वके नियत कारण हो ही नहीं सकते; क्योंकि इन बाह्य निमित्तोंके होते हुए भी अभव्योंकी तरह अनेक भव्योंको सम्यक्त्व-प्राप्ति नहीं होती। परन्तु इसका उत्तर इतना ही है कि सम्यक्त्व-परिणाम प्रकट होनेमें नियत कारण जीवका तथाविध भव्यत्व-नामक अनादि पारिणामिक-स्वभाव विशेष ही है। जब इस पारिणामिक भव्यत्वका परिपाक होता है, तभी सम्यक्त्व-लाभ होता है। भव्यत्व परिणाम, साध्य रोगके समान है। कोई साध्य रोग, स्वयमेव (बाह्य उपायके विना ही) शान्त हो जाता है। किसी साध्य रोगके शान्त होनेमें वैद्यका उपचार भी दरकार है और कोई साध्य रोग ऐसा भी होता है, जो बहुत दिनोंके बाद मिटता है। भव्यत्व-स्वभाव, ऐसा ही है। अनेक जीवोंका भव्यत्व, बाह्य निमित्तके विना ही परिपाक प्राप्त करता है। ऐसे भी जीव हैं, जिनके भव्यत्व-स्वभावका परिपाक होनेमें शास्त्र-श्रवण आदि बाह्य निमित्तोंकी आवश्यकता पड़ती है। और अनेक जीवोंका भव्यत्व परिणाम दीर्घ-काल व्यतीत हो चुकनेपर, स्वयं ही परिपाक प्राप्त करता है। शास्त्र-श्रवण, अर्हत्पूजन आदि जो बाह्य निमित्त हैं, वे सहकारीमात्र हैं। उनकेद्वारा कभी-कभी भव्यत्वका परिपाक होनेमें मदद मिलती है, इसीसे व्यवहारमें वे सम्यक्त्वके कारण माने गये हैं और उनके आलम्बनकी आवश्यकता दिखायी जाती है। परन्तु निश्चय-दृष्टिसे तथाविध-भव्यत्वके विपाकको ही सम्यक्त्वका

अव्यभिचारी (निश्चित) कारण मानना चाहिये। इससे शास्त्र-श्रवण, प्रतिमा-पूजन आदि बाह्य क्रियाओंकी अनैकान्तिकता, जो अधिकारी भेदपर अवलम्बित है, उसका खुलासा हो जाता है। यही भाव, भगवान् उमास्वातिने 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा'—तत्त्वार्थ-अ० १, सूत्र ३से प्रकट किया है। और यही बात पञ्चसंग्रह-द्वार १, गा० ८ की मलयगिरि-टीकामें भी है।

(२)—सम्यक्त्व गुण, प्रकट होनेके आभ्यन्तर कारणोंकी जो विविधता है, वही क्षायोपशमिक आदि भेदोंका आधार है:—अनन्तानुबन्धि-चतुष्क और दर्शनमोहनीय-त्रिक, इन सात प्रकृतियोंका क्षयोपशम, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वका; उपशम, औपशमिकसम्यक्त्वका और क्षय, क्षायिकसम्यक्त्वका कारण है। तथा सम्यक्त्वसे गिरा कर मिथ्यात्वकी ओर झुकानेवाला अनन्तानुबन्धी कषायका उदय, सासादनसम्यक्त्वका कारण और मिश्रमोहनीयका उदय, मिश्रसम्यक्त्वका कारण है। औपशमिकसम्यक्त्वमें काललब्धि आदि अन्य क्या २ निमित्त अपेक्षित हैं और वह किस २ गतिमें किन २ कारणोंसे होता है, इसका विशेष वर्णन तथा क्षायिक और क्षायोपशमिकसम्यक्त्वका वर्णन क्रमशः—तत्त्वार्थ अ० २, सू० ३ के १ले और २रे राजवार्तिकमें तथा सू० ४ और ५ के ७वें राजवार्तिकमें है।

(३)—औपशमिकसम्यक्त्वके समय, दर्शनमोहनीयका किसी प्रकारका उदय नहीं होता; पर क्षायोपशमिकसम्यक्त्वके समय, सम्यक्त्वमोहनीयका विपाकोदय और मिथ्यात्वमोहनीयका प्रदेशोदय होता है। इसी भिन्नताके कारण शास्त्रमें औपशमिकसम्यक्त्वको, 'भावसम्यक्त्व' और क्षायोपशमिकसम्यक्त्वको, 'द्रव्यसम्यक्त्व' कहा है। इन दोनों सम्यक्त्वोंसे क्षायिकसम्यक्त्व विशिष्ट है; क्योंकि वह स्थायी है और ये दोनों अस्थायी हैं।

(४)—यह शङ्का होती है कि मोहनीयकर्म घातिकर्म है। वह सम्यक्त्व और चारित्र-पर्यायका घात करता है, इसलिये सम्यक्त्वमोहनीयके विपाकोदय और मिथ्यात्वमोहनीयके प्रदेशोदयके समय, सम्यक्त्व-परिणाम व्यक्त कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि सम्यक्त्वमोहनीय, मोहनीयकर्म है सही, पर उसके दलिक विशुद्ध होते हैं; क्योंकि शुद्ध अध्यवसायसे जब मिथ्यात्वमोहनीयकर्मके दलिकोंका सर्वघाती रस नष्ट हो जाता है, तब वे ही एक-स्थान रसवाले और द्वि-स्थान अतिमन्द रसवाले दलिक 'सम्यक्त्वमोहनीय' कहलाते हैं। जैसे:—काँच आदि पारदर्शक वस्तुएँ नेत्रके दर्शन-कार्यमें रुकावट नहीं डालतीं, वैसे ही मिथ्यात्वमोहनीयके शुद्ध दलिकोंका विपाकोदय सम्यक्त्व-परिणामके आविर्भावमें प्रतिबन्ध नहीं करता। अब रहा मिथ्यात्वका प्रदेशोदय, सो वह भी, सम्यक्त्व-परिणामका प्रतिबन्धक नहीं होता; क्योंकि नीरस दलिकोंका ही प्रदेशोदय होता है। जो दलिक, मन्द रसवाले हैं, उनका विपाकोदय भी, जब गुणका घात नहीं करता, तब नीरस दलिकोंके प्रदेशोदयसे गुणके घात होनेकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती। देखिये, पञ्चसंग्रह-द्वार १, १५वीं गाथाकी टीकामें ग्यारहवें गुणस्थानकी व्याख्या।

(५)—क्षयोपशम-जन्य पर्याय 'क्षायोपशमिक' और उपशम-जन्य पर्याय 'औपशमिक' कहलाता है। इसलिये किसी भी क्षायोपशमिक और औपशमिक भावका यथार्थ ज्ञान करनेके-लिये पहले क्षयोपशम और उपशमका ही स्वरूप जान लेना आवश्यक है। अतः इनका स्वरूप शास्त्रीय प्रक्रियाके अनुसार लिखा जाता है:—

(क) क्षयोपशम शब्दमें दो पद हैं:—क्षय तथा उपशम। 'क्षयोपशम' शब्दका मतलब, कर्मके क्षय और उपशम दोनोंसे है। क्षयका मतलब, आत्मासे कर्मका विशिष्ट सम्बन्ध छूट जाना और उपशमका मतलब कर्मका अपने स्वरूपमें आत्माके साथ संलग्न रह कर भी उसपर असर न डालना है। यह तो हुआ सामान्य अर्थ; पर उसका पारिभाषिक अर्थ कुछ अधिक है। बन्धावलिका पूर्ण हो जानेपर किसी विवक्षित कर्मका जब क्षयोपशम शुरू होता है, तब विवक्षित वर्तमान समयसे आवलिका-पर्यन्तके दलिक, जिन्हें उदयावलिका-प्राप्त या उदीर्ण-दलिक कहते हैं, उनका तो प्रदेशोदय व विपाकोदयद्वारा क्षय (अभाव) होता रहता है; और जो दलिक, विवक्षित वर्तमान समयसे आवलिका तकमें उदय पाने योग्य नहीं हैं—जिन्हें उदयावलिका बाहर्भूत या अनुदीर्ण दलिक कहते हैं—उनका उपशम (विपाकोदयकी योग्यताका अभाव या तीव्र रसमें मन्द रसमें परिणमन) हो जाता है, जिससे वे दलिक, अपनी उदयावलिका प्राप्त होनेपर, प्रदेशोदय या मन्द विपाकोदयद्वारा क्षीण हो जाते हैं अर्थात् आत्मापर अपना फल प्रकट नहीं कर सकते या कम प्रकट करते हैं।

इस प्रकार आवलिका पर्यन्तके उदय-प्राप्त कर्मदलिकोंका प्रदेशोदय व विपाकोदयद्वारा क्षय और आवलिकाके बादके उदय पाने योग्य कर्मदलिकोंकी विपाकोदयसम्बन्धिनी योग्यताका अभाव या तीव्र रसका मन्द रसमें परिणमन होते रहनेसे कर्मका क्षयोपशम कहलाता है।

क्षयोपशम-योग्य कर्मः—क्षयोपशम, सब कर्मोंका नहीं होता; सिर्फ घातिकर्मोंका होता है। घातिकर्मके देशघाति और सर्वघाति, ये दो भेद हैं। दोनोंके क्षयोपशममें कुछ विभिन्नता है।

(क) जब देशघातिकर्मका क्षयोपशम प्रवृत्त होता है, तब उसके मन्द रस-युक्त कुछ दलिकोंका विपाकोदय, साथ ही रहता है। विपाकोदय-प्राप्त दलिक, अल्प रस-युक्त होनेसे स्वावार्य गुणका घात नहीं कर सकते, इससे यह सिद्धान्त माना गया है कि देशघातिकर्मके क्षयोपशमके समय, विपाकोदय विरुद्ध नहीं है, अर्थात् वह क्षयोपशमके कार्यको—स्वावार्य गुणके विकासको—रोक नहीं सकता। परन्तु यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि देशघातिकर्म-के विपाकोदय-मिश्रित क्षयोपशमके समय, उसका सर्वघाति-रस-युक्त कोई भी दलिक, उदयमान नहीं होता। इससे यह सिद्धान्त मान लिया गया है कि जब, सर्वघाति-रस, शुद्ध-अध्यवसायसे देशघातिरूपमें परिणत हो जाता है, तभी अर्थात् देशघाति-स्पर्धकके ही विपाकोदय-कालमें क्षयोपशम अवश्य प्रवृत्त होता है।

घातिकर्मकी पचीस प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं, जिनमेंसे मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और पाँच अन्तराय, इन आठ प्रकृतियोंका क्षयोपशम तो सदासे ही प्रवृत्त है; क्योंकि आवार्य मतिज्ञान आदि पर्याय, अनादि कालसे क्षायोपशमिकरूपमें रहते ही हैं। इसलिये, यह मानना चाहिये कि उक्त आठ प्रकृतियोंके देशघाति-रसस्पर्धकका ही उदय होता है, सर्वघाति-रसस्पर्धकका कभी नहीं।

अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण, चक्षुर्दर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण, इन चार प्रकृतियोंका क्षयोपशम कादाचित्क (अनियत) है, अर्थात् जब उनके सर्वघाति-रसस्पर्धक, देशघातिरूपमें परिणत हो जाते हैं; तभी उनका क्षयोपशम होता है और जब सर्वघाति-रसस्पर्धक उदयमान होते हैं, तब अवधिज्ञान आदिका घात ही होता है। उक्त चार प्रकृतियोंका क्षयोपशम भी देशघाति-रसस्पर्धकके विपाकोदयसे मिश्रित ही समझना चाहिये।

उक्त बारहके सिवाय शेष तेरह (चार संज्वलन और नौ नोकषाय) प्रकृतियाँ जो मोहनीयकी हैं, वे अध्रुवोदयिनी हैं। इसलिये जब उनका क्षयोपशम, प्रदेशोदयमात्रसे युक्त होता है, तब तो वे स्वावार्य गुणका लेश भी घात नहीं करतीं और न देशघातिनी ही मानी जाती हैं; पर जब उनका क्षयोपशम विपाकोदयसे मिश्रित होता है, तब वे स्वावार्य गुणका कुछ घात करती हैं और देशघातिनी कहलाती हैं।

(ख) घातिकर्मकी बीस प्रकृतियाँ सर्वघातिनी हैं। इनमेंसे केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण, इन दोका तो क्षयोपशम होता ही नहीं; क्योंकि उनके दलिक कभी देशघाति-रस-युक्त बनते ही नहीं और न उनका विपाकोदय ही रोका जा सकता है। शेष अठारह प्रकृतियाँ ऐसी हैं, जिनका क्षयोपशम हो सकता है; परन्तु यह बात, ध्यानमें रखनी चाहिये कि देशघातिनी प्रकृतियोंके क्षयोपशमके समय, जैसे विपाकोदय होता है, वैसे इन अठारह सर्वघातिनी प्रकृतियोंके क्षयोपशमके समय नहीं होता, अर्थात् इन अठारह प्रकृतियोंका क्षयोपशम, तभी सम्भव है, जब उनका प्रदेशोदय ही हो। इसलिये यह सिद्धान्त माना है कि 'विपाकोदयवती प्रकृतियोंका क्षयोपशम, यदि होता है तो देशघातिनीहीका, सर्वघातिनीका नहीं'।

अत एव उक्त अठारह प्रकृतियाँ, विपाकोदयके निरोधके योग्य मानी जाती हैं; क्योंकि उनके आवार्य गुणोंका क्षायोपशमिक स्वरूपमें व्यक्त होना माना गया है, जो विपाकोदयके निरोधके सिवाय घट नहीं सकता।

(२) उपशमः—क्षयोपशमकी व्याख्यामें, उपशम शब्दका जो अर्थ किया गया है, उससे औपशमिकके उपशम शब्दका अर्थ कुछ उदार है। अर्थात् क्षयोपशमके उपशम शब्दका अर्थ सिर्फ विपाकोदयसम्बन्धिनी योग्यताका अभाव या तीव्र रसका मन्द रसमें परिणमन होना है; पर औपशमिकके उपशम शब्दका अर्थ प्रदेशोदय और विपाकोदय दोनोंका अभाव है; क्योंकि

क्षयोपशममें कर्मका क्षय भी जारी रहता है, जो कमसे कम प्रदेशोदयके सिवाय हो ही नहीं सकता। परन्तु उपशममें यह बात नहीं, जब कर्मका उपशम होता है, तभीसे उसका क्षय रुक ही जाता है, अत एव उसके प्रदेशोदय होनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती। इसीसे उपशम-अवस्था तभी मानी जाती है, जब कि अन्तरकरण होता है। अन्तरकरणके अन्तर्मुहूर्तमें उदय पानेके योग्य दलिकोंमेंसे कुछ तो पहले ही भोग लिये जाते हैं और कुछ दलिक पीछे उदय पानेके योग्य बना दिये जाते हैं, अर्थात् अन्तरकरणमें वेद्य-दलिकोंका अभाव होता है।

अत एव क्षयोपशम और उपशमकी संक्षिप्त व्याख्या इतनी ही की जाती है कि क्षयोप-शमके समय, प्रदेशोदय या मन्द विपाकोदय होता है, पर उपशमके समय, वह भी नहीं होता। यह नियम याद रखना चाहिये कि उपशम भी घातिकर्मका ही हो सकता है, सो भी सब घाति-कर्मका नहीं, किन्तु केवल मोहनीयकर्मका। अर्थात् प्रदेश और विपाक दोनों प्रकारका उदय, यदि रोका जा सकता है तो मोहनीयकर्मका ही। इसकेलिये देखिये, नन्दी, सू० ८ की टीका, पृ० ७७ कम्मपयडी, श्रीयशोविजयजी-कृत टीका, पृ० १३; पञ्च० द्वा० १, गा० २९की मलयगिरि-व्याख्या। सम्यक्त्वके स्वरूप, उत्पत्ति और भेद-प्रभेदादिका सविस्तर विचार देखनेकेलिये देखिये, लोकप्र०-सर्ग ३, श्लोक ५९६—७००।

परिशिष्ट "ट"।

पृष्ठ ७४, पङ्क्ति २१के "सम्भव" शब्दपर—

अठारह मार्गणामें अचक्षुर्दर्शन परिगणित है; अत एव उसमें भी चौदह जीवस्थान समझने चाहिये। परन्तु इसपर प्रश्न यह होता है कि अचक्षुर्दर्शनमें जो अपर्याप्त जीवस्थान माने जाते हैं, सो क्या अपर्याप्त-अवस्थामें इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद अचक्षुर्दर्शन मान कर या इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके पहले भी अचक्षुर्दर्शन होता है, यह मान कर ?

यदि प्रथम पक्ष माना जाय तब तो ठीक है; क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद अपर्याप्त-अवस्थामें ही चक्षुरिन्द्रियद्वारा सामान्य बोध मान कर। जैसेः—चक्षुर्दर्शनमें तीन अपर्याप्त जीवस्थान १७वीं गाथामें मतान्तरसे बतलाये हुए हैं, वैसे ही इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद अपर्याप्त-अवस्थामें चक्षुभिन्न इन्द्रियद्वारा सामान्य बोध मान कर अचक्षुर्दर्शनमें सात अपर्याप्त जीवस्थान घटाये जा सकते हैं।

परन्तु श्रीजयसोमसूरिने इस गाथाके अपने टबेमें इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके पहले भी अचक्षुर्दर्शन मान कर उसमें अपर्याप्त जीवस्थान माने हैं। और सिद्धान्तके आधारसे बतलाया है कि विग्रहगति और कार्मणयोगमें अवधिदर्शनरहित जीवको अचक्षुर्दर्शन होता है। इस पक्षमें प्रश्न यह होता है कि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके पहले द्रव्येन्द्रिय न होनेसे अचक्षुर्दर्शन कैसे मानना ? इसका उत्तर दो तरहसे दिया जा सकता है।

(१) द्रव्येन्द्रिय होनेपर द्रव्य और भाव, उभय इन्द्रिय-जन्य उपयोग और द्रव्येन्द्रियके अभावमें केवल भावेन्द्रिय-जन्य उपयोग, इस तरह दो प्रकारका उपयोग है। विग्रहगतिमें और इन्द्रियपर्याप्ति होनेके पहले, पहले प्रकारका उपयोग, नहीं हो सकता; पर दूसरे प्रकारका दर्शनात्मक सामान्य उपयोग माना जा सकता है। ऐसा माननेमें तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ९ की वृत्तिका—

"अथवेन्द्रियनिरपेक्षमेव तत्कस्यचिद्भवेद् यतः पृष्ठत उपसर्पन्तं सर्पं बुद्ध्यैवेन्द्रियव्यापारनिरपेक्षं पश्यतीति।"

यह कथन प्रमाण है। सारांश, इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके पहले उपयोगात्मक अचक्षुर्दर्शन मान कर समाधान किया जा सकता है।

(२) विग्रहगतिमें और इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके पहले अचक्षुर्दर्शन माना जाता है, सो शक्तिरूप अर्थात् क्षयोपशमरूप, उपयोगरूप नहीं। यह समाधान, प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थकी ४९वीं गाथाकी टीकाके—

"त्रयाणामप्यचक्षुर्दर्शनं तस्यानाहारकावस्थायामपि लब्धिमाश्रित्याभ्युपगमात्।"

इस उल्लेखके आधारपर दिया गया है।

प्रश्न—इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके पहले जैसे उपयोगरूप या क्षयोपशमरूप अचक्षुर्दर्शन माना जाता है, वैसे ही चक्षुर्दर्शन क्यों नहीं माना जाता?

उत्तर—चक्षुर्दर्शन, नेत्ररूप विशेष-इन्द्रिय-जन्य दर्शनको कहते हैं। ऐसा दर्शन उसी समय माना जाता है, जब कि द्रव्यनेत्र हो। अत एव चक्षुर्दर्शनको इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद ही माना है। अचक्षुर्दर्शन किसी-एक इन्द्रिय-जन्य सामान्य उपयोगको नहीं कहते; किन्तु नेत्र-भिन्न किसी द्रव्येन्द्रियसे होनेवाले, द्रव्यमनसे होनेवाले या द्रव्येन्द्रिय तथा द्रव्यमनके अभावमें क्षयोपशममात्रसे होनेवाले सामान्य उपयोगको कहते हैं। इसीसे अचक्षुर्दर्शनको इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके पहले और पीछे, दोनों अवस्थाओंमें माना है।



परिशिष्ट "ठ"।

पृष्ठ ७८, पङ्क्ति ११के 'अनाहारक' शब्दपर—

अनाहारक जीव दो प्रकारके होते हैं:—छद्मस्थ और वीतराग। वीतरागमें जो अशरीरी (मुक्त) हैं, वे सभी सदा अनाहारक ही हैं; परन्तु जो शरीर-धारी हैं, वे केवलिसमुद्घातके तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें ही अनाहारक होते हैं। छद्मस्थ जीव, अनाहारक तभी होते हैं, जब वे विग्रहगतिमें वर्तमान हों।

जन्मान्तर ग्रहण करनेकेलिये जीवको पूर्व-स्थान छोड़कर दूसरे स्थानमें जाना पड़ता है। दूसरा स्थान पहले स्थानसे विश्रेणि-पतित (वक्र-रेखा) में हो, तब उसे वक्र-गति करनी पड़ती है। वक्र-गतिके सम्बन्धमें इस जगह तीन बातोंपर विचार किया जाता है:—

(१) वक्र-गतिमें विग्रह (घुमाव) की संख्या, (२) वक्र-गतिका काल-परिमाण और (३) वक्र गतिमें अनाहारकत्वका काल-मान।

(१) कोई उत्पत्ति-स्थान ऐसा होता है कि जिसको जीव एक विग्रह करके ही प्राप्त कर लेता है। किसी स्थानकेलिये दो विग्रह करने पड़ते हैं और किसीकेलिये तीन भी। नवीन उत्पत्ति-स्थान, पूर्व-स्थानसे कितना ही विश्रेणि-पतित क्यों न हो, पर वह तीन विग्रहमें तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है।

इस विषयमें दिगम्बर-साहित्यमें विचार-भेद नजर नहीं आता; क्योंकि—

"विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः।"—तत्त्वार्थ-अ० २, सू० २८।

इस सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि-टीकामें श्रीपूज्यपादस्वामीने अधिकसे अधिक तीन विग्रहवाली गतिका ही उल्लेख किया है। तथा:—

"एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः।" —तत्त्वार्थ-अ० २, सूत्र ३०।

इस सूत्रके ६ठे राजवार्तिकमें भट्टारक श्रीअकलङ्कदेवने भी अधिकसे अधिक त्रि-विग्रह-गतिका ही समर्थन किया है। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी गोम्मटसार-जीवकाण्डकी ६६६वीं गाथामें उक्त मतका ही निर्देश करते हैं।

श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें इस विषयपर मतान्तर उल्लिखित पाया जाता है:—

"विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः।" —तत्त्वार्थ-अ० २, सूत्र २९।

"एकं द्वौ वाऽनाहारकः।" —तत्त्वार्थ-अ० २, सू० ३०।

श्वेताम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ-अ० २ के भाष्यमें भगवान् उमास्वातिने तथा उसकी टीकामें श्रीसिद्धसेनगणिने त्रि-विग्रहगतिका उल्लेख किया है। साथ ही उक्त भाष्यकी टीकामें चतुर्विग्रह गतिका मतान्तर भी दरसाया है। इस मतान्तरका उल्लेख बृहत्संग्रहणीकी ३२५वीं गाथामें और श्रीभगवती-शतक ७, उद्देश १की तथा शतक १४, उद्देश १की टीकामें भी है। किन्तु उस मतान्तरका जहाँ-कहीं उल्लेख है, वहाँ सब जगह यही लिखा है कि चतुर्विग्रहगतिका निर्देश किसी मूल सूत्रमें नहीं है। इससे जान पड़ता है कि ऐसी गति करनेवाले जीव ही बहुत कम हैं। उक्त सूत्रोंके भाष्यमें तो यह स्पष्ट लिखा है कि त्रि-विग्रहसे अधिक विग्रहवाली गतिका संभव ही नहीं है।

"अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा त्रिविग्रहा इत्येताश्चतुस्समयपराश्चतुर्विधा गतयो भवन्ति, परतो न सम्भवन्ति।"

भाष्यके इस कथनसे तथा दिगम्बर-ग्रन्थोंमें अधिकसे अधिक त्रि-विग्रहगतिका ही निर्देश पाये जानेसे और भगवती-टीका आदिमें जहाँ-कहीं चतुर्विग्रहगतिका मतान्तर है, वहाँ सब जगह उसकी अल्पता दिखायी जानेके कारण अधिकसे अधिक तीन विग्रहवाली गतिहीका पक्ष बहु मान्य समझना चाहिये।

(२) वक्र-गतिके काल-परिमाणके सम्बन्धमें यह नियम है कि वक्र-गतिका समय विग्रहकी अपेक्षा एक अधिक ही होता है। अर्थात् जिस गतिमें एक विग्रह हो, उसका काल-मान दो समयोंका, इस प्रकार द्वि विग्रहगतिका काल-मान तीन समयोंका और त्रि-विग्रहगतिका काल-मान चार समयोंका है। इस नियममें श्वेताम्बर-दिगम्बरका कोई मत-भेद नहीं। हाँ, ऊपर चतुर्विग्रह-गतिके मतान्तरका जो उल्लेख किया है, उसके अनुसार उस गतिका काल-मान पाँच समयोंका बतलाया गया है।

(३) विग्रहगतिमें अनाहारकत्वके काल-मानका विचार व्यवहार और निश्चय, दो दृष्टियोंसे किया हुआ पाया जाता है। व्यवहारवादियोंका अभिप्राय यह है कि पूर्व-शरीर छोड़नेका समय, जो वक्र-गतिका प्रथम समय है, उसमें पूर्व-शरीर-योग्य कुछ पुद्गल लोमाहारद्वारा ग्रहण किये जाते हैं।—बृहत्संग्रहणी गा० ३२६ तथा उसकी टीका; लोक० सर्ग ३, श्लो०, ११०७ से आगे। परन्तु निश्चयवादियोंका अभिप्राय यह है कि पूर्व-शरीर छूटनेके समयमें, अर्थात् वक्र-गतिके प्रथम समयमें न तो पूर्व-शरीरका ही सम्बन्ध है और न नया शरीर बना है; इसलिये उस समय किसी प्रकारके आहारका संभव नहीं।—लोक० स० ३, श्लो० १११५ से आगे। व्यवहारवादी हो या निश्चयवादी, दोनों इस बातको बराबर मानते हैं कि वक्र-गतिका अन्तिम समय, जिसमें जीव नवीन स्थानमें उत्पन्न होता है, उसमें अवश्य आहार ग्रहण होता है। व्यवहारनयके अनुसार अनाहारकत्वका काल-मान इस प्रकार समझना चाहिये:—

एक विग्रहवाली गति, जिसकी काल-मर्यादा दो समयकी है, उसके दोनों समयमें जीव आहारक ही होता है; क्योंकि पहले समयमें पूर्व-शरीर-योग्य लोमाहार ग्रहण किया जाता है और दूसरे समयमें नवीन शरीर-योग्य आहार। दो विग्रहवाली गति, जो तीन समयकी है और तीन विग्रहवाली गति, जो चार समयकी है, उसमें प्रथम तथा अन्तिम समयमें आहारकत्व होने-पर भी बीचके समयमें अनाहारक-अवस्था पायी जाती है। अर्थात् द्वि-विग्रहगतिके मध्यमें एक समय तक और त्रि-विग्रहगतिमें प्रथम तथा अन्तिम समयको छोड़, बीचके दो समय पर्यन्त अनाहारक स्थिति रहती है। व्यवहारनयका यह मत कि विग्रहकी अपेक्षा अनाहारकत्वका समय एक कम ही होता है, तत्त्वार्थ-अध्याय २ के ३१वें सूत्र में तथा उसके भाष्य और टीकामें निर्दिष्ट है। साथ ही टीकामें व्यवहारनयके अनुसार उपर्युक्त पाँच समय-परिमाण चतुर्विग्रहवती गतिके मतान्तरको लेकर तीन समयका अनाहारकत्व भी बतलाया गया है। सारांश, व्यवहार-नयकी अपेक्षासे तीन समयका अनाहारकत्व, चतुर्विग्रहवती गतिके मतान्तरसे ही घट सकता है, अन्यथा नहीं। निश्चयदृष्टिके अनुसार यह बात नहीं है। उसके अनुसार तो जितने विग्रह उतने ही समय अनाहारकत्वके होते हैं। अत एव उस दृष्टिके अनुसार एक विग्रहवाली वक्र-गतिमें एक समय, दो विग्रहवाली गतिमें दो समय और तीन विग्रहवाली गतिमें तीन समय अनाहारकत्वके समझने चाहिये। यह बात दिगम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थ-अ० २ के ३०वें सूत्र तथा उसकी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक-टीकामें है।

श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें चतुर्विग्रहवती गतिके मतान्तरका उल्लेख है, उसको लेकर निश्चयदृष्टिसे विचार किया जाय तो अनाहारकत्वके चार समय भी कहे जा सकते हैं।

सारांश, श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थ-भाष्य आदिमें एक या दो समयके अनाहारकत्वका जो उल्लेख है, वह व्यवहारदृष्टिसे और दिगम्बरीय तत्त्वार्थ आदि ग्रन्थोंमें जो एक, दो या तीन समयके अना-हारकत्वका उल्लेख है, वह निश्चयदृष्टिसे। अत एव अनाहारकत्वके काल-मानके विषयमें दोनों सम्प्रदायमें वास्तविक विरोधको अवकाश ही नहीं है।

प्रसङ्ग-वश यह बात जानने-योग्य है कि पूर्व-शरीरका परित्याग, पर-भवकी आयुका उदय और गति (चाहे ऋजु हो या वक्र), ये तीनों एक समयमें होते हैं। विग्रहगतिके दूसरे समयमें पर-भवकी आयुके उदयका कथन है, सो स्थूल व्यवहारनयकी अपेक्षासे—पूर्व-भवका अन्तिम समय, जिसमें जीव विग्रहगतिके अभिमुख हो जाता है, उसको उपचारसे विग्रहगतिका प्रथम समय मानकर—समझना चाहिये। —बृहत्संग्रहणी, गा० ३२५, मलयगिरि-टीका।

परिशिष्ट "ङ" ।

पृष्ठ ८५, पङ्क्ति ११के 'अवधिदर्शन' शब्दपर—

अवधिदर्शन और गुणस्थानका सम्बन्ध विचारनेके समय मुख्यनया दो बातें जाननेकी हैं, (१) पक्ष-भेद और (२) उनका तात्पर्य ।

(१)—पक्ष-भेद । प्रस्तुत विषयमें मुख्य दो पक्ष हैं:—(क) कार्मग्रन्थिक और (ख) सैद्धान्तिक ।

(क) कार्मग्रन्थिक-पक्ष भी दो हैं । इनमेंसे पहला पक्ष चौथे आदि नौ गुणस्थानोंमें अवधिदर्शन मानता है । यह पक्ष, प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थकी २९वीं गाथामें निर्दिष्ट है, जो पहले तीन गुणस्थानोंमें अज्ञान माननेवाले कार्मग्रन्थिकोंको मान्य है । दूसरा पक्ष, तीसरे आदि दस गुणस्थानोंमें अवधिदर्शन मानता है । यह पक्ष आगेकी ४८वीं गाथामें तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थकी ७० और ७१वीं गाथामें निर्दिष्ट है, जो पहले दो गुणस्थान तक अज्ञान माननेवाले कार्मग्रन्थिकोंको मान्य हैं । ये दोनों पक्ष, गोम्मटसार-जीवकाण्डकी ६९० और ७०४थी गाथामें हैं । इनमेंसे प्रथम पक्ष, तत्त्वार्थ-अ० १के ८वें सूत्रकी सर्वार्थसिद्धिमें भी है । वह यह है:—

"अवधिदर्शने असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकषायान्तानि ।"

(ख) सैद्धान्तिक-पक्ष बिल्कुल भिन्न है । वह पहले आदि बारह गुणस्थानोंमें अवधिदर्शन मानता है । जो भगवती-सूत्रसे मालूम होता है । इस पक्षको श्रीमलयगिरिसूरिने पञ्चसंग्रह-द्वार १ की ३१वीं गाथाकी टीकामें तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थकी २९वीं गाथाकी टीकामें स्पष्टतासे दिखाया है ।

"ओहिदंसणअणगारोवउत्ताणं भंते ! किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! णाणी वि अन्नाणी वि । जइ नाणी ते अत्थेगइआ तिण्णाणी, अत्थेगइआ चउणाणी । जे तिण्णाणी, ते आभिणिबोहियणाणी सुयणाणी ओहिणाणी । जे चउणाणी ते आभिणिबोहियणाणी सुयणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी । जे अण्णाणी ते णियमा मइअण्णाणी सुयअण्णाणी विभंगनाणी ।" —भगवती-शतक ८, उद्देश २ ।

(२)—उनका (उक्त पक्षोंका) तात्पर्यः—

(क) पहले तीन गुणस्थानोंमें अज्ञान माननेवाले और पहले दो गुणस्थानोंमें अज्ञान

माननेवाले, दोनों प्रकारके कार्मग्रन्थिक विद्वान् अवधिज्ञानसे अवधिदर्शनको अलग मानते हैं, पर विभङ्गज्ञानसे नहीं। वे कहते हैं कि—

विशेष अवधि-उपयोगसे सामान्य अवधि-उपयोग भिन्न है; इसलिये जिस प्रकार अवधि-उपयोगवाले सम्यक्त्वीमें अवधिज्ञान और अवधिदर्शन, दोनों अलग-अलग हैं, इसी प्रकार अवधि-उपयोगवाले अज्ञानीमें भी विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, ये दोनों वस्तुतः भिन्न हैं सही, तथापि विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, इन दोनोंके पारस्परिक भेदकी अविवक्षामात्र है। भेद विवक्षित न रखनेका सबब दोनोंका सादृश्यमात्र है। अर्थात् जैसे विभङ्गज्ञान विषयका यथार्थ निश्चय नहीं कर सकता, वैसे ही अवधिदर्शन सामान्यरूप होनेके कारण विषयका निश्चय नहीं कर सकता।

इस अभेद-विवक्षाके कारण पहले मतके अनुसार चौथे आदि नौ गुणस्थानोंमें और दूसरे मतके अनुसार तीसरे आदि दस गुणस्थानोंमें अवधिदर्शन समझना चाहिये।

(ख) सैद्धान्तिक विद्वान् विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, दोनोंके भेदकी विवक्षा करते हैं, अभेदकी नहीं। इसी कारण वे विभङ्गज्ञानीमें अवधिदर्शन मानते हैं। उनके मतमे केवल पहले गुणस्थानमें विभङ्गज्ञानका संभव है, दूसरे आदिमें नहीं। इसलिये वे दूसरे आदि ग्यारह गुण-स्थानोंमें अवधिज्ञानके साथ और पहले गुणस्थानमें विभङ्गज्ञानके साथ अवधिदर्शनका साहचर्य मानकर पहले बारह गुणस्थानोंमें अवधिदर्शन मानते हैं। अवधिज्ञानीके और विभङ्गज्ञानीके दर्शनमें निराकारता-अंश समान ही है। इसलिये विभङ्गज्ञानीके दर्शनकी 'विभङ्गदर्शन' ऐसी अलग संज्ञा न रखकर 'अवधिदर्शन' ही संज्ञा रक्खी है।

सारांश, कार्मग्रन्थिक-पक्ष, विभङ्गज्ञान और अवधिदर्शन, इन दोनोंके भेदकी विवक्षा नहीं करता और सैद्धान्तिक-पक्ष करता है। —लोकप्रकाश सर्ग ३, श्लोक १०५७ से आगे।

इस मत-भेदका उल्लेख विशेषणवती ग्रन्थमें श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने किया है, जिस-की सूचना प्रज्ञापना-पद १८, वृत्ति पृ० (कलकत्ता) ५६६ पर है।

परिशिष्ट "ढ"।

पृष्ठ ८६, पङ्क्ति २०के 'आहारक' शब्दपर—

[केवलज्ञानीके आहारपर विचार।]

तेरहवें गुणस्थानके समय आहारकत्वका अङ्गीकार यहाँके समान दिगम्बरीय ग्रन्थोंमें है।
—तत्त्वार्थ-अ० १, सू० ८की सर्वार्थसिद्धि।

"आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगकेवल्यन्तानि"

इसी तरह गोम्मटसार-जीवकाण्डकी ६६५ और ६६७ वीं गाथा भी इसकेलिये देखने योग्य है।

उक्त गुणस्थानमें असातवेदनीयका उदय भी दोनों सम्प्रदायके ग्रन्थों (दूसरा कर्मग्रन्थ, गा० २२; कर्मकाण्ड, गा० २७१)में माना हुआ है। इसी तरह उस समय आहारसंज्ञा न होने-पर भी कार्मणशरीरनामकर्मके उदयसे कर्मपुद्गलोंकी तरह औदारिकशरीरनामकर्मके उदयसे औदारिक-पुद्गलोंका ग्रहण दिगम्बरीय ग्रन्थ (लब्धिसार गा० ६१४)में भी स्वीकृत है। आहार-कत्वकी व्याख्या गोम्मटसारमें इतनी अधिक स्पष्ट है कि जिससे केवलीकेद्वारा औदारिक, भाषा और मनोवर्गणाके पुद्गल ग्रहण किये जानेके सम्बन्धमें कुछ भी सन्देह नहीं रहता (जीव० गा० ६६३—६६४)। औदारिक पुद्गलोंका निरन्तर ग्रहण भी एक प्रकारका आहार है, जो 'लोमाहार' कहलाता है। इस आहारके लिये जानेतक शरीरका निर्वाह और इसके अभावमें शरीरका अनि-र्वाह अर्थात् योग-प्रवृत्ति पर्यन्त औदारिक पुद्गलोंका ग्रहण अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध है। इस तरह केवलज्ञानीमें आहारकत्व, उसका कारण असातवेदनीयका उदय और औदारिक पुद्गलोंका ग्रहण, दोनों सम्प्रदायको समानरूपसे मान्य है। दोनों सम्प्रदायकी यह विचार-समता इतनी अधिक है कि इसके सामने कवलाहारका प्रश्न विचारशीलोंकी दृष्टिमें आप ही आप हल हो जाता है।

केवलज्ञानी कवलाहारको ग्रहण नहीं करते, ऐसा माननेवाले भी उनकेद्वारा अन्य सूक्ष्म औदारिक पुद्गलोंका ग्रहण किया जाना निर्विवाद मानते ही हैं। जिनके मतमें केवलज्ञानी कव-लाहार ग्रहण करते हैं; उनके मतसे वह स्थूल औदारिक पुद्गलके सिवाय और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार कवलाहार माननेवाले-न माननेवाले उभयके मतमें केवलज्ञानीकेद्वारा किसी-न-किसी प्रकारके औदारिक पुद्गलोंका ग्रहण किया जाना समान है। ऐसी दशामें कवलाहारके प्रश्नको विरोधका साधन बनाना अर्थ-हीन है।

परिशिष्ट "त"।

पृष्ठ ६६, पङ्क्ति २० के 'दृष्टिवाद' शब्दपर—

[स्त्रीको दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अङ्ग पढ़नेका निषेध है, इसपर विचार।]

[समानताः—] व्यवहार और शास्त्र, ये दोनों, शारीरिक और आध्यात्मिक-विकासमें स्त्रीको पुरुषके समान सिद्ध करते हैं। कुमारी ताराबाईका शारीरिक-बलमें प्रो० राममूर्तिसे कम न होना, विदुषी ऐनी बीसेन्टका विचार व वक्तृत्व-शक्तिमें अन्य किसी विचारक वक्ता-पुरुषसे कम न होना एवं विदुषी सरोजिनी नाइडूका कवित्व-शक्तिमें किसी प्रसिद्ध पुरुष-कविसे कम न होना, इस बातका प्रमाण है कि समान साधन और अवसर मिलनेपर स्त्री भी पुरुष-जितनी योग्यता प्राप्त कर सकती हैं। श्वेताम्बर-आचार्योंने स्त्रीको पुरुषके बराबर योग्य मानकर उसे कैवल्य व मोक्षकी अर्थात् शारीरिक और आध्यात्मिक पूर्ण विकासकी अधिकारिणी सिद्ध किया है। इसकेलिये देखिये, प्रज्ञापना-सूत्र० ७, पृ० १८; नन्दी-सू० २१, पृ० १३०।१।

इस विषयमें मत-भेद रखनेवाले दिगम्बर-आचार्योंके विषयमें उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है। इसकेलिये देखिये, नन्दी-टीका, पृ० १३१।१–१३३।१; प्रज्ञापना-टीका, २०–२२।१; पृ० शास्त्रवार्तासमुच्चय-टीका, पृ० ४२५—४३०।

आलङ्कारिक पण्डित राजशेखरने मध्यस्थभावपूर्वक स्त्रीजातिको पुरुषजातिके तुल्य बतलाया है:—

"पुरुषवत् योषितोऽपि कवीभवेयुः। संस्कारो ह्यात्मनि समवैति, न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्यदुहितरो गणिकाः कौतुकिभार्याश्च शास्त्रप्रतिबुद्धाः कवयश्च।"

—काव्यमीमांसा-अध्याय १०।

[विरोधः—] स्त्रीको दृष्टिवादके अध्ययनका जो निषेध किया है, इसमें दो तरहसे विरोध आता है:—(१) तर्क-दृष्टिसे और (२) शास्त्रोक्त मर्यादासे।

(१)—एक ओर स्त्रीको केवलज्ञान व मोक्ष तककी अधिकारिणी मानना और दूसरी ओर उसे दृष्टिवादके अध्ययनकेलिये—श्रुतज्ञान-विशेषकेलिये—अयोग्य बतलाना, ऐसा विरुद्ध जान पड़ता है, जैसे किसीको रत्न सौंपकर कहना कि तुम कौड़ीकी रक्षा नहीं कर सकते।

(२)—दृष्टिवादके अध्ययनका निषेध करनेसे शास्त्र-कथित कार्य-कारण-भावकी मर्यादा भी बाधित हो जाती है। जैसेः—शुक्लध्यानके पहले दो पाद प्राप्त किये बिना केवलज्ञान प्राप्त नहीं

होता; 'पूर्व'के ज्ञानके विना शुक्लध्यानके प्रथम दो पाद प्राप्त नहीं होते और 'पूर्व', दृष्टिवादका एक हिस्सा है। यह मर्यादा शास्त्रमें निर्विवाद स्वीकृत है।

"शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः।" —तत्त्वार्थ-अ० ६, सू० ३६।

इस कारण दृष्टिवादके अध्ययनकी अनधिकारिणी स्त्रीको केवलज्ञानकी अधिकारिणी मान लेना स्पष्ट विरुद्ध जान पड़ता है।

दृष्टिवादके अनधिकारके कारणोंके विषयमें दो पक्ष हैं:—

(क) पहला पक्ष, श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदिका है। इस पक्षमें स्त्रीमें तुच्छत्व, अभिमान, इन्द्रिय-चाञ्चल्य, मति-मान्द्य आदि मानसिक दोष दिखाकर उसको दृष्टिवादके अध्ययनका निषेध किया है। इसकेलिये देखिये, विशे० भा०, ५५२वीं गाथा।

(ख) दूसरा पक्ष, श्रीहरिभद्रसूरि आदिका है। इस पक्षमें अशुद्धिरूप शारीरिक-दोष दिखाकर उसका निषेध किया है। यथा:—

"कथं द्वादशाङ्गप्रतिषेधः? तथाविधविग्रहे ततो दोषात्।"

ललितविस्तरा, पृ०, १११/१।

[नयदृष्टिसे विरोधका परिहार:—] दृष्टिवादके अनधिकारसे स्त्रीको केवलज्ञानके पानेमें जो कार्य-कारण-भावका विरोध दीखता है, वह वस्तुतः विरोध नहीं है; क्योंकि शास्त्र, स्त्रीमें दृष्टिवादके अर्थ-ज्ञानकी योग्यता मानता है; निषेध सिर्फ शाब्दिक-अध्ययनका है।

"श्रेणिपरिणतौ तु कालगर्भवद्भावतो भावोऽविरुद्ध एव।"

—ललितविस्तरा तथा इसकी श्रीमुनिभद्रसूरि-कृत पञ्जिका, पृ० १११।

तप, भावना आदिसे जब ज्ञानावरणीयका क्षयोपशम तीव्र हो जाता है, तब स्त्री शाब्दिक-अध्ययनके सिवाय ही दृष्टिवादका सम्पूर्ण अर्थ-ज्ञान कर लेती है और शुक्लध्यानके दो पाद पाकर केवलज्ञानको भी पा लेती है—

"यदि च 'शास्त्रयोगागम्यसामर्थ्ययोगावसेयभावेष्वतिसूक्ष्मेष्वपि तेषांविशिष्टक्षयोपशमप्रभवप्रभावयोगात् पूर्वधरस्येव बोधातिरेकसद्भावादाद्यशुक्लध्यानद्वयप्राप्तेः केवलावाप्तिक्रमेण मुक्तिप्राप्तिरिति न दोषः, अध्ययनमन्तरेणापि भावतः पूर्ववित्त्वसंभवात्, इति विभाव्यते, तदा निर्ग्रन्थीनामप्येवं द्वितयसंभवे दोषाभावात्।" —शास्त्रवार्ता०, पृ० ४२६।

यह नियम नहीं है कि गुरु-मुखसे शाब्दिक-अध्ययन विना किये अर्थ-ज्ञान न हो। अनेक लोग ऐसे देखे जाते हैं, जो किसीसे विना पढ़े ही मनन-चिन्तन-द्वारा अपने अभीष्ट विषयका गहरा ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

अब रहा शाब्दिक-अध्ययनका निषेध, सो इसपर अनेक तर्क-वितर्क उत्पन्न होते हैं। यथा—जिसमें अर्थ-ज्ञानकी योग्यता मान ली जाय, उसको सिर्फ शाब्दिक-अध्ययनकेलिये अयोग्य बतलाना क्या संगत है? शब्द, अर्थ-ज्ञानका साधनमात्र है। तप, भावना आदि अन्य साधनोंसे जो अर्थ-ज्ञान संपादन कर सकता है, वह उस ज्ञानको शब्दद्वारा संपादन करनेकेलिये अयोग्य है, यह कहना कहाँतक संगत है? शाब्दिक-अध्ययनके निषेधकेलिये तुच्छत्व, अभिमान आदि जो मानसिक-दोष दिखाये जाते हैं, वे क्या पुरुषजातिमें नहीं होते? यदि विशिष्ट पुरुषोंमें उक्त दोषोंका अभाव होनेके कारण पुरुष-सामान्यकेलिये शाब्दिक-अध्ययनका निषेध नहीं किया है तो क्या पुरुष-तुल्य विशिष्ट स्त्रियोंका संभव नहीं है? यदि असंभव होता तो स्त्री-मोक्षका वर्णन क्यों किया जाता? शाब्दिक-अध्ययनकेलिये जो शारीरिक-दोषोंकी संभावना की गयी है, वह भी क्या सब स्त्रियोंको लागू पड़ती है? यदि कुछ स्त्रियोंको लागू पड़ती है तो क्या कुछ पुरुषोंमें भी शारीरिक-अशुद्धिकी संभावना नहीं है? ऐसी दशामें पुरुषजातिको छोड़ स्त्री-जातिकेलिये शाब्दिक-अध्ययनका निषेध किस अभिप्रायसे किया है? इन तर्कोंके सम्बन्धमें संक्षेपमें इतना ही कहना है कि मानसिक या शारीरिक-दोष दिखाकर शाब्दिक-अध्ययनका जो निषेध किया गया है, वह प्रायिक जान पड़ता है, अर्थात् विशिष्ट स्त्रियोंकेलिये अध्ययनका निषेध नहीं है। इसके समर्थनमें यह कहा जा सकता है कि जब विशिष्ट स्त्रियाँ, दृष्टिवादका अर्थ-ज्ञान, वीतरागभाव, केवलज्ञान और मोक्ष तक पानेमें समर्थ हो सकती हैं, तो फिर उनमें मानसिक-दोषोंकी संभावना ही क्या है? तथा वृद्ध, अप्रमत्त और परमपवित्र आचारवाली स्त्रियोंमें शारीरिक-अशुद्धि कैसे बतलायी जा सकती है? जिनको दृष्टिवादके अध्ययनकेलिये योग्य समझा जाता है, वे पुरुष भी, जैसे:—स्थूलभद्र, दुर्बलिका पुष्यमित्र आदि, तुच्छत्व, स्मृति-दोष आदि कारणोंसे दृष्टिवादकी रक्षा न कर सके।

"तेण चिंतियं भगिणीणं इड्ढिं दरिसेमित्ति सीहरूवं विउव्वइ।"

—आवश्यकवृत्ति, पृ० ६९८।१।

"ततो आयरिएहिं दुब्बलियपुस्समित्तो तस्स वायणायरिओ दिण्णो, ततो सो कइवि दिवसे वायणं दाऊण आयरियमुवट्ठितो भणइ-मम वायणं देंतस्स नासति, जं च सण्णायघरे नाणुप्पेहियं, अतो मम अज्झरंतस्स नवमं पुव्वं नासिहिति, ताहे आयरिया चिंतेति-जइ ताव एयस्स परममेहाविस्स एवं झरंतस्स नासइ अन्नस्स चिरनट्ठं चेव।"

—आवश्यकवृत्ति, पृ० ३०८।

ऐसी वस्तु-स्थिति होनेपर भी स्त्रियोंको ही अध्ययनका निषेध क्यों किया गया? इस प्रश्नका उत्तर दो तरहसे दिया जा सकता है:—(१) समान सामग्री मिलनेपर भी पुरुषोंके मुकाबिलेमें स्त्रियोंका कम संख्यामें योग्य होना और (२) ऐतिहासिक-परिस्थिति।

(१)—जिन पश्चिमीय देशोंमें स्त्रियोंको पढ़ने आदिकी सामग्री पुरुषोंके समान प्राप्त होती है, वहाँका इतिहास देखनेसे यही जान पड़ता है कि स्त्रियाँ पुरुषोंके तुल्य हो सकती हैं सही, पर योग्य व्यक्तियोंकी संख्या, स्त्रीजातिकी अपेक्षा पुरुषजातिमें अधिक पायी जाती है।

(२)—कुन्दकुन्द-आचार्य सरीखे प्रतिपादक दिगम्बर-आचार्योंने स्त्रीजातिको शारीरिक और मानसिक-दोषके कारण दीक्षा तककेलिये अयोग्य ठहराया।

"लिंगम्मि य इत्थीणं, थणंतरे णाहिकक्खदेसम्मि।
भणिओ सुहमो काओ, तासं कह होइ पव्वज्जा॥"

—षट्पाहुड-सूत्रपाहुड गा० २४–२५।

और वैदिक विद्वानोंने शारीरिक-शुद्धिको अग्र-स्थान देकर स्त्री और शूद्र-जातिको सामान्यतः वेदाध्ययनकेलिये अनधिकारी बतलायाः—

"स्त्रीशूद्रौ नाधीयातां"

इन विपक्षी सम्प्रदायोंका इतना असर पड़ा कि उससे प्रभावित होकर पुरुषजातिके समान स्त्रीजातिकी योग्यता मानते हुए भी श्वेताम्बर-आचार्य उसे विशेष-अध्ययनकेलिये अयोग्य बतलाने लगे होंगे।

ग्यारह अङ्ग आदि पढ़नेका अधिकार मानते हुए भी सिर्फ बारहवें अङ्गके निषेधका सबब यह भी जान पड़ता है कि दृष्टिवादका व्यवहारमें महत्त्व बना रहे। उस समय विशेषतया शारीरिक-शुद्धिपूर्वक पढ़नेमें वेद आदि ग्रन्थोंकी महत्ता समझी जाती थी। दृष्टिवाद, सब अङ्गोंमें प्रधान था, इसलिये व्यवहारदृष्टिसे उसकी महत्ता रखनेकेलिये अन्य बड़े पड़ोसी समाजका अनुकरण कर लेना स्वाभाविक है। इस कारण पारमार्थिक-दृष्टिसे स्त्रीको संपूर्णतया योग्य मानते हुए भी आचार्योंने व्यावहारिकदृष्टिसे शारीरिक-अशुद्धिका खयालकर उसको, शाब्दिक-अध्ययनमात्रकेलिये अयोग्य बतलाया होगा।

भगवान् गौतमबुद्धने स्त्रीजातिको भिक्षुपदकेलिये अयोग्य निर्द्धारित किया था परन्तु भगवान् महावीरने तो प्रथमसे ही उसको पुरुषके समान भिक्षुपदकी अधिकारिणी निश्चित किया था। इसीसे जैनशासनमें चतुर्विध सङ्घ प्रथमसे ही स्थापित है और साधु तथा श्रावकोंकी अपेक्षा साध्वियों तथा श्राविकाओंकी संख्या आरम्भसे ही अधिक रही है परन्तु अपने प्रधान शिष्य "आनन्द" के आग्रहसे बुद्ध भगवान्ने जब स्त्रियोंको भिक्षु पद दिया, तब उनकी संख्या

धीरे-धीरे बहुत बढ़ी और कुछ शताब्दियोंके बाद अशिक्षा, कुप्रबन्ध आदि कई कारणोंसे उनमें बहुत-कुछ आचार-भ्रंश हुआ, जिससे कि बौद्ध-सङ्घ एक तरहसे दूषित समझा जाने लगा। सम्भव है, इस परिस्थितिका जैन-सम्प्रदायपर भी कुछ असर पड़ा हो, जिससे दिगम्बर-आचार्योंने तो स्त्रीको भिक्षुपदके लिये ही अयोग्य करार दिया हो और श्वेताम्बर-आचार्योंने ऐसा न करके स्त्रीजातिका उच्च अधिकार कायम रखते हुए भी दुर्बलता, इन्द्रिय-चपलता आदि दोषोंको उस जातिमें विशेषरूपसे दिखाया हो; क्योंकि सहचर-समाजोंके व्यवहारोंका एक दूसरेपर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है।



परिशिष्ट "थ"।

पृष्ठ १०१, पङ्क्ति १२के 'भावार्थ' पर—

इस जगह चक्षुर्दर्शनमें तेरह योग माने गये हैं, पर श्रीमलयगिरिजीने उसमें ग्यारह योग बतलाये हैं। कार्मण, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र, ये चार योग छोड़ दिये हैं।
—पञ्च० द्वा० १ की १२वीं गाथाकी टीका।

ग्यारह माननेका तात्पर्य यह है कि जैसे अपर्याप्त-अवस्थामें चक्षुर्दर्शन न होनेसे उसमें कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो अपर्याप्त-अवस्था-भावी योग नहीं होते, वैसे ही वैक्रियमिश्र या आहारकमिश्र-काययोग रहता है, तब तक अर्थात् वैक्रियशरीर या आहारकशरीर अपूर्ण हो तब तक चक्षुर्दर्शन नहीं होता, इसलिये उसमें वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र-योग भी न मानने चाहिये।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि अपर्याप्त-अवस्थामें इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन जानेके बाद १७वीं गाथामें उल्लिखित मतान्तरके अनुसार यदि चक्षुर्दर्शन मान लिया जाय तो उसमें औदारिकमिश्रकाययोग, जो कि अपर्याप्त-अवस्था-भावी है, उसका अभाव कैसे माना जा सकता है?

इस शङ्काका समाधान यह किया जा सकता है कि पञ्चसंग्रहमें एक ऐसा मतान्तर है, जो कि अपर्याप्त-अवस्थामें शरीरपर्याप्ति पूर्ण न बन जाय तब तक मिश्रयोग मानता है, बन जानेके बाद नहीं मानता। –पञ्च० द्वा० १की ७वीं गाथाकी टीका। इस मतके अनुसार अपर्याप्त-अवस्थामें जब चक्षुर्दर्शन होता है तब मिश्रयोग न होनेके कारण चक्षुर्दर्शनमें औदारिकमिश्रकाययोगका वर्जन विरुद्ध नहीं है।

इस जगह मनःपर्यायज्ञानमें तेरह योग माने हुए हैं, जिनमें आहारक-द्विकका समावेश है। पर गोम्मटसार-कर्मकाण्ड यह नहीं मानता; क्योंकि उसमें लिखा है कि परिहारविशुद्धचारित्र और मनःपर्यायज्ञानके समय आहारकशरीर तथा आहारक-अङ्गोपाङ्गनामकर्मका उदय नहीं होता—कर्मकाण्ड गा० ३२४। जब तक आहारक-द्विकका उदय न हो, तब तक आहारक-शरीर रचा नहीं जा सकता और उसकी रचनाके सिवाय आहारकमिश्र और आहारक, ये दो योग असम्भव हैं। इससे सिद्ध है कि गोम्मटसार, मनःपर्यायज्ञानमें दो आहारकयोग नहीं मानता। इसी बातकी पुष्टि जीवकाण्डकी ७२८ वीं गाथासे भी होती है। उसका मतलब इतना-ही है कि मनःपर्यायज्ञान, परिहारविशुद्धसंयम, प्रथमोपशमसम्यक्त्व और आहारक-द्विक, इन भावोंमेंसे किसी एकके प्राप्त होनेपर शेष भाव प्राप्त नहीं होते।

परिशिष्ट "द"।

पृष्ठ १०४, पङ्क्ति ६के 'केवलिसमुद्धात' शब्दपर—

[केवलिसमुद्धातके सम्बन्धकी कुछ बातोंका विचारः—]

(क) पूर्वभावी क्रिया—केवलिसमुद्धात रचनेके पहले एक विशेष क्रिया की जाती है, जो शुभयोगरूप है, जिसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण है और जिसका कार्य उदयावलिकामें कर्म-दलिकोंका निक्षेप करना है। इस क्रिया-विशेषको 'आयोजिकाकरण' कहते हैं। मोक्षकी ओर आवर्जित (झुके हुए) आत्माकेद्वारा किये जानेके कारण इसको 'आवर्जितकरण' कहते हैं। और सब केवलज्ञानियोंके द्वारा अवश्य किये जानेके कारण इसको 'आवश्यककरण' भी कहते हैं। श्वेताम्बर-साहित्यमें आयोजिकाकरण आदि तीनों संज्ञायें प्रसिद्ध हैं। -विशे० आ०, गा० ३०५०-५१; तथा पञ्च० द्वा० १, गा० १६की टीका।

दिगम्बर-साहित्यमें सिर्फ 'आवर्जितकरण' संज्ञा प्रसिद्ध है। लक्षण भी उसमें स्पष्ट है—

"हेट्ठा दंडस्संतो,-मुहुत्तमावज्जिदं हवे करणं।
तं च समुग्घादस्स य, अहिमुहभावो जिणिंदस्स ॥"

—लब्धिसार, गा० ६१७।

(ख) केवलिसमुद्धातका प्रयोजन और विधान-समयः—

जब वेदनीय आदि अघातिकर्मकी स्थिति तथा दलिक, आयुकर्मकी स्थिति तथा दलिकसे अधिक हों तब उनको आपसमें बराबर करनेकेलिये केवलिसमुद्धात करना पड़ता है। इसका विधान, अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण आयु बाकी रहनेके समय होता है।

(ग) स्वामी—केवलज्ञानी ही केवलिसमुद्धातको रचते हैं।

(घ) काल-मान—केवलिसमुद्धातका काल-मान आठ समयका है।

(ङ) प्रक्रिया—प्रथम समयमें आत्माके प्रदेशोंको शरीरसे बाहर निकालकर फैला दिया जाता है। उस समय उनका आकार, दण्ड जैसा बनता है। आत्मप्रदेशोंका यह दण्ड, ऊँचाईमें लोकके ऊपरसे नीचे तक, अर्थात् चौदह रज्जु परिमाण होता है, परन्तु उसकी मोटाई सिर्फ शरीरके बराबर होती है। दूसरे समयमें उक्त दण्डको पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण फैलाकर उसका आकार, कपाट (किवाड़) जैसा बनाया जाता है। तीसरे समयमें कपाटाकार आत्म-प्रदेशोंको मन्थाकार बनाया जाता है, अर्थात् पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, दोनों तरफ फैलानेसे उनका आकार रई (मथनी) का सा बन जाता है। चौथे समयमें विदिशाओंके खाली भागोंको आत्म-प्रदेशोंसे पूर्ण करके उनसे सम्पूर्ण लोकको व्याप्त किया जाता है। पाँचवें समयमें आत्माके लोक-व्यापी प्रदेशों-

को संहरण-क्रियाद्वारा फिर मन्थाकार बनाया जाता है। छठे समयमें मन्थाकारसे कपाटाकार बना लिया जाता है। सातवें समयमें आत्म-प्रदेश फिर दण्डरूप बनाये जाते हैं और आठवें समयमें उनको असली स्थितिमें—शरीरस्थ—किया जाता है।

(च) जैन-दृष्टिके अनुसार आत्म-व्यापकताकी सङ्गतिः—उपनिषद्, भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंमें आत्माकी व्यापकताका वर्णन किया है।

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बहुरुत विश्वतस्स्यात्।"

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३—३, ११—१५

"सर्वतः पाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति॥"—भगवद्गीता, १३, १३।

जैन-दृष्टिके अनुसार यह वर्णन अर्थवाद है, अर्थात् आत्माकी महत्ता व प्रशंसाका सूचक है। इस अर्थवादका आधार केवलिसमुद्धातके चौथे समयमें आत्माका लोक-व्यापी बनना है। यही बात उपाध्याय श्रीयशोविजयजीने शास्त्रवार्त्तासमुच्चयके ३३८वें पृष्ठपर निर्दिष्ट की है।

जैसे वेदनीय आदि कर्मोंको शीघ्र भोगनेकेलिये समुद्धात-क्रिया मानी जाती है, वैसे ही पातञ्जल-योगदर्शनमें 'बहुकायनिर्माणक्रिया' मानी है, जिसको तत्त्वसाक्षात्कर्ता योगी, सोपक्रम-कर्म शीघ्र भोगनेकेलिये करता है। —पाद ३, सू० २२का भाष्य तथा वृत्ति; पाद ४, सूत्र ४का भाष्य तथा वृत्ति।

परिशिष्ट "घ"।

पृष्ठ ११७, पङ्क्ति १८के 'काल' शब्दपर—

'काल'के सम्बन्धमें जैन और वैदिक, दोनों दर्शनोंमें करीब ढाई हजार वर्ष पहलेसे दो पक्ष चले आते हैं। श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें दोनों पक्ष वर्णित हैं। दिगम्बर-ग्रन्थोंमें एक ही पक्ष नजर आता है।

(१) पहला पक्ष, कालको स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता। वह मानता है कि जीव और अजीव-द्रव्यका पर्याय-प्रवाह ही 'काल' है। इस पक्षके अनुसार जीवाजीव-द्रव्यका पर्याय-परिणमन ही उपचारसे काल माना जाता है। इसलिये वस्तुतः जीव और अजीवको ही काल-द्रव्य समझना चाहिये। वह उनसे अलग तत्त्व नहीं है। यह पक्ष 'जीवाभिगम' आदि आगमोंमें है।

(२) दूसरा पक्ष कालको स्वतन्त्र द्रव्य मानता है। वह कहता है कि जैसे जीव-पुद्गल आदि स्वतन्त्र द्रव्य हैं; वैसे ही काल भी। इसलिये इस पक्षके अनुसार कालको जीवादिके पर्याय-प्रवाहरूप न समझकर जीवादिसे भिन्न तत्त्व ही समझना चाहिये। यह पक्ष 'भगवती' आदि आगमोंमें है।

आगमके बादके ग्रन्थोंमें, जैसेः—तत्त्वार्थसूत्रमें वाचक उमास्वातिने, द्वात्रिंशिकामें श्रीसिद्धसेन दिवाकरने, विशेषावश्यक-भाष्यमें श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने, धर्मसंग्रहणीमें श्रीहरिभद्रसूरिने, योगशास्त्रमें श्रीहेमचन्द्रसूरिने, द्रव्य-गुण-पर्यायके रासमें श्रीउपाध्याय यशोविजयजीने, लोकप्रकाशमें श्रीविनयविजयजीने और नयचक्रसार तथा आगमसारमें श्रीदेवचन्द्रजीने आगम-गत उक्त दोनों पक्षोंका उल्लेख किया है। दिगम्बर-संप्रदायमें सिर्फ दूसरे पक्षका स्वीकार है, जो सबसे पहिले श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोंमें मिलता है। इसके बाद पूज्यपादस्वामी, भट्टारक श्रीअकलङ्कदेव, विद्यानन्दस्वामी, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और बनारसीदास आदिने भी उस एक ही पक्षका उल्लेख किया है।

पहले पक्षका तात्पर्यः—पहला पक्ष कहता है कि समय, आवलिका, मुहूर्त्त, दिन-रात आदि जो व्यवहार, काल-साध्य बतलाये जाते हैं या नवीनता-पुराणता, ज्येष्ठता-कनिष्ठता आदि जो अवस्थाएँ, काल-साध्य बतलायी जाती हैं, वे सब क्रिया-विशेष (पर्याय-विशेष) के ही संकेत हैं। जैसेः—जीव या अजीवका जो पर्याय, अविभाज्य है, अर्थात् बुद्धिसे भी जिसका दूसरा हिस्सा नहीं हो सकता, उस आखिरी अतिसूक्ष्म पर्यायको 'समय' कहते हैं। ऐसे असंख्यात पर्यायोंके पुञ्जको 'आवलिका' कहते हैं। अनेक आवलिकाओंको 'मुहूर्त्त' और तीस मुहूर्त्तको 'दिन-रात'

कहते हैं। दो पर्यायोंमेंसे जो पहले हुआ हो, वह 'पुराण' और जो पीछेसे हुआ हो, वह 'नवीन' कहलाता है। दो जीवधारियोंमेंसे जो पीछेसे जनमा हो, वह 'कनिष्ठ' और जो पहिले जनमा हो, वह 'ज्येष्ठ' कहलाता है। इस प्रकार विचार करनेसे यही जान पड़ता है कि समय, आवलिका आदि सब व्यवहार और नवीनता आदि सब अवस्थाएँ, विशेष-विशेष प्रकारके पर्यायोंके ही अर्थात् निर्विभाग पर्याय और उनके छोटे-बड़े बुद्धि-कल्पित समूहोंके ही संकेत हैं। पर्याय, यह जीव-अजीवकी क्रिया है, जो किसी तत्त्वान्तरकी प्रेरणाके सिवाय ही हुआ करती है। अर्थात् जीव-अजीव दोनों अपने-अपने पर्यायरूपमें आप ही परिणत हुआ करते हैं। इसलिये वस्तुतः जीव-अजीवके पर्याय-पुञ्जको ही काल कहना चाहिये। काल कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है।

दूसरे पक्षका तात्पर्य—जिस प्रकार जीव-पुद्गलमें गति-स्थिति करनेका स्वभाव होनेपर भी उस कार्यकेलिये निमित्तकारणरूपसे 'धर्म-अस्तिकाय' और 'अधर्म-अस्तिकाय' तत्त्व माने जाते हैं। इसी प्रकार जीव अजीवमें पर्याय-परिणमनका स्वभाव होनेपर भी उसकेलिये निमित्त-कारणरूपसे काल-द्रव्य मानना चाहिये। यदि निमित्तकारणरूपसे काल न माना जाय तो धर्म-अस्तिकाय और अधर्म-अस्तिकाय माननेमें कोई युक्ति नहीं।

दूसरे पक्षमें मत-भेदः—कालको स्वतन्त्र द्रव्य माननेवालोंमें भी उसके स्वरूपके सम्बन्धमें दो मत हैं।

(१) कालद्रव्य, मनुष्य-क्षेत्रमात्रमें—ज्योतिष-चक्रके गति-क्षेत्रमें—वर्तमान है। वह मनुष्य-क्षेत्र-प्रमाण होकर भी संपूर्ण लोकके परिवर्तनोंका निमित्त बनता है। काल, अपना कार्य, ज्योतिष्-चक्रकी गतिकी मददसे करता है। इसलिये मनुष्य-क्षेत्रसे बाहर कालद्रव्य न मानकर उसे मनुष्य-क्षेत्र-प्रमाण ही मानना युक्त है। यह मत धर्मसंग्रहणी आदि श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें है।

(२) कालद्रव्य, मनुष्य-क्षेत्रमात्र-वर्ती नहीं है; किन्तु लोक-व्यापी है। वह लोक-व्यापी होकर भी धर्म-अस्तिकायकी तरह स्कन्ध नहीं है; किन्तु अणुरूप है। इसके अणुओंकी संख्या लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर है। वे अणु, गति-हीन होनेसे जहाँके तहाँ अर्थात् लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर स्थित रहते हैं। इनका कोई स्कन्ध नहीं बनता। इस कारण इनमें तिर्यक्-प्रचय (स्कन्ध) होनेकी शक्ति नहीं है। इसी सबबसे कालद्रव्यको अस्तिकायमें नहीं गिना है। तिर्यक्-प्रचय न होनेपर भी ऊर्ध्व-प्रचय है। इससे प्रत्येक काल-अणुमें लगातार पर्याय हुआ करते हैं। ये ही पर्याय, 'समय' कहलाते हैं। एक-एक काल-अणुके अनन्त समय-पर्याय समझने चाहिये। समय-पर्याय ही अन्य द्रव्योंके पर्यायोंका निमित्तकारण है। नवीनता-पुराणता, ज्येष्ठता-कनिष्ठता आदि सब अवस्थाएँ, काल-अणुके समय-प्रवाहकी बदौलत ही समझनी चाहिये। पुद्गल-परमाणुको लोक-आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तक मन्दगतिसे जानेमें जितनी देर होती है, उतनी

देरमें काल-अणुका एक समय-पर्याय व्यक्त होता है। अर्थात् समय-पर्याय और एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तककी परमाणुकी मन्द गति, इन दोनोंका परिमाण बराबर है। यह मन्तव्य दिगम्बर-ग्रन्थोंमें है।

वस्तु-स्थिति क्या है:—निश्चय-दृष्टिसे देखा जाय तो कालको अलग द्रव्य माननेकी कोई जरूरत नहीं है। उसे जीवाजीवके पर्यायरूप माननेसे ही सब कार्य व सब व्यवहार उपपन्न हो जाते हैं। इसलिये यही पक्ष, तात्त्विक है। अन्य पक्ष, व्यावहारिक व औपचारिक हैं। कालको मनुष्य-क्षेत्र-प्रमाण माननेका पक्ष स्थूल लोक-व्यवहारपर निर्भर है। और उसे अणुरूप माननेका पक्ष, औपचारिक है. ऐसा स्वीकार न किया जाय तो यह प्रश्न होता है कि जब मनुष्य-क्षेत्रसे बाहर भी नवत्व पुराणत्व आदि भाव होते हैं, तब फिर कालको मनुष्य-क्षेत्रमें ही कैसे माना जा सकता है? दूसरे यह माननेमें क्या युक्ति है कि काल, ज्योतिष्-चक्रके संचारकी अपेक्षा रखता है? यदि अपेक्षा रखता भी हो तो क्या वह लोक-व्यापी होकर ज्योतिष्-चक्रके संचारकी मदद नहीं ले सकता? इसलिये उसको मनुष्य-क्षेत्र-प्रमाण माननेकी कल्पना, स्थूल लोक-व्यवहारपर निर्भर है—कालको अणुरूप माननेकी कल्पना औपचारिक है। प्रत्येक पुद्गल-परमाणुको ही उपचारसे कालाणु समझना चाहिये और कालाणुके अप्रदेशत्वके कथनकी सङ्गति इसी तरह कर लेनी चाहिये।

ऐसा न मानकर कालाणुको स्वतन्त्र माननेमें प्रश्न यह होता है कि यदि काल स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है तो फिर वह धर्म-अस्तिकायकी तरह स्कन्धरूप क्यों नहीं माना जाता है? इसके सिवाय एक यह भी प्रश्न है कि जीव-अजीवके पर्यायमें जो निमित्तकारण समय-पर्याय है। पर समय-पर्यायमें निमित्तकारण क्या है? यदि वह स्वाभाविक होनेसे अन्य निमित्तकी अपेक्षा नहीं रखता तो फिर जीव-अजीवके पर्याय भी स्वाभाविक क्यों न माने जायँ? यदि समय-पर्यायके वास्ते अन्य निमित्तकी कल्पना की जाय तो अनवस्था आती है। इसलिये अणु-पक्षको औपचारिक मानना ही ठीक है।

वैदिकदर्शनमें कालका स्वरूप:—वैदिकदर्शनोंमें भी कालके सम्बन्धमें मुख्य दो पक्ष हैं। वैशेषिकदर्शन-अ० २, आ० २, सूत्र ६—१० तथा न्यायदर्शन, कालको सर्व-व्यापी स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। सांख्य-अ० २, सूत्र १२, योग तथा वेदान्त आदि दर्शन-कालको स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर उसे प्रकृति-पुरुष (जड-चेतन)का ही रूप मानते हैं। यह दूसरा पक्ष, निश्चय-दृष्टि-मूलक है और पहला पक्ष, व्यवहार-मूलक।

जैनदर्शनमें जिसको 'समय' और दर्शनान्तरोंमें जिसको 'क्षण' कहा है, उसका स्वरूप जाननेकेलिये तथा 'काल' नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, वह केवल लौकिक-दृष्टिवालोंकी

व्यवहार-निर्वाहकेलिये क्षणानुक्रमके विषयमें की हुई कल्पनामात्र है। इस बातको स्पष्ट समझने-केलिये योगदर्शन, पा० ३ सू० ५२का भाष्य देखना चाहिये। उक्त भाष्यमें कालसंबन्धी जो विचार है, वही निश्चय-दृष्टि-मूलक; अत एव तात्त्विक जान पड़ता है।

विज्ञानकी सम्मतिः—आज-कल विज्ञानकी गति सत्य दिशाकी ओर है। इसलिये काल-सम्बन्धी विचारोंको उस दृष्टिके अनुसार भी देखना चाहिये। वैज्ञानिक लोग भी कालको दिशा की तरह काल्पनिक मानते हैं, वास्तविक नहीं।

अतः सब तरहसे विचार करनेपर यही निश्चय होता है कि कालको अलग स्वतन्त्र द्रव्य माननेमें दृढतर प्रमाण नहीं है।

(३)-गुणस्थानाधिकार।

(१)-गुणस्थानोंमें जीवस्थान[1]।

सव्व जियठाणे मिच्छे, सग सासणि पण अपज्ज सन्निदुगं।
संमे सन्नी दुविहो, सेसेसुं संनिपज्जत्तो ॥ ४५ ॥

सर्वाणि जीवस्थानानि मिथ्यात्वे, सप्त सासादने पञ्चापर्याप्ताः संज्ञिद्विकम्।
सम्यक्त्वे संज्ञी द्विविधः, शेषेषु संज्ञिपर्याप्तः ॥ ४५ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वगुणस्थानमें सब जीवस्थान हैं। सासादनमें पाँच अपर्याप्त (बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञि-पञ्चेन्द्रिय) तथा दो संज्ञी (अपर्याप्त और पर्याप्त) कुल सात जीवस्थान हैं। अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमें दो संज्ञी (अपर्याप्त और पर्याप्त) जीवस्थान हैं। उक्त तीनके सिवाय शेष ग्यारह गुणस्थानोंमें पर्याप्त संज्ञीजीवस्थान है ॥ ४५ ॥

१—गुणस्थानमें जीवस्थानका जो विचार यहाँ है, गोम्मटसारमें उससे भिन्न प्रकारका है। उसमें दूसरे, छठे और तेरहवें गुणस्थानमें अपर्याप्त और पर्याप्त संज्ञी, ये दो जीवस्थान माने हुए हैं।
—जीव०, गा० ६९८।

गोम्मटसारका यह वर्णन, अपेक्षाकृत है। कर्मकाण्डकी ११३वीं गाथामें अपर्याप्त एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदिको दूसरे गुणस्थानका अधिकारी मानकर उनको जीवकाण्डमें पहले गुणस्थानमात्रका अधिकारी कहा है; सो द्वितीय गुणस्थानवर्ती अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि जीवोंकी अल्पताकी अपेक्षासे। छठे गुणस्थानके अधिकारीको अपर्याप्त कहा है; सो आहारकमिश्रकाययोगकी अपेक्षासे।
—जीवकाण्ड, गा० १२६।

तेरहवें गुणस्थानके अधिकारी सयोगी-केवलीको अपर्याप्त कहा है, सो योगकी अपूर्णताकी अपेक्षासे।
—जीवकाण्ड, गा० १२५।

भावार्थ—एकेन्द्रियादि सब प्रकारके संसारी जीव मिथ्यात्वी पाये जाते हैं; इसलिये पहले गुणस्थानमें सब जीवस्थान कहे गये हैं।

दूसरे गुणस्थानमें सात जीवस्थान ऊपर कहे गये हैं, उनमें छह अपर्याप्त हैं, जो सभी करण-अपर्याप्त समझने चाहिये; क्योंकि लब्धि-अपर्याप्त जीव, पहले गुणस्थानवाले ही होते हैं।

चौथे गुणस्थानमें अपर्याप्त संज्ञी कहे गये हैं, सो भी उक्त कारणसे करण-अपर्याप्त ही समझने चाहिये।

पर्याप्त संज्ञीके सिवाय अन्य किसी प्रकारके जीवमें ऐसे परिणाम नहीं होते, जिनसे वे पहले, दूसरे और चौथेको छोड़कर शेष ग्यारह गुणस्थानोंको पा सकें। इसीलिये इन ग्यारह गुणस्थानोंमें केवल पर्याप्त संज्ञी जीवस्थान माना गया है ॥ ४५ ॥



(२)—गुणस्थानोंमें योग।[1]

[दो गाथाओंसे।]

मिच्छदुगअजइ जोगा,-हारदुगूणा अपुव्वपणगे उ।
मणवइ उरलं सविउ,-व्व मीसि सविउव्वदुग देसे ॥४६॥

मिथ्यात्वद्विकायते योगा, आहारकद्विकोना अपूर्वपञ्चके तु।
मनोवच औदारिकं सवैक्रियं मिश्रे सवैक्रियद्विकं देशे ॥ ४६ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, सासादन और अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमें आहारक-द्विकको छोड़कर तेरह योग हैं। अपूर्वकरणसे लेकर पाँच गुणस्थानोंमें चार मनके, चार वचनके और एक औदारिक, ये नौ योग हैं। मिश्रगुणस्थानमें उक्त नौ तथा एक वैक्रिय, ये दस योग हैं। देशविरतगुणस्थानमें उक्त नौ तथा वैक्रिय-द्विक, कुल ग्यारह योग हैं ॥ ४६ ॥

भावार्थ—पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थानमें तेरह योग इस प्रकार हैंः—कार्मणयोग, विग्रहगतिमें तथा उत्पत्तिके प्रथम समयमें; वैक्रियमिश्र और औदारिकमिश्र, ये दो योग उत्पत्तिके प्रथम समयके अनन्तर अपर्याप्त-अवस्थामें और चार मनके, चार वचनके, एक औदारिक तथा एक वैक्रिय, ये दस योग पर्याप्त-अवस्थामें। आहारक और आहारकमिश्र, ये दो योग चारित्र-सापेक्ष होनेके कारण उक्त तीन गुणस्थानोंमें नहीं होते।

१—गुणस्थानोंमें योग-विषयक विचार जैसा यहाँ है, वैसा ही पञ्चसंग्रह द्वा० १, गा० १६—१८ तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा० ६६—६९ में है।

गोम्मटसारमें कुछ विचार-भेद है। उसमें पाँचवें और सातवें गुणस्थानमें नौ और छठे गुणस्थानमें ग्यारह योग माने हैं।

—जी०, गा० ७०३।

आठवेंसे लेकर बारहवें तक पाँच गुणस्थानोंमें छह योग नहीं हैं; क्योंकि ये गुणस्थान विग्रहगति और अपर्याप्त-अवस्थामें नहीं पाये जाते। अत एव इनमें कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग नहीं होते तथा ये गुणस्थान अप्रमत्त-अवस्था-भावी हैं। अत एव इनमें प्रमाद-जन्य लब्धि-प्रयोग न होनेके कारण वैक्रिय-द्विक और आहारक-द्विक, ये चार योग भी नहीं होते।

तीसरे गुणस्थानमें आहारक-द्विक, औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र और कार्मण, इन पाँचके सिवाय शेष दस योग हैं।

आहारक-द्विक संयम-सापेक्ष होनेके कारण नहीं होता और औदारिकमिश्र आदि तीन योग अपर्याप्त-अवस्था-भावी होनेके कारण नहीं होते; क्योंकि अपर्याप्त-अवस्थामें तीसरे गुणस्थानका संभव ही नहीं है।

यह शङ्का होती है कि अपर्याप्त-अवस्था-भावी वैक्रियमिश्रकाययोग, जो देव और नारकोंको होता है, वह तीसरे गुणस्थानमें भले ही न माना जाय, पर जिस वैक्रियमिश्रकाययोगका सम्भव वैक्रिय-लब्धि-धारी पर्याप्त मनुष्य-तिर्यञ्चोंमें है, वह उस गुणस्थानमें क्यों न माना जाय?

इसका समाधान श्रीमलयगिरिसूरि आदिने यह दिया है कि सम्प्रदाय नष्ट हो जानेसे वैक्रियमिश्रकाययोग न माने जानेका कारण अज्ञात है; तथापि यह जान पड़ता है कि वैक्रियलब्धिवाले मनुष्य-तिर्यञ्च तीसरे गुणस्थानके समय वैक्रियलब्धिका प्रयोग कर वैक्रियशरीर बनाते न होंगे[1]।

देशविरतिवाले वैक्रियलब्धि-सम्पन्न मनुष्य व तिर्यञ्च वैक्रियशरीर बनाते हैं; इसलिये उनके वैक्रिय और वैक्रियमिश्र, ये दो योग होते हैं।

१—पञ्चसंग्रह द्वा० १, गा० १७ की टीका।

चार मनके, चार वचनके और एक औदारिक, ये नौ योग मनुष्य-तिर्यञ्चकेलिये साधारण हैं। अत एव पाँचवें गुणस्थानमें कुल ग्यारह योग समझने चाहिये। उसमें सर्वविरति न होनेके कारण दो आहारक और अपर्याप्त-अवस्था न होनेके कारण कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो, कुल चार योग नहीं होते॥ ४६॥

साहारदुग पमत्ते, ते विउवाहारमीस विणु इयरे।
कम्मुरलदुगंताइम,-मणवयण सयोगि न अजोगी॥४७॥

साहारकाद्विकं प्रमत्ते, ते वैक्रियाहारकमिश्रं विनेतरस्मिन्।
कार्मणौदारिकाद्विकान्तादिममनोवचनं सयोगिनि नायोगिनि॥ ४७॥

अर्थ—प्रमत्तगुणस्थानमें देशविरतिगुणस्थानसंबन्धी ग्यारह और आहारक-द्विक, कुल तेरह योग हैं। अप्रमत्तगुणस्थानमें उक्त तेरहमेंसे वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्रको छोड़कर शेष ग्यारह योग हैं। सयोगिकेवलिगुणस्थानमें कार्मण, औदारिक-द्विक, सत्य-मनोयोग, असत्यामृषमनोयोग, सत्यवचनयोग और असत्यामृष-वचनयोग, ये सात योग हैं। अयोगिकेवलिगुणस्थानमें एक भी योग नहीं होता—योगका सर्वथा अभाव है॥ ४७॥

भावार्थ—छठे गुणस्थानमें तेरह योग कहे गये हैं। इनमेंसे चार मनके, चार वचनके और एक औदारिक, ये नौ योग सब मुनियोंके साधारण हैं और वैक्रिय-द्विक तथा आहारक-द्विक, ये चार योग वैक्रियशरीर या आहारकशरीर बनानेवाले लब्धि-धारी मुनियोंके ही होते हैं।

वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र, ये दो योग, वैक्रियशरीर और आहारकशरीरका आरम्भ तथा परित्याग करनेके समय पाये जाते हैं, जब कि प्रमाद-अवस्था होती है। पर सातवाँ गुणस्थान अप्र-

मत्त-अवस्था-भावी है ; इसलिये उसमें छठे गुणस्थानवाले तेरह योगोंमेंसे उक्त दो योगोंको छोड़कर ग्यारह योग माने गये हैं। वैक्रियशरीर या आहारकशरीर बना लेनेपर अप्रमत्त-अवस्थाका भी संभव है; इसलिये अप्रमत्तगुणस्थानके योगोंमें वैक्रियकाययोग और आहारककाययोगकी गणना है।

संयोगिकेवलीको केवलिसमुद्घातके समय कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग, अन्य सब समयमें औदारिककाययोग, अनुत्तर-विमानवासी देव आदिके प्रश्नका मनसे उत्तर देनेके समय दो मनोयोग और देशना देनेके समय दो वचनयोग होते हैं। इसीसे तेरहवें गुणस्थानमें सात योग माने गये हैं।

केवली भगवान् सब योगोंका निरोध करके अयोगि-अवस्था प्राप्त करते हैं; इसीलिये चौदहवें गुणस्थानमें योगोंका अभाव है ॥४७॥



(३)-गुणस्थानोंमें उपयोग[1] ।

तिअनाणदुदंसाइम,-दुगे अजइ देसि नाणदंसतिगं ।
ते मीसि मीसा समणा, जयाइ केवलदु अंतदुगे ॥४८॥

त्र्यज्ञानद्विदर्शमादिमद्विकेऽयते देशे ज्ञानदर्शनत्रिकम् ।
ते मिश्रे मिश्राः समनसो, यतादिषु केवलद्विकमन्तद्विके ॥ ४८ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व और सासादन, इन दो गुणस्थानोंमें तीन अज्ञान और दो दर्शन, ये पाँच उपयोग हैं । अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरति, इन दो गुणस्थानोंमें तीन ज्ञान, तीन दर्शन, ये छह उपयोग हैं । मिश्रगुणस्थानमें भी तीन ज्ञान, तीन दर्शन, ये छह उपयोग हैं, पर ज्ञान, अज्ञान-मिश्रित होते हैं । प्रमत्तसंयतसे लेकर क्षीण-मोहनीय तक सात गुणस्थानोंमें उक्त छह और मनःपर्यायज्ञान, ये सात उपयोग हैं । सयोगिकेवली और अयोगिकेवली, इन दो गुण-स्थानोंमें केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो उपयोग हैं ॥ ४८ ॥

भावार्थ—पहले और दूसरे गुणस्थानमें सम्यक्त्वका अभाव है; इसीसे उनमें सम्यक्त्वके सहचारी पाँच ज्ञान, अवधिदर्शन और केवलदर्शन, ये सात उपयोग नहीं होते, शेष पाँच होते हैं ।

चौथे और पाँचवें गुणस्थानमें मिथ्यात्व न होनेसे तीन अज्ञान, सर्वविरति न होनेसे मनःपर्यायज्ञान और घातिकर्मका अभाव न होनेसे केवल-द्विक, ये कुल छह उपयोग नहीं होते, शेष छह होते हैं ।

१—यह विषय, पञ्चसंग्रह-द्वा० १की १९—२०वीं; प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थकी ७०—७१वीं और गोम्मटसार-जीवकाण्डकी ७०४थी गाथामें है ।

तीसरे गुणस्थानमें भी तीन ज्ञान और तीन दर्शन, ये ही छह उपयोग हैं। पर दृष्टि, मिश्रित (शुद्धाशुद्ध-उभयरूप) होनेके कारण ज्ञान, अज्ञान-मिश्रित होता है।

छठेसे बाहरवें तक सात गुणस्थानोंमें मिथ्यात्व न होनेके कारण अज्ञान-त्रिक नहीं है और घातिकर्मका क्षय न होनेके कारण केवल-द्विक नहीं है। इस तरह पाँचको छोड़कर शेष सात उपयोग उनमें समझने चाहिये।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें घातिकर्म न होनेसे छद्मस्थ-अवस्था-भावी दस उपयोग नहीं होते, सिर्फ केवलज्ञान और केवल-दर्शन, ये दो ही उपयोग होते हैं॥ ४८॥

सिद्धान्तके कुछ मन्तव्य।

सासणभावे नाणं, विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं।
नेगिंदिसु सासाणो, नेहाहिगयं सुयमयं पि॥ ४९॥

सासादनभावे ज्ञानं, वैकुर्विकाहारक औदारिकामिश्रम्।
नैकेन्द्रियेषु सासादनं, नेहाधिकृतं श्रुतमतमपि॥ ४९॥

अर्थ—सासादन-अवस्थामें सम्यग्ज्ञान, वैक्रियशरीर तथा आहारकशरीर बनानेके समय औदारिकमिश्रकाययोग और एकेन्द्रिय जीवोंमें सासादनगुणस्थानका अभाव, ये तीन बातें यद्यपि सिद्धान्त-सम्मत हैं तथापि इस ग्रन्थमें इनका अधिकार नहीं है॥ ४६॥

भावार्थ—कुछ विषयोंपर सिद्धान्त और कर्मग्रन्थका मत-भेद चला आता है। इनमेंसे तीन विषय इस गाथामें ग्रन्थकारने दिखाये हैं:—

(क) सिद्धान्तमें दूसरे गुणस्थानके समय मति, श्रुत आदिको ज्ञान माना है, अज्ञान नहीं। इससे उलटा कर्मग्रन्थमें अज्ञान माना है, ज्ञान नहीं। सिद्धान्तका अभिप्राय यह है कि दूसरे गुणस्थानमें वर्तमान जीव यद्यपि मिथ्यात्वके संमुख है, पर मिथ्यात्वी नहीं; उसमें सम्यक्त्वका अंश होनेसे कुछ विशुद्धि है; इसलिये उसके ज्ञानको ज्ञान मानना चाहिये। कर्मग्रन्थका आशय यह है कि द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्वी न सही, पर वह मिथ्यात्वके अभिमुख है; इसलिये उसके परिणाममें मालिन्य अधिक होता है; इससे उसके ज्ञानको अज्ञान कहना चाहिये।

१—भगवतीमें द्वीन्द्रियोंको ज्ञानी भी कहा है। इस कथनसे यह प्रमाणित होता है कि सासादन-अवस्थामें ज्ञान मान करके ही सिद्धान्ती द्वीन्द्रियोंको ज्ञानी कहते हैं; क्योंकि उनमें दूसरेसे आगेके सब गुणस्थानोंका अभाव ही है। पञ्चेन्द्रियोंको ज्ञानी कहा है, उसका समर्थन तो तीसरे, चौथे आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षासे भी किया जा सकता है, पर द्वीन्द्रियोंमें तीसरे आदि गुणस्थानोंका अभाव होनेके कारण सिर्फ सासादनगुणस्थानकी अपेक्षासे ही ज्ञानित्व घटाया जा सकता है। यह बात प्रज्ञापना-टीकामें स्पष्ट लिखी हुई है। उसमें कहा है कि द्वीन्द्रियको दो ज्ञान कैसे घट सकते हैं? उत्तर—उसको अपर्याप्त-अवस्थामें सासादनगुणस्थान होता है, इस अपेक्षासे दो ज्ञान घट सकते हैं।

"बेइंदियाणं भंते! किं नाणी अन्नाणी? गोयमा! णाणी वि अण्णाणी वि। जे नाणी ते नियमा दुनाणी। तं जहा—आभिणिबोहियनाणी सुयणाणी। जे अण्णाणी ते वि नियमा दुअन्नाणी। तं जहा—मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य।" —भगवती-शतक ८, उ० २।

"बेइंदियस्स दो णाणा कहं लब्भंति? भण्णइ, सासायणं पडुच्च तस्सापज्जत्तयस्स दो णाणा लब्भंति।" —प्रज्ञापना-टीका।

दूसरे गुणस्थानके समय कर्मग्रन्थके मतानुसार अज्ञान माना जाता है, सो २० तथा ४८वीं गाथासे स्पष्ट है। गोम्मटसारमें कार्मग्रन्थिक ही मत है। इसकेलिये देखिये, जीवकाण्डकी ६८६ तथा ७०४वीं गाथा।

(ख) सिद्धान्तका मानना है कि लब्धिद्वारा वैक्रिय और आहारक-शरीर बनाते समय औदारिकमिश्रकाययोग होता है; पर त्यागते समय क्रमसे वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र होता है। इसके स्थानमें कर्मग्रन्थका मानना है कि उक्त दोनों शरीर बनाते तथा त्यागते समय क्रमसे वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र-योग ही होता है, औदारिकमिश्र नहीं। सिद्धान्तका आशय यह है कि लब्धिसे वैक्रिय या आहारक-शरीर बनाया जाता है, उस समय इन शरीरोंके योग्य पुद्गल, औदारिकशरीरकेद्वारा ही ग्रहण किये जाते हैं; इसलिये औदारिकशरीरकी प्रधानता होनेके कारण उक्त दोनों शरीर बनाते समय औदारिकमिश्रकाययोगका व्यवहार करना चाहिये। परन्तु परित्यागके समय औदारिकशरीरकी प्रधानता नहीं रहती। उस समय वैक्रिय या आहारक-शरीरका ही व्यापार मुख्य होनेके कारण वैक्रियमिश्र तथा आहारकमिश्रका व्यवहार करना चाहिये। कार्मग्रन्थिक-मतका तात्पर्य इतना ही है कि चाहे व्यापार किसी शरीरका प्रधान हो, पर औदारिकशरीर जन्म-सिद्ध है और वैक्रिय या आहारक-शरीर लब्धि-जन्य है; इसलिये विशिष्ट लब्धि-जन्य शरीरकी प्रधानताको ध्यानमें रखकर आरम्भ और

१—यह मत प्रज्ञापनाके इस उल्लेखसे स्पष्ट है:—

"ओरालियसरीरकायप्पयोगे ओरालियमीससरीरप्पयोगे वेउव्वियसरीरकायप्पयोगे आहारकसरीरकायप्पओगे आहारकमीससरीरकायप्पयोगे।" —पद० १६ तथा उसकी टीका, पृ० ३१७।

कर्मग्रन्थका मत तो ४६ और ४७वीं गाथामें पाँचवें और छठे गुणस्थानमें क्रमसे ग्यारह और तेरह योग दिखाये हैं, इसीसे स्पष्ट है।

गोम्मटसारका मत कर्मग्रन्थके समान ही जान पड़ता है; क्योंकि उसमें पाँचवें और छठे किसी गुणस्थानमें औदारिकमिश्रकाययोग नहीं माना है। देखिये, जीवकाण्डकी ७०३री गाथा।

परित्याग, दोनों समय वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्रका व्यवहार करना चाहिये, औदारिकमिश्रका नहीं।

(ग)—सिद्धान्ती[1], एकेन्द्रियोंमें सासादनगुणस्थानको नहीं मानते, पर कार्मग्रन्थिक मानते हैं।

उक्त विषयोंके सिवाय अन्य विषयोंमें भी कहीं-कहीं मत-भेद है:—

(१) सिद्धान्ती, अवधिदर्शनको पहले बारह गुणस्थानोंमें मानते हैं, पर कार्मग्रन्थिक उसे चौथेसे बारहवें तक नौ गुणस्थानोंमें, (२) सिद्धान्तमें ग्रन्थि-भेदके अनन्तर क्षायोपशमिकसम्यक्त्वका होना माना गया है, किन्तु कर्मग्रन्थमें औपशमिकसम्यक्त्वका होना ॥४९॥

१—भगवती, प्रज्ञापना और जीवाभिगमसूत्रमें एकेन्द्रियोंको अज्ञानी ही कहा है। इससे सिद्ध है कि उनमें सासादन-भाव सिद्धान्त-सम्मत नहीं है। यदि सम्मत होता तो द्वीन्द्रिय आदिकी तरह एकेन्द्रियोंको भी ज्ञानी कहते।

'एगिंदियाणं भंते ! किं नाणी अण्णाणी ? गोयमा ! नो नाणी, नियमा अन्नाणी।''
—भगवती-श० ८, उ० २।

एकेन्द्रियमें सासादन-भाव माननेका कार्मग्रन्थिक-मत पञ्चसंग्रहमें निर्दिष्ट है। यथाः—

'इगिविगिलेसु जुयलं' इत्यादि। —द्वा० १, गा० २८।

दिगम्बर-संप्रदायमें सैद्धान्तिक और कार्मग्रन्थिक दोनों मत संगृहीत हैं। कर्मकाण्डकी ११३ से ११५तककी गाथा देखनेसे एकेन्द्रियोंमें सासादन-भावका स्वीकार स्पष्ट मालूम होता है। तत्त्वार्थ, अ० १ के ८वें सूत्रकी सर्वार्थसिद्धिमें तथा जीवकाण्डकी ६७७वीं गाथामें सैद्धान्तिक-मत है।

(४-५)-गुणस्थानोंमें लेश्या तथा बन्ध-हेतु।

छसु सव्वा तेउतिगं, इगि छसु सुक्का अयोगि अल्लेसा।
बंधस्स मिच्छ अविरइ,-कसायजोग त्ति चउ हेऊ ॥५०॥

षट्सु सर्वास्तेजस्त्रिकमेकस्मिन् षट्सु शुक्काऽयोगिनोऽलेश्याः।
बन्धस्य मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा इति चत्वारो हेतवः ॥ ५० ॥

अर्थ—पहले छह गुणस्थानोंमें छह लेश्याएँ[1] हैं। एक (सातव

१—गुणस्थानमें लेश्या या लेश्यामें गुणस्थान माननेके सम्बन्धमें दो मत चले आते हैं। पहला मत पहले चार गुणस्थानोंमें छह लेश्याएँ और दूसरा मत पहले छह गुणस्थानोंमें छह लेश्याएँ मानता है। पहला मत पञ्चसंग्रह-द्वा० १, गा० ३०; प्राचीन बन्धस्वामित्व, गा० ४०; नवीन बन्धस्वामित्व, गा० २५; सर्वार्थसिद्धि, पृ० २४ और गोम्मटसार-जीवकाण्ड, गा० ७०३रीके भावार्थमें है। दूसरा मत प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ, गा० ७३ में तथा यहाँ है। दोनों मत अपेक्षा-कृत हैं, अतः इनमें कुछ भी विरोध नहीं है।

पहले मतका आशय यह है कि छहों प्रकारकी द्रव्यलेश्यावालोंको चौथा गुणस्थान प्राप्त होता है, पर पाँचवाँ या छठा गुणस्थान सिर्फ तीन शुभ द्रव्यलेश्यावालोंको। इसलिये गुणस्थान प्राप्तिके समय वर्तमान द्रव्यलेश्याकी अपेक्षासे चौथे गुणस्थान पर्यन्त छह लेश्याएँ माननी चाहिये और पाँचवे और छठेमें तीन ही।

दूसरे मतका आशय यह है कि यद्यपि छहों लेश्याओंके समय चौथा गुणस्थान और तीन शुभ द्रव्यलेश्याओंके समय पाँचवाँ और छठा गुणस्थान प्राप्त होता है; परन्तु प्राप्त होनेके बाद चौथे, पाँचवे और छठे, तीनों गुणस्थानवालोंमें छहों द्रव्यलेश्याएँ पायी जाती हैं। इसलिये गुणस्थान-प्राप्तिके उत्तर-कालमें वर्तमान द्रव्यलेश्याओंकी अपेक्षासे छठे गुणस्थान पर्यन्त छह लेश्याएँ मानी जाती हैं।

इस जगह यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि चौथा, पाँचवाँ और छठा गुणस्थान प्राप्त होनेके समय भावलेश्या तो शुभ ही होती है, अशुभ नहीं, पर प्राप्त होनेके बाद भावलेश्या भी अशुभ हो सकती है।

"सम्मत्तसुयं सव्वा सु,-लहइ, सुद्धासु तीसु य चरित्तं।
पुव्वपडिवण्णगो पुण, अण्णयरीए उ लेसाए।"

—आवश्यक-निर्युक्ति, गा० ८२२।

गुणस्थानमें) तेजः, पद्म और शुक्ल, ये तीन लेश्याएँ हैं। आठवेंसे लेकर तेरहवें तक छह गुणस्थानोंमें केवल शुक्ललेश्या है। चौदहवें गुणस्थानमें कोई भी लेश्या नहीं है।

बन्ध-हेतु—कर्म-बन्धके चार हेतु हैं।—१ मिथ्यात्व, २ अविरति, ३ कषाय और ४ योग ॥ ५० ॥

भावार्थ—प्रत्येक लेश्या, असंख्यात-लोकाकाश-प्रदेश-प्रमाण अध्यवसायस्थान (संक्लेश-मिश्रित परिणाम) रूप है; इसलिये उसके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि उतने ही भेद समझने चाहिये। अत एव कृष्ण आदि अशुभ लेश्याओंको छठे गुणस्थानमें अतिमन्दतम और पहले गुणस्थानमें अतितीव्रतम मानकर छह गुणस्थानों तक उनका सम्बन्ध कहा गया है। सातवें गुणस्थानमें आर्त तथा रौद्र-ध्यान न होनेके कारण परिणाम इतने विशुद्ध रहते हैं, जिससे उस गुणस्थानमें अशुभ लेश्याएँ सर्वथा

इसका विवेचन श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने भाष्यकी २७४१से-४२ तककी गाथाओंमें, श्रीहरिभद्रसूरिने अपनी टीकामें और मलधारी श्रीहेमचन्द्रसूरिने भाष्यवृत्तिमें विस्तारपूर्वक किया है। इस विषयकेलिये लोकप्रकाशके ३रे सर्गके ३१३ से ३२३ तकके श्लोक द्रष्टव्य हैं।

चौथा गुणस्थान प्राप्त होनेके समय द्रव्यलेश्या शुभ और अशुभ, दोनों मानी जाती हैं और भावलेश्या शुभ ही। इसलिये यह शङ्का होती है कि क्या अशुभ द्रव्यलेश्यावालोंको भी शुभ भावलेश्या होती है ?

इसका समाधान यह है कि द्रव्यलेश्या और भावलेश्याके सम्बन्धमें यह नियम नहीं है कि दोनों समान ही होनी चाहिये, क्योंकि यद्यपि मनुष्य-तिर्यञ्च, जिनकी द्रव्यलेश्या अस्थिर होती है, उनमें तो जैसी द्रव्यलेश्या वैसी ही भावलेश्या होती है। पर देव-नारक, जिनकी द्रव्यलेश्या अवस्थित (स्थिर) मानी गयी है, उनके विषयमें इससे उलटा है। अर्थात् नारकोंमें अशुभ द्रव्यलेश्याके होते हुए भी भावलेश्या शुभ हो सकती है। इसी प्रकार शुभ द्रव्यलेश्यावाले देवोंमें भावलेश्या अशुभ भी हो सकती है। इस बातको खुलासेसे समझनेकेलिये प्रज्ञापनाका १७वाँ पद तथा उसकी टीका देखनी चाहिये।

नहीं होतीं; किन्तु तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं। पहले गुणस्थानमें तेजः और पद्म-लेश्याको अतिमन्दतम और सातवें गुणस्थानमें अति-तीव्रतम, इसी प्रकार शुक्ललेश्याको भी पहले गुणस्थानमें अति-मन्दतम और तेरहवेंमें अतितीव्रतम मानकर उपर्युक्त रीतिसे गुण-स्थानोंमें उनका सम्बन्ध बतलाया गया है।

चार बन्ध-हेतु—(१) 'मिथ्यात्व', आत्माका वह परिणाम है, जो

१—ये ही चार बन्ध-हेतु पञ्चसंग्रह-द्वा० ४की १ली गाथा तथा कर्मकाण्डकी ७८६वीं गाथामें है। यद्यपि तत्त्वार्थके ८वें अध्यायके १ले सूत्रमें उक्त चार हेतुओंके अतिरिक्त प्रमादको भी बन्ध-हेतु माना है, परन्तु उसका समावेश अविरति, कषाय आदि हेतुओंमें हो जाता है। जैसे:—विषय-सेवनरूप प्रमाद, अविरति और लब्धि-प्रयोगरूप प्रमाद, योग है। वस्तुतः कषाय और योग, ये दो ही बन्ध-हेतु समझने चाहिये; क्योंकि मिथ्यात्व और अविरति, कषायके ही अन्तर्गत हैं। इसी अभिप्रायसे पाँचवें कर्मग्रन्थकी ९६वीं गाथामें दो ही बन्ध-हेतु माने गये हैं।

इस जगह कर्म-बन्धके सामान्य हेतु दिखाये हैं, सो निश्चयदृष्टिसे; अत एव उन्हें अन्तरङ्ग हेतु समझना चाहिये। पहले कर्मग्रन्थकी ५४से ६१ तककी गाथाओंमें; तत्त्वार्थके ६ठे अध्यायके ११ से २६ तकके सूत्रमें तथा कर्मकाण्डकी ८०० से ८१० तककी गाथाओंमें हर एक कर्मके अलग-अलग बन्ध-हेतु कहे हुए हैं, सो व्यवहारदृष्टिसे; अत एव उन्हें बहिरङ्ग हेतु समझना चाहिये।

शङ्का—प्रत्येक समयमें आयुके सिवाय सात कर्मोंका बाँधा जाना प्रज्ञापनाके २४वें पदमें कहा गया है; इसलिये ज्ञान, ज्ञानी आदिपर प्रद्वेष या उनका निह्नव करते समय भी ज्ञाना-वरणीय, दर्शनावरणीयकी तरह अन्य कर्मोंका बन्ध होता ही है। इस अवस्थामें 'तत्प्रदोषनिह्नव' आदि तत्त्वार्थके ६ठे अध्यायके ११ से २६ तकके सूत्रोंमें कहे हुए आस्रव, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय आदि कर्मके विशेष हेतु कैसे कहे जा सकते हैं?

समाधान—तत्प्रदोषनिह्नव आदि आस्रवोंको प्रत्येक कर्मका जो विशेष-विशेष हेतु कहा है, सो अनुभागबन्धकी अपेक्षासे, प्रकृतिबन्धकी अपेक्षासे नहीं। अर्थात् किसी भी आस्रवके सेवनके समय प्रकृतिबन्ध सब प्रकारका होता है। अनुभागबन्धमें फर्क है। जैसे:—ज्ञान, ज्ञानी, ज्ञानो-पकरण आदिपर प्रद्वेष करनेके समय ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयकी तरह अन्य प्रकृतियों-का बन्ध होता है, पर उस समय अनुभागबन्ध विशेषरूपसे ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय-कर्मका ही होता है। सारांश, विशेष हेतुओंका विभाग अनुभागबन्धकी अपेक्षासे किया गया है, प्रकृति-बन्धकी अपेक्षासे नहीं। —तत्त्वार्थ-अ० ६, सू० २७की सर्वार्थसिद्धि।

मिथ्यात्वमोहनीयकर्मके उदयसे होता है और जिससे कदाग्रह, संशय आदि दोष पैदा होते हैं। (२) 'अविरति', वह परिणाम है, जो अप्रत्याख्यानावरणकषायके उदयसे होता है और जो चारित्रको रोकता है। (३) 'कषाय', वह परिणाम है, जो चारित्रमोहनीयके उदयसे होता है और जिससे क्षमा, विनय, सरलता, संतोष, गम्भीरता आदि गुण प्रगट होने नहीं पाते या बहुत-कम प्रमाणमें प्रकट होते हैं। (४) 'योग', आत्म-प्रदेशोंके परिस्पन्द (चाञ्चल्य-) को कहते हैं, जो मन, वचन या शरीरके योग्य पुद्गलोंके आलम्बनसे होता है ॥ ५० ॥

बन्ध-हेतुओंके उत्तरभेद तथा गुणस्थानोंमें मूल बन्ध-हेतु।

[दो गाथाओंसे।]

अभिगहियमणभिगहिया,-भिनिवेसियसंसइयमणाभोगं
पण मिच्छ बार अविरइ, मणकरणानियमु छजियवहो ॥५१॥

आभिग्रहिकमनाभिग्रहिकाभिनिवेशिकसांशयिकमनाभोगम्।
पञ्चमिथ्यात्वानि द्वादशाविरतयो, मनःकरणानियमः षड्जीववधः ॥५१॥

अर्थ—मिथ्यात्वके पाँच भेद हैं:—१ आभिग्रहिक, २ अनाभिग्रहिक, ३ आभिनिवेशिक, ४ सांशयिक और ५ अनाभोग।

१—यह विषय, पञ्चसंग्रह-द्वा० ४की २ से ४ तककी गाथाओंमें तथा गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी ७८६ से ७८८ तककी गाथाओंमें है।

गोम्मटसारमें मिथ्यात्वके १ एकान्त, २ विपरीत, ३ वैनयिक, ४ सांशयिक और ५ अज्ञान, ये पाँच प्रकार हैं। —जी०, गा० १५।

अविरतिकेलिये जीवकाण्डकी २९ तथा ४७७वीं गाथा और कषाय व योगकेलिये क्रमशः उसकी कषाय व योगमार्गणा देखनी चाहिये। तत्त्वार्थके ८वें अध्यायके १ले सूत्रके भाष्यमें मिथ्यात्वके अभिगृहीत और अनभिगृहीत, ये दो ही भेद हैं।

अविरतिके बारह भेद हैं। जैसेः—मन और पाँच इन्द्रियाँ, इन छहको नियममें न रखना, ये छह तथा पृथ्वीकाय आदि छह कायोंका बध करना, ये छह ॥५१॥

भावार्थ-(१) तत्त्वकी परीक्षा किये विना ही किसी एक सिद्धान्तका पक्षपात करके अन्य पक्षका खण्डन करना 'आभिग्रहिकमिथ्यात्व'[1] है। (२) गुण-दोषकी परीक्षा विना किये ही सब पक्षोंको बराबर समझना 'अनाभिग्रहिकमिथ्यात्व'[2] है। (३) अपने पक्षको असत्य जानकर भी उसकी स्थापना करनेकेलिये दुरभिनिवेश (दुराग्रह) करना 'आभिनिवेशिकमिथ्यात्व'[3] है। (४) ऐसा देव होगा या अन्य

१—सम्यक्त्वी, कदापि अपरीक्षित सिद्धान्तका पक्षपात नहीं करता, अत एव जो व्यक्ति तत्त्व-परीक्षापूर्वक किसी-एक पक्षको मानकर अन्य पक्षका खण्डन करता है, वह 'आभिग्रहिक' नहीं है। जो कुलाचारमात्रसे अपनेको जैन (सम्यक्त्वी) मानकर तत्त्वकी परीक्षा नहीं करता, वह नामसे 'जैन' परन्तु वस्तुतः 'आभिग्रहिकमिथ्यात्वी' है। माषतुष मुनि आदिकी तरह तत्त्व-परीक्षा करनेमें स्वयं असमर्थ लोग यदि गीतार्थ (यथार्थ-परीक्षक) के आश्रित हों तो उन्हें 'आभिग्रहिकमिथ्यात्वी' नहीं समझना, क्योंकि गीतार्थके आश्रित रहनेसे मिथ्या पक्षपातका संभव नहीं रहता। —धर्मसंग्रह, पृ० ४०/१

२—यह, मन्दबुद्धिवाले व परीक्षा करनेमें असमर्थ साधारण लोगोंमें पाया जाता है। ऐसे लोग अकसर कहा करते हैं कि सब धर्म बराबर हैं।

३—सिर्फ उपयोग न रहनेके कारण या मार्ग-दर्शककी गलतीके कारण, जिसकी श्रद्धा विपरीत हो जाती है, वह 'आभिनिवेशिकमिथ्यात्वी' नहीं है; क्योंकि यथार्थ-वक्ता मिलनेपर उसकी श्रद्धा तात्त्विक बन जाती है, अर्थात् यथार्थ-वक्ता मिलनेपर भी श्रद्धाका विपरीत बना रहना दुरभिनिवेश है। यद्यपि श्रीसिद्धसेन दिवाकर, श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि आचार्योंने अपने-अपने पक्षका समर्थन करके बहुत-कुछ कहा है, तथापि उन्हें 'आभिनिवेशिकमिथ्यात्वी' नहीं कह सकते; क्योंकि उन्होंने अविच्छिन्न प्रावचनिक परंपराके आधारपर शास्त्र-तात्पर्यको अपने-अपने पक्षके अनुकूल समझकर अपने-अपने पक्षका समर्थन किया है, पक्षपातसे नहीं। इसके विपरीत जमालि, गोष्ठामाहिल आदिने शास्त्र-तात्पर्यको स्व-पक्षके प्रतिकूल जानते हुए भी निज-पक्षका समर्थन किया; इसलिये वे 'आभिनिवेशिक' कहे जाते हैं। —धर्म०, पृ० ४०।

प्रकारका, इसी तरह गुरु और धर्मके विषयमें संदेह-शील बने रहना 'सांशयिकमिथ्यात्व' है। (५) विचार व विशेष ज्ञानका अभाव अर्थात् मोहकी प्रगाढतम अवस्था 'अनाभोगमिथ्यात्व' है। इन पाँच-मेंसे आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक, ये दो मिथ्यात्व, गुरु हैं और शेष तीन लघु; क्योंकि ये दोनों विपर्यासरूप होनेसे तीव्र क्लेशके कारण हैं और शेष तीन विपर्यासरूप न होनेसे तीव्र क्लेशके कारण नहीं हैं।

मनको अपने विषयमें स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवृत्ति करने देना मन-अविरति है। इसी प्रकार त्वचा, जिह्वा आदि पाँच इन्द्रियोंकी अवि-रतिको भी समझ लेना चाहिये। पृथ्वीकायिक जीवोंकी हिंसा करना पृथ्वीकाय-अविरति है। शेष पाँच कायोंकी अविरतिको इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। ये बारह अविरतियाँ मुख्य हैं। मृषा-वाद-अविरति, अदत्तादान-अविरति आदि सब अविरतिओंका समा-वेश इन बारहमें ही हो जाता है।

मिथ्यात्वमोहनीयकर्मका औदयिक-परिणाम ही मुख्यतया मिथ्यात्व कहलाता है। परन्तु इस जगह उससे होनेवाली आभि-ग्रहिक आदि बाह्य प्रवृत्तिओंको मिथ्यात्व कहा है, सो कार्य-कारणके भेदकी विवक्षा न करके। इसी तरह अविरति, एक प्रकारका काषा-

१—सूक्ष्म विषयोंका संशय उच्च-कोटिके साधुओंमें भी पाया जाता है, पर वह मिथ्या-त्वरूप नहीं है, क्योंकि अन्ततः—

"तमेव सच्चं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं।"

इत्यादि भावनासे आगमको प्रमाण मानकर ऐसे संशयोंका निवर्तन किया जाता है। इसलिये जो संशय, आगम-प्रामाण्यकेद्वारा भी निवृत्त नहीं होता, वह अन्ततः अनाचारका उत्पादक होनेके कारण मिथ्यात्वरूप है। —धर्मसंग्रह, पृ० ४१/१।

२—यह, एकेन्द्रिय आदि क्षुद्रतम जन्तुओंमें और मूढ प्राणिओंमें होता है।

—धर्मसंग्रह, पृ० ४०/१।

यिक परिणाम ही है, परन्तु कारणसे कार्यको भिन्न न मानकर इस जगह मनोऽसंयम आदिको अविरति कहा है। देखा जाता है कि मन आदिका असंयम या जीव-हिंसा ये सब कषाय-जन्य ही हैं॥५१॥

नव सोल कसाया पन,-र जोग इय उत्तरा उ सगवन्ना।
इगचउपणतिगुणेसु, चउतिदुइगपच्चओ बंधो ॥५२॥

नव षोडश कषायाः पञ्चदश योगा इत्युत्तरास्तु सप्तपञ्चाशत्।
एकचतुष्पञ्चत्रिगुणेषु, चतुस्त्रिद्व्येकप्रत्ययो बन्धः ॥५२॥

अर्थ—कषायके नौ और सोलह, कुल पच्चीस भेद हैं। योगके पंद्रह भेद हैं। इस प्रकार सब मिलाकर बन्ध-हेतुओंके उत्तर भेद सत्तावन होते हैं।

एक (पहले) गुणस्थानमें चारों हेतुओंसे बन्ध होता है। दूसरेसे पाँचवें तक चार गुणस्थानोंमें तीन हेतुओंसे, छठेसे दसवें तक पाँच गुणस्थानोंमें दो हेतुओंसे और ग्यारहवेंसे तेरहवें तक तीन गुणस्थानोंमें एक हेतुसे बन्ध होता है॥ ॥५२॥

भावार्थ—हास्य, रति आदि नौ नोकषाय और अनन्तानुबन्धी-क्रोध आदि सोलह कषाय हैं, जो पहले कर्मग्रन्थमें कहे जा चुके हैं। कषायके सहचारी तथा उत्तेजक होनेके कारण हास्य आदि नौ, कहलाते 'नोकषाय' हैं, पर हैं वे कषाय ही।

पंद्रह योगोंका विस्तारपूर्वक वर्णन पहिले २४वीं गाथामें हो चुका है। पच्चीस कषाय, पंद्रह योग और पूर्व गाथामें कहे हुए पाँच मिथ्यात्व तथा बारह अविरतियाँ, ये सब मिलाकर सत्तावन बन्ध-हेतु हुए।

गुणस्थानोंमें मूल बन्ध-हेतु।

पहले गुणस्थानके समय मिथ्यात्व आदि चारों हेतु पाये जाते हैं, इसलिये उस समय होनेवाले कर्म-बन्धमें वे चारों कारण हैं।

दूसरे आदि चार [1]गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वोदयके सिवाय अन्य सब हेतु रहते हैं; इससे उस समय होनेवाले कर्म-बन्धनमें तीन कारण माने जाते हैं। छठे आदि पाँच गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वकी तरह अविरति भी नहीं है; इसलिये उस समय होनेवाले कर्म-बन्धमें कषाय और योग, ये दो ही हेतु माने जाते हैं। ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानोंमें कषाय भी नहीं होता; इस कारण उस समय होनेवाले बन्धमें सिर्फ योग ही कारण माना जाता है। चौदहवें गुणस्थानमें योगका भी अभाव हो जाता है; अत एव उसमें बन्धका एक भी कारण नहीं रहता ॥५२॥

एक सौ बीस प्रकृतियोंके यथासंभव मूल बन्ध-हेतु।

चउमिच्छमिच्छअविरइ,-पच्चइया सायसोलपणतीसा।
जोग विणु तिपच्चइया,-हारगजिणवज्ज सेसाओ ॥५३॥

चतुर्मिथ्यामिथ्याऽविरतिप्रत्ययिकाः सातषोडशपञ्चत्रिंशतः।
योगान् विना त्रिप्रत्ययिका आहारकजिनवर्जशेषाः ॥५३॥

अर्थ—सातवेदनीयका बन्ध मिथ्यात्व आदि चारों हेतुओंसे होता है। नरक-त्रिक आदि सोलह प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्वमात्र-से होता है। तिर्यञ्च-त्रिक आदि पैंतीस प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्व और अविरति, इन दो हेतुओंसे होता है। तीर्थङ्कर और आहारक-द्विकको छोड़कर शेष सब (ज्ञानावरणीय आदि पैंसठ) प्रकृतियोंका बन्ध, मिथ्यात्व, अविरति और कषाय, इन तीन हेतुओंसे होता है ॥५३॥

भावार्थ—बन्ध-योग्य प्रकृतियाँ एक सौ बीस हैं। इनमेंसे सात-वेदनीयका बन्ध चतुर्हेतुक (चारों हेतुओंसे होनेवाला) कहा गया है। सो इस अपेक्षासे कि वह पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वसे, दूसरे आदि चार गुणस्थानोंमें अविरतिसे, छठे आदि चार गुणस्थानोंमें

1—देखिये, परिशिष्ट 'प।'

कषायसे और ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानोंमें योगसे होता है। इस तरह तेरह गुणस्थानोंमें उसके सब मिलाकर चार हेतु होते हैं।

नरक-त्रिक, जाति-चतुष्क, स्थावर-चतुष्क, हुण्डसंस्थान, आतपनामकर्म, सेवार्त्तसंहनन, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व, इन सोलह प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्व-हेतुक इसलिये कहा गया है कि ये प्रकृतियाँ सिर्फ पहले गुणस्थानमें बाँधी जाती हैं।

तिर्यञ्च-त्रिक, स्त्यानर्द्धि-त्रिक, दुर्भग-त्रिक, अनन्तानुबन्धिचतुष्क, मध्यम संस्थान-चतुष्क, मध्यम संहनन-चतुष्क, नीचगोत्र, उद्योतनामकर्म, अशुभविहायोगति, स्त्रीवेद, वज्रर्षभनाराचसंहनन, मनुष्य-त्रिक, अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क और औदारिक-द्विक, इन पैंतीस प्रकृतियोंका बन्ध द्वि-हेतुक है; क्योंकि ये प्रकृतियाँ पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वसे और दूसरे आदि यथासंभव अगले गुणस्थानोंमें अविरतिसे बाँधी जाती हैं।

सातवेदनीय, नरक-त्रिक आदि उक्त सोलह, तिर्यञ्च-त्रिक आदि उक्त पैंतीस तथा तीर्थङ्करनामकर्म और आहारक-द्विक, इन पचपन प्रकृतियोंको एक सौ बीसमेंसे घटा देनेपर पैंसठ शेष बचती हैं। इन पैंसठ प्रकृतियोंका बन्ध त्रि-हेतुक इस अपेक्षासे समझना चाहिये कि वह पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वसे, दूसरे आदि चार गुणस्थानोंमें अविरतिसे और छठे आदि चार गुणस्थानोंमें कषायसे होता है।

यद्यपि मिथ्यात्वके समय अविरति आदि अगले तीन हेतु, अविरतिके समय कषाय आदि अगले दो हेतु और कषायके समय योगरूप हेतु अवश्य पाया जाता है। तथापि पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वकी, दूसरे आदि चार गुणस्थानोंमें अविरतिकी और छठे आदि चार गुणस्थानोंमें कषायकी प्रधानता तथा अन्य हेतुओंको अप्रधानता है, इस कारण इन गुणस्थानोंमें क्रमशः केवल मिथ्यात्व, अविरति व कषायको बन्ध-हेतु कहा है।

इस जगह तीर्थङ्करनामकर्मके बन्धका कारण सिर्फ सम्यक्त्व और आहारक-द्विकके बन्धका कारण सिर्फ संयम विवक्षित है; इसलिये इन तीन प्रकृतियोंकी गणना कषाय-हेतुक प्रकृतियोंमें नहीं[1] की है ॥५३॥

गुणस्थानोंमें उत्तर बन्ध-हेतुओंका सामान्य तथा विशेष वर्णन[2] ।

[पाँच गाथाओंसे ।]

पणपन्न पन्न तियछहि,-अचत्त गुणचत्त छचउदुगवीसा ।
सोलस दस नव नव स,-त्त हेउणो न उ अजोगिंमि ॥५४॥

१—पञ्चसंग्रह-द्वार ४की १९वीं गाथामें—

"सेसा उ कसाएहिं ।"

इस पदसे तीर्थङ्करनामकर्म और आहारक-द्विक, इन तीन प्रकृतियोंको कषाय-हेतुक माना है तथा अगाड़ीकी २०वीं गाथामें सम्यक्त्वको तीर्थङ्करनामकर्मका और संयमको आहारक-द्विकका विशेष हेतु कहा है। तत्त्वार्थ-अ० ९वेंके १ले सूत्रकी सर्वार्थसिद्धिमें भी इन तीन प्रकृतियोंको कषाय-हेतुक माना है। परन्तु श्रीदेवेन्द्रसूरिने इन तीन प्रकृतियोंके बन्धको कषाय-हेतुक नहीं कहा है। उनका तात्पर्य सिर्फ विशेष हेतु दिखानेका जान पड़ता है, कषायके निषेधका नहीं; क्योंकि सब कर्मके प्रकृति और प्रदेश-बन्धमें योगको तथा स्थिति और अनुभाग-बन्धमें कषायकी कारणता निर्विवाद सिद्ध है। इसका विशेष विचार, पञ्चसंग्रह-द्वार ४की २०वीं गाथाकी श्रीमलयगिरि-टीकामें देखनेयोग्य है।

२—यह विषय, पञ्चसंग्रह-द्वार ४की ५वीं गाथामें तथा गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी ७८९ और ७९०वीं गाथामें है।

उत्तर बन्ध-हेतुके सामान्य और विशेष, ये दो भेद हैं। किसी एक गुणस्थानमें वर्तमान संपूर्ण जीवोंमें युगपत् पाये जानेवाले बन्ध-हेतु, 'सामान्य' और एक जीवमें युगपत् पाये जानेवाले बन्ध-हेतु, 'विशेष' कहलाते हैं। प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थकी ७७वीं गाथामें और इस जगह सामान्य-उत्तर बन्ध-हेतुका वर्णन है; परन्तु पञ्चसंग्रह और गोम्मटसारमें सामान्य और विशेष, दोनों प्रकारके बन्ध-हेतुओंका। पञ्चसंग्रहकी टीकामें यह विषय बहुत स्पष्टतासे समझाया है। विशेष उत्तर बन्ध-हेतुका वर्णन अतिविस्तृत और गम्भीर है।

पञ्चपञ्चाशत् पञ्चाशत् त्रिकषडधिकचत्वारिंशदेकोनचत्वारिंशत् षट्चतुर्द्विविंशतिः।
षोडश दश नव नव सप्त हेतवो नत्वयोगिनि ॥ ५४ ॥

अर्थ—पहले गुणस्थानमें पचपन बन्ध-हेतु हैं, दूसरेमें पचास, तीसरेमें तेतालीस, चौथेमें छयालीस, पाँचवेंमें उन्तालीस, छठेमें छब्बीस, सातवेंमें चौबीस, आठवेंमें बाईस, नौवेंमें सोलह, दसवेंमें दस, ग्यारहवें और बारहवेंमें नौ तथा तेरहवेंमें सात बन्ध-हेतु हैं, चौदहवें गुणस्थानमें बन्ध-हेतु नहीं हैं ॥५४॥

पणपन्न मिच्छि हारग,-दुगूण सासाणि पन्नमिच्छ विणा।
मिस्सदुगकंमअणविणु, तिचत्त मीसे अह छचत्ता ॥५५॥
सदुमिस्सकंम अजए, अविरइकम्मुरलमीसबिकसाये।
मुत्तुगुणचत्त देसे, छवीस साहारदु पमत्ते ॥५६॥
अविरइइगारतिकसा,-यवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया।
चउवीस अपुव्वे पुण, दुवीस अविउव्वियाहारा ॥५७॥

पञ्चपञ्चाशन्मिथ्यात्व आहारकद्विकोनाः सासादने पञ्चमिथ्यात्वानि विना।
मिश्रद्विककार्मणाऽनान्विना, त्रिचत्वारिंशन्मिश्रेऽथ षट्चत्वारिंशत् ॥५५॥
सद्विमिश्रकर्मा अयतेऽविरतिकर्मौदारिकमिश्रद्वितीयकषायान्।
मुक्त्वैकोनचत्वारिंशद्देशे, षड्विंशतिः साहारकद्विकाः प्रमत्ते ॥५६॥
अविरत्येकादशकतृतीयकषायवर्जा अप्रमत्ते मिश्रद्विकरहिता।
चतुर्विंशतिरपूर्वे पुनर्द्वाविंशतिरवैक्रियाहाराः ॥५७॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमें आहारक-द्विकको छोड़कर पचपन बन्ध-हेतु हैं। सासादनगुणस्थानमें पाँच मिथ्यात्वके सिवाय पचास बन्ध-हेतु हैं। मिश्रदृष्टिगुणस्थानमें औदारिकमिश्र, वैक्रियमिश्र,

कार्मण और अनन्तानुबन्धि-चतुष्क, इन सातको छोड़कर तेतालीस बन्ध-हेतु हैं।

अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमें पूर्वोक्त तेतालीस तथा कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये तीन, कुल छयालीस बन्ध-हेतु हैं। देशविरतिगुणस्थानमें कार्मण, औदारिकमिश्र, त्रस-अविरति और अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क, इन सातके सिवाय शेष उन्तालीस बन्ध-हेतु हैं। प्रमत्तसंयतगुणस्थानमें ग्यारह अविरतियाँ, प्रत्याख्याना-वरण-चतुष्क, इन पंद्रहको छोड़कर उक्त उन्तालीसमेंसे चौबीस तथा आहारक-द्विक, कुल छब्बीस बन्ध-हेतु हैं।

अप्रमत्तसंयतगुणस्थानमें पूर्वोक्त छब्बीसमेंसे मिश्र-द्विक (वैक्रिय-मिश्र और आहारकमिश्र) के सिवाय शेष चौबीस बन्ध-हेतु हैं। अपूर्व-करणगुणस्थानमें वैक्रियकाययोग और आहारककाययोगको छोड़-कर बाईस हेतु हैं ॥५५॥ ५६॥ ५७॥

भावार्थ—५१ और ५२वीं गाथामें सत्तावन उत्तर बन्ध-हेतु कहे गये हैं। इनमेंसे आहारक-द्विकके सिवाय शेष पचपन बन्ध-हेतु पहले गुणस्थानमें पाये जाते हैं। आहारक-द्विक संयम-सापेक्ष है और इस गुणस्थानमें संयमका अभाव है, इसलिये इसमें आहारक-द्विक नहीं होता।

दूसरे गुणस्थानमें पाँचों मिथ्यात्व नहीं हैं, इसीसे उनको छोड़-कर शेष पचास हेतु कहे गये हैं। तीसरे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धि-चतुष्क नहीं है, क्योंकि उसका उदय दूसरे गुणस्थान तक ही है तथा इस गुणस्थानके समय मृत्यु न होनेके कारण अपर्याप्त-अवस्था-भावी कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये तीन योग भी नहीं होते। इस प्रकार तीसरे गुणस्थानमें सात बन्ध-हेतु घट जानेसे उक्त पचास-मेंसे शेष तेतालीस हेतु हैं।

चौथा गुणस्थान अपर्याप्त-अवस्थामें भी पाया जाता है; इसलिये इसमें अपर्याप्त-अवस्था-भावी कार्मण, औदारिकमिश्र और वैक्रिय-मिश्र, इन तीन योगोंका संभव है। तीसरे गुणस्थानसंबन्धी तेता-लीस और ये तीन योग, कुल छयालीस बन्ध-हेतु चौथे गुणस्थानमें समझने चाहिये। अप्रत्याख्यानावरण-चतुष्क चौथे गुणस्थान तक ही उदयमान रहता है, आगे नहीं। इस कारण वह पाँचवें गुणस्थानमें नहीं पाया जाता। पाँचवाँ गुणस्थान देशविरतिरूप होनेसे इसमें त्रस-हिंसारूप त्रस-अविरति नहीं है तथा यह गुणस्थान केवल पर्याप्त-अवस्था-भावी है; इस कारण इसमें अपर्याप्त-अवस्था-भावी कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग भी नहीं होते। इस तरह चौथे गुणस्थानसम्बन्धी छयालीस हेतुओंमेंसे उक्त सातके सिवाय शेष उन्तालीस बन्ध-हेतु पाँचवें गुणस्थानमें हैं। इन उन्तालीस हेतु-ओंमें वैक्रियमिश्रकाययोग शामिल है, पर वह अपर्याप्त-अवस्था-भावी नहीं, किन्तु वैक्रियलब्धि-जन्य, जो पर्याप्त-अवस्थामें ही होता है। पाँचवें गुणस्थानके समय संकल्प-जन्य त्रस-हिंसाका संभव ही नहीं है। आरम्भ-जन्य त्रस-हिंसाका संभव है सही, पर बहुत कम; इस-लिये आरम्भ-जन्य अति-अल्प त्रस-हिंसाकी विवक्षा न करके उन्ता-लीस हेतुओंमें त्रस-अविरतिकी गणना नहीं की है।

छठा गुणस्थान सर्वविरतिरूप है; इसलिये इसमें शेष ग्यारह अविरतियाँ नहीं होतीं। इसमें प्रत्याख्यानावरणकषाय-चतुष्क, जिसका उदय पाँचवें गुणस्थान पर्यन्त ही रहता है, नहीं होता। इस तरह पाँचवें गुणस्थान-संबन्धी उन्तालीस हेतुओंमेंसे पंद्रह घटा देने-पर शेष चौबीस रहते हैं। ये चौबीस तथा आहारक-द्विक, कुल छब्बीस हेतु छठे गुणस्थानमें हैं। इस गुणस्थानमें चतुर्दशपूर्व-धारी मुनि आहारकलब्धिके प्रयोगद्वारा आहारकशरीर रचते हैं, इसीसे छब्बीस हेतुओंमें आहारक-द्विक परिगणित है।

वैक्रियशरीरके आरम्भ और परित्यागके समय वैक्रियमिश्र तथा आहारकशरीरके आरम्भ और परित्यागके समय आहारकमिश्र-योग होता है, पर उस समय प्रमत्त-भाव होनेके कारण सातवाँ गुणस्थान नहीं होता। इस कारण इस गुणस्थानके बन्ध-हेतुओंमें ये दो योग नहीं गिने गये हैं।

वैक्रियशरीरवालेको वैक्रियकाययोग और आहारकशरीरवालेको आहारककाययोग होता है। ये दो शरीरवाले अधिकसे अधिक सातवें गुणस्थानके ही अधिकारी हैं; आगेके गुणस्थानोंके नहीं। इस कारण आठवें गुणस्थानके बन्ध-हेतुओंमें इन दो योगोंको नहीं गिना है ॥५५, ५६, ५७॥

अछहास सोल बायरि, सुहुमे दस वेयसंजलणति विणा।
खीणुवसंति अलोभा, सजोगि पुव्वुत्त सगजोगा ॥५८॥

अषड्हासाः षोडश बादरे, सूक्ष्मे दश वेदसंज्वलनत्रिकादिना।
क्षीणोपशान्तेऽलोभाः, सयोगिनि पूर्वोक्तास्सप्तयोगाः ॥५८॥

अर्थ—अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानमें हास्य-षट्कके सिवाय पूर्वोक्त बाईसमेंसे शेष सोलह हेतु हैं। सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानमें तीन वेद और तीन संज्वलन (लोभको छोड़कर)के सिवाय दस हेतु हैं। उपशान्तमोह तथा क्षीणमोह-गुणस्थानोंमें संज्वलनलोभके सिवाय नौ हेतु तथा सयोगिकेवलीगुणस्थानमें सात हेतु हैं; जो सभी योगरूप हैं ॥५८॥

भावार्थ—हास्य-षट्कका उदय आठवेंसे आगेके गुणस्थानोंमें नहीं होता; इसलिये उसे छोड़कर आठवें गुणस्थानके बाईस हेतुओंमें-से शेष सोलह हेतु नौवें गुणस्थानमें समझने चाहिये।

तीन वेद तथा संज्वलन-क्रोध, मान और माया, इन छहका उदय नौवें गुणस्थान तक ही होता है; इस कारण इन्हें छोड़कर शेष दस हेतु दसवें गुणस्थानमें कहे गये हैं।

संज्वलनलोभका उदय दसवें गुणस्थान तक ही रहता है; इस-लिये इसके सिवाय उक्त दसमेंसे शेष नौ हेतु ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानमें पाये जाते हैं। नौ हेतु ये हैं:—चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिककाययोग।

तेरहवें गुणस्थानमें सात हेतु हैं:—सत्य और असत्यामृषमनोयोग, सत्य और असत्यामृषवचनयोग, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग तथा कार्मणकाययोग।

चौदहवें गुणस्थानमें योगका अभाव है; इसलिये इसमें बन्ध-हेतु सर्वथा नहीं है॥ ५८॥



(६)—गुणस्थानोंमें बन्ध।

अपमत्तंता सत्त,-ट्ठ मीसअपुव्वबायरा सत्त।
बंधइ छस्सुहुमो ए,-गमुवरिमा बंधगाऽजोगी ॥५९॥

अप्रमत्तान्तास्सप्ताष्टान् मिश्रापूर्वबादरास्सप्त।
बध्नाति षट् च सूक्ष्म एकमुपरितना अबन्धकोऽयोगी ॥५९॥

अर्थ--अप्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त सात या आठ प्रकृतिओंका बन्ध होता है। मिश्र, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिबादर-गुणस्थानमें सात प्रकृतिओंका, सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानमें छह प्रकृतिओंका और उपशान्तमोह आदि तीन गुणस्थानोंमें एक प्रकृतिका बन्ध होता है। अयोगिकेवलीगुणस्थानमें बन्ध नहीं होना ॥५९॥

भावार्थ—तीसरेके सिवाय पहिलेसे लेकर सातवें तकके छह गुणस्थानोंमें मूल कर्मप्रकृतियाँ सात या आठ बाँधी जाती हैं। आयु बाँधनेके समय आठका और उसे न बाँधनेके समय सातका बन्ध समझना चाहिये।

तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थानमें आयुका बन्ध न होनेके कारण सातका ही बन्ध होता है। आठवें और नौवें गुणस्थानमें परिणाम इतने अधिक विशुद्ध हो जाते हैं कि जिससे उनमें आयु-बन्ध-योग्य परिणाम ही नहीं रहते और तीसरे गुणस्थानका स्वभाव ही ऐसा है कि उसमें आयुका बन्ध नहीं होता।

दसवें गुणस्थानमें आयु और मोहनीयका बन्ध न होनेके कारण छहका बन्ध माना जाता है। परिणाम अतिविशुद्ध हो जानेसे आयु-

१—यहाँसे ६२वीं गाथा तकका विषय, पञ्चसंग्रहके ५वें द्वारकी २री, ३री और ५वीं गाथामें है।

का बन्ध और बादरकषायोदय न होनेसे मोहनीयका बन्ध उसमें वर्जित है।

ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानोंमें केवल सातवेदनीयका बन्ध होता है; क्योंकि उनमें कषायोदय सर्वथा न होनेसे अन्य प्रकृतिओंका बन्ध असंभव है।

सारांश यह है कि तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थानमें सातका ही बन्धस्थान; पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थानमें सातका तथा आठका बन्धस्थान; दसवेंमें छहका बन्धस्थान और ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें एकका बन्धस्थान होता है[1] ॥५९॥



१—यह विचार, नन्दीसूत्रकी ३री गाथाकी श्रीमलयगिरिवृत्तिके ४१वें पृष्ठपर है।

(७–८)—गुणस्थानोंमें सत्ता तथा उदय।

आसुहुमं संतुदये, अट्ठ वि मोह विणु सत्त खीणंमि।
चउ चरिमदुगे अट्ठ उ, संते उवसंति सत्तुदए ॥६०॥

आसूक्ष्मं सदुदयेऽष्टापि मोहं विना सप्त क्षीणे।
चत्वारि चरमद्विकेऽष्ट तु, सत्युपशान्ते सप्तोदये ॥६०॥

अर्थ—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान पर्यन्त आठ कर्मकी सत्ता तथा आठ कर्मका उदय है। क्षीणमोहगुणस्थानमें सत्ता और उदय, दोनों सात कर्मोंके हैं। सयोगिकेवली और अयोगिकेवली-गुणस्थानमें सत्ता और उदय चार कर्मोंके हैं। उपशान्तमोहगुणस्थानमें सत्ता आठ कर्मकी और उदय सात कर्मका है ॥६०॥

भावार्थ—पहले दस गुणस्थानोंमें सत्ता-गत तथा उदयमान आठ कर्म पाये जाते हैं। ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहनीयकर्म सत्ता-गत रहता है, पर उदयमान नहीं; इसलिये उसमें सत्ता आठ कर्मकी और उदय सात कर्मका है। बारहवें गुणस्थानमें मोहनीयकर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है, इसलिये सत्ता और उदय दोनों सात कर्मके हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें सत्ता-गत और उदयमान चार अघातिकर्म ही हैं।

सारांश यह है कि सत्तास्थान पहले ग्यारह गुणस्थानोंमें आठका, बारहवेंमें सातका और तेरहवें और चौदहवेंमें चारका है तथा उदय-स्थान पहले दस गुणस्थानोंमें आठका, ग्यारहवें और बारहवेंमें सात-का और तेरहवें और चौदहवेंमें चारका है ॥६०॥



(९)—गुणस्थानोंमें उदीरणा।

[दो गाथाओंसे।]

उइरंति पमत्तंता, सगट्ठ मीसट्ठ वेयआउ विणा।
छग अपमत्ताइ तओ, छ पंच सुहुमो पणुवसंतो ॥६१॥

उदीरयन्ति प्रमत्तान्ताः, सप्ताष्टानि मिश्रोऽष्ट वेदायुषी विना।
षट्कमप्रमत्तादयस्ततः, षट् पञ्च सूक्ष्मः पञ्चोपशान्तः ॥६१॥

अर्थ—प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त सात या आठ कर्मकी उदीरणा होती है। मिश्रगुणस्थानमें आठ कर्मकी, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिबादर, इन तीन गुणस्थानोंमें वेदनीय तथा आयुके सिवाय छह कर्मकी; सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानमें छह या पाँच कर्मकी और उपशान्तमोहगुणस्थानमें पाँच कर्मकी उदीरणा होती है ॥६१॥

भावार्थ—उदीरणाका विचार समझनेके लिये यह नियम ध्यानमें रखना चाहिये कि जो कर्म उदयमान हो उसीकी उदीरणा होती है, अनुदयमानकी नहीं। उदयमान कर्म आवलिका-प्रमाण शेष रहता है, उस समय उसकी उदीरणा रुक जाती है।

तीसरेको छोड़ प्रथमसे छठे तकके पहले पाँच गुणस्थानोंमें सात या आठ कर्मकी उदीरणा होती है। आयुकी उदीरणा न होनेके समय सात कर्मकी और होनेके समय आठ कर्मकी समझनी चाहिये। उक्त नियमके अनुसार आयुकी उदीरणा उस समय रुक जाती है, जिस समय वर्तमान भवकी आयु आवलिका-प्रमाण शेष रहती है। यद्यपि वर्तमान-भवीय आयुके आवलिकामात्र बाकी रहनेके समय परभवीय आयुकी स्थिति आवलिकासे अधिक होती है तथापि अनु-

दयमान होनेके कारण उसकी उदीरणा उक्त नियमके अनुसार नहीं होती।

तीसरे गुणस्थानमें आठ कर्मकी ही उदीरणा मानी जाती है, क्योंकि इस गुणस्थानमें मृत्यु नहीं होती। इस कारण आयुकी अन्तिम आवलिकामें, जब कि उदीरणा रुक जाती है, इस गुणस्थानका संभव ही नहीं है।

सातवें, आठवें और नौवें गुणस्थानमें छह कर्मकी उदीरणा होती है, आयु और वेदनीय कर्मकी नहीं। इसका कारण यह है कि इन दो कर्मोंकी उदीरणाकेलिये जैसे अध्यवसाय आवश्यक हैं, उक्त तीन गुणस्थानोंमें अतिविशुद्धि होनेके कारण वैसे अध्यवसाय नहीं होते।

दसवें गुणस्थानमें छह अथवा पाँच कर्मकी उदीरणा होती है। आयु और वेदनीयकी उदीरणा न होनेके समय छह कर्मकी तथा उक्त दो कर्म और मोहनीयकी उदीरणा न होनेके समय पाँचकी समझना चाहिये। मोहनीयकी उदीरणा दशम गुणस्थानकी अन्तिम आवलिकामें रुक जाती है। सो इसलिये कि उस समय उसकी स्थिति आवलिका-प्रमाण शेष रहती है।

ग्यारहवें गुणस्थानमें आयु, वेदनीय और मोहनीयकी उदीरणा न होनेके कारण पाँचकी उदीरणा होती है। इस गुणस्थानमें उदयमान न होनेके कारण मोहनीयकी उदीरणा निषिद्ध है ॥६१॥



(१०)-गुणस्थानोंमें अल्प-बहुत्व।

[दो गाथाओंसे।]

पण दो खीण दु जोगी,-णुदीरगु अजोगि थोव उवसंता।
संखगुण खीण सुहुमा,-नियट्टीअपुव्व सम अहिया॥६२॥

पञ्च द्वे क्षीणो द्वे योग्यनुदारकोऽयोगी स्तोका उपशान्ताः।
संख्यगुणाः क्षीणाः सूक्ष्माऽनिवृत्त्यपूर्वाः समा अधिकाः॥ ६२॥

अर्थ—क्षीणमोहगुणस्थानमें पाँच या दो कर्मकी उदीरणा है और सयोगिकेवलीगुणस्थानमें सिर्फ दो कर्मकी। अयोगिकेवली-गुणस्थानमें उदीरणाका अभाव है।

उपशान्तमोहगुणस्थान-वर्ती जीव सबसे थोड़े हैं। क्षीणमोहगुण-स्थान-वर्ती जीव उनसे संख्यातगुण हैं। सूक्ष्मसंपराय, अनिवृत्तिबादर और अपूर्वकरण, इन तीन गुणस्थानोंमें वर्तमान जीव क्षीणमोहगुण-स्थानवालोंसे विशेषाधिक हैं, पर आपसमें तुल्य हैं॥६२॥

भावार्थ—बारहवें गुणस्थानमें अन्तिम आवलिकाको छोड़कर अन्य सब समयमें आयु, वेदनीय और मोहनीयके सिवाय पाँच कर्मकी उदीरणा होती रहती है। अन्तिम आवलिकामें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकी स्थिति आवलिका-प्रमाण शेष रहती है। इसलिये उस समय उनकी उदीरणा रुक जाती है। शेष दो (नाम और गोत्र) की उदीरणा रहती है।

तेरहवें गुणस्थानमें चार अघातिकर्म ही शेष रहते हैं। इनमेंसे आयु और वेदनीयकी उदीरणा तो पहलेसे ही रुकी हुई है। इसी कारण इस गुणस्थानमें दो कर्मकी उदीरणा मानी गई है।

१—यह विषय, पञ्चसंग्रह-द्वार २की ८० और ८१ वी गाथामें है गोम्मटसार-जीव०की ६२२से ६२८ तककी गाथाओंमें कुछ भिन्नरूपसे है।

चौदहवें गुणस्थानमें योगका अभाव है। योगके सिवाय उदीरणा नहीं हो सकती, इस कारण इसमें उदीरणाका अभाव है।

सारांश यह है कि तीसरे गुणस्थानमें आठहीका उदीरणास्थान, पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें और छठेमें सातका तथा आठका, सातवेंसे लेकर दसवें गुणस्थानकी एक आवलिका बाकी रहे तब तक छह-का, दसवेंकी अन्तिम आवलिकासे बारहवें गुणस्थानकी चरम आवलिका शेष रहे तब तक पाँचका और बारहवेंकी चरम आव-लिकासे तेरहवें गुणस्थानके अन्त तक दोका उदीरणास्थान पाया जाता है।

अल्प बहुत्व।

ग्यारहवें गुणस्थानवाले जीव अन्य प्रत्येक गुणस्थानवाले जीवोंसे अल्प हैं; क्योंकि वे प्रतिपद्यमान (किसी विवक्षित समयमें उस अवस्थाको पानेवाले) चौअन और पूर्वप्रतिपन्न (किसी विवक्षित समयके पहिलेसे उस अवस्थाको पाये हुए) एक, दो या तीन आदि पाये जाते हैं। बारहवें गुणस्थानवाले प्रतिपद्यमान उत्कृष्ट एक सौ आठ और पूर्वप्रतिपन्न शत-पृथक्त्व (दो सौसे नौ सौ तक) पाये जाते हैं, इसलिये ये ग्यारहवें गुणस्थानवालोंसे संख्यातगुण कहे गये हैं। उप-शमश्रेणिके प्रतिपद्यमान जीव उत्कृष्ट चौअन और पूर्वप्रतिपन्न एक, दो, तीन आदि तथा क्षपकश्रेणिके प्रतिपद्यमान उत्कृष्ट एक सौ आठ और पूर्वप्रतिपन्न शत-पृथक्त्व माने गये हैं। उभय-श्रेणिवाले सभी आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानमें वर्तमान होते हैं। इसलिये इन तीनों गुणस्थानवाले जीव आपसमें समान हैं; किन्तु बारहवें गुणस्थानवालोंकी अपेक्षा विशेषाधिक हैं ॥६२॥

जोगिअपमत्तइयरे, संखगुणा देससासणामीसा।
अविरय अजोगिमिच्छा, असंख चउरो दुवे णंता ॥६३॥

योग्यप्रमत्तेतरा:, संख्यगुणा देशसासादनमिश्रा: ।
अविरता अयोगिमिथ्यात्वानि असंख्याश्चत्वारो द्वावनन्तौ ॥ ६१ ॥

अर्थ—सयोगिकेवली, अप्रमत्त और प्रमत्तगुणस्थानवाले जीव पूर्व-पूर्वसे संख्यातगुण हैं। देशविरति, सासादन, मिश्र और अविरत-सम्यग्दृष्टि-गुणस्थानवाले जीव पूर्व-पूर्वसे असंख्यातगुण हैं। अयोगिकेवली और मिथ्यादृष्टि-गुणस्थानवाले जीव पूर्व-पूर्वसे अनन्त-गुण हैं ॥६२॥

भावार्थ—तेरहवें गुणस्थानवाले आठवें गुणस्थानवालोंसे संख्यात-गुण इसलिये कहे गये हैं कि ये जघन्य दो करोड़ और उत्कृष्ट नौ करोड़ होते हैं। सातवें गुणस्थानवाले दो हजार करोड़ पाये जाते हैं; इसलिये ये सयोगिकेवलियोंसे संख्यातगुण हैं। छठे गुणस्थानवाले नौ हजार करोड़ तक हो जाते हैं; इसी कारण इन्हें सातवें गुणस्थान-वालोंसे संख्यातगुण माना है। असंख्यात गर्भज-तिर्यञ्च भी देश-विरति पा लेते हैं, इसलिये पाँचवें गुणस्थानवाले छठे गुणस्थानवालों-से असंख्यातगुण हो जाते हैं। दूसरे गुणस्थानवाले देशविरतिवालोंसे असंख्यातगुण कहे गये हैं। इसका कारण यह है कि देशविरति, तिर्यञ्च-मनुष्य दो गतिमें ही होती है, पर सासादनसम्यक्त्व चारों गतिमें। सासादनसम्यक्त्व और मिश्रदृष्टि ये दोनों यद्यपि चारों गतिमें होते हैं परन्तु सासादनसम्यक्त्वकी अपेक्षा मिश्रदृष्टिका काल-मान असंख्यातगुण अधिक है; इस कारण मिश्रदृष्टिवाले सासा-दनसम्यक्त्वियोंकी अपेक्षा असंख्यातगुण होते हैं। चौथा गुणस्थान चारों गतिमें सदा ही पाया जाता है और उसका काल-मान भी बहुत अधिक है, अत एव चौथे गुणस्थानवाले तीसरे गुणस्थानवालोंसे असंख्यातगुण होते हैं। यद्यपि भवस्थ अयोगी, क्षपकश्रेणिवालोंके बराबर अर्थात् शत-पृथक्त्व-प्रमाण ही हैं तथापि अभवस्थ अयोगी

(सिद्ध) अनन्त हैं, इसीसे अयोगिकेवली जीव चौथे गुणस्थानवालों- से अनन्तगुण कहे गये हैं। साधारण वनस्पतिकायिक जीव सिद्धों- से भी अनन्तगुण हैं और वे सभी मिथ्यादृष्टि हैं; इसीसे मिथ्यादृष्टि- वाले चौदहवें गुणस्थानवालोंसे अनन्तगुण हैं।

पहला, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ और तेरहवाँ, ये छह गुण- स्थान लोकमें सदा ही पाये जाते हैं, शेष आठ गुणस्थान कभी नहीं भी पाये जाते; पाये जाते हैं तब भी उनमें वर्तमान जीवोंकी संख्या कभी जघन्य और कभी उत्कृष्ट रहती है। ऊपर कहा हुआ अल्प-बहुत्व उत्कृष्ट संख्याकी अपेक्षासे समझना चाहिये, जघन्य संख्याकी अपे- क्षासे नहीं; क्योंकि जघन्य संख्याके समय जीवोंका प्रमाण उपर्युक्त अल्प-बहुत्वके विपरीत भी हो जाता है। उदाहरणार्थ, कभी ग्यारहवें गुणस्थानवाले बारहवें गुणस्थानवालोंसे अधिक भी हो जाते हैं। सारांश, उपर्युक्त अल्प-बहुत्व सब गुणस्थानोंमें जीवोंके उत्कृष्ट-संख्यक पाये जानेके समय ही घट सकता है ॥६३॥

छह भाव और उनके भेद[1]।

[पाँच गाथाओंसे।]

उवसमखयमीसोदय,-परिणामा दुनवट्ठारइगवीसा।
तिय भेय संनिवाइय, संमं चरणं पढमभावे ॥ ६४ ॥

उपशमक्षयमिश्रोदयपरिणामा द्विनवाष्टादशैकविंशतयः।
त्रया भेदास्सांनिपातिकः, सम्यक्त्वं चरणं प्रथमभावे ॥ ६४ ॥

अर्थ—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक), औदयिक और पारिणामिक, ये पाँच मूल भाव हैं। इनके क्रमशः दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं। छठा भाव सांनिपातिक है। पहले (औपशमिक-) भावके सम्यक्त्व और चारित्र, ये दो भेद हैं ॥६४॥

भावार्थ—भाव, पर्यायको कहते हैं। अजीवका पर्याय अजीवका भाव और जीवका पर्याय जीवका भाव है। इस गाथामें जीवके भाव दिखाये हैं। ये मूल भाव पाँच हैं।

१—औपशमिक-भाव वह है, जो उपशमसे होता है। प्रदेश और विपाक, दोनों प्रकारके कर्मोदयका रुक जाना उपशम है।

२—क्षायिक-भाव वह है, जो कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर प्रगट होता है।

१—यह विचार, अनुयोगद्वारके ११३ से १२७ तकके पृष्ठमें; तत्त्वार्थ-अ० २के १से ७तकके सूत्रमें तथा सूत्रकृताङ्ग-नि०की १०७वीं गाथा तथा उसकी टीकामें है। पञ्चसंग्रह-द्वा० ३की २६वीं गाथामें तथा द्वा० २की ३री गाथाकी टीका तथा सूक्ष्मार्थविचार-सारोद्धारकी ५१से ५७ तककी गाथाओंमें भी इसका विस्तारपूर्वक वर्णन है।

गोम्मटसार-कर्मकाण्डमें इस विषयका 'भावचूलिका' नामक एक खास प्रकरण है। भावोंके भेद-प्रभेदके सम्बन्धमें उसकी ८१२ से ८१९ तककी गाथाएँ द्रष्टव्य हैं। आगे उसमें कई तरहके भङ्ग-जाल दिखाये हैं।

३—क्षायोपशमिक-भाव क्षयोपशमसे प्रगट होता है। कर्मके उदयावलि-प्रविष्ट मन्द रसस्पर्धकका क्षय और अनुदयमान रसस्पर्धककी सर्वघातिनी विपाक-शक्तिका निरोध या देशघातिरूपमें परिणमन व तीव्र शक्तिका मन्द शक्तिरूपमें परिणमन (उपशम), क्षयोपशम है।

४—औदयिक-भाव कर्मके उदयसे होनेवाला पर्याय है।

५—पारिणामिक-भाव स्वभावसे ही स्वरूपमें परिणत होते रहना है।

एक-एक भावको 'मूलभाव' और दो या दोसे अधिक मिले हुए भावोंको 'सांनिपातिक-भाव' समझना चाहिये।

भावोंके उत्तर भेद:—औपशमिक-भावके सम्यक्त्व और चारित्र ये दो ही भेद हैं। (१) अनन्तानुबन्धि-चतुष्कके क्षयोपशम या उपशम और दर्शनमोहनीयकर्मके उपशमसे जो तत्त्व-रुचि-व्यञ्जक आत्म-परिणाम प्रगट होता है, वह 'औपशमिकसम्यक्त्व' है। (२) चारित्र-मोहनीयकी पच्चीस प्रकृतियोंके उपशमसे व्यक्त होनेवाला स्थिरतात्मक परिणाम 'औपशमिकचारित्र' है। यही ग्यारहवें गुणस्थानमें प्राप्त होनेवाला 'यथाख्यातचारित्र' है। औपशमिक-भाव सादि-सान्त है ॥६४॥

बीए केवलजुयलं, संमं दाणाइलद्धि पण चरणं।
तइए सेसुवओगा, पण लद्धी सम्मविरइदुगं ॥ ६५ ॥

द्वितीये केवलयुगलं, सम्यग् दानादिलब्धयः पञ्च चरणम्।
तृतीये शेषोपयोगाः, पञ्च लब्धयः सम्यग्विरतिद्विकम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—दूसरे (क्षायिक-)भावके केवल-द्विक, सम्यक्त्व, दान आदि पाँच लब्धियाँ और चारित्र, ये नौ भेद हैं। तीसरे (क्षायोपशमिक-)

भावके केवल-द्विकको छोड़कर शेष दस उपयोग, दान आदि पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्व और विरति-द्विक, ये अठारह भेद हैं ॥६५॥

भावार्थ—क्षायिक-भावके नौ भेद हैं। इनमेंसे केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो भाव क्रमसे केवलज्ञानावरणीय और केवलदर्शनावरणीय-कर्मके सर्वथा क्षय हो जानेसे प्रगट होते हैं। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, ये पाँच लब्धियाँ क्रमशः दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय-कर्मके सर्वथा क्षय हो जानेसे प्रगट होती हैं। सम्यक्त्व, अनन्तानुबन्धि-चतुष्क और दर्शनमोहनीयके सर्वथा क्षय हो जानेसे व्यक्त होता है। चारित्र, चारित्रमोहनीयकर्मकी सब प्रकृतियोंका सर्वथा क्षय हो जानेपर प्रगट होता है। यही बारहवें गुणस्थानमें प्राप्त होनेवाला 'यथाख्यातचारित्र' है। सभी क्षायिक-भाव कर्म-क्षय-जन्य होनेके कारण 'सादि' और कर्मसे फिर आवृत न हो सकनेके कारण अनन्त हैं।

क्षायोपशमिक-भावके अठारह भेद हैं। जैसेः—बारह उपयोगोंमेंसे केवल-द्विकको छोड़कर शेष दस उपयोग, दान आदि पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्व और देशविरति तथा सर्वविरति-चारित्र। मतिज्ञान-मति-अज्ञान, मतिज्ञानावरणीयके क्षयोपशमसे; श्रुतज्ञान-श्रुत-अज्ञान, श्रुतज्ञानावरणीयकर्मके क्षयोपशमसे; अवधिज्ञान-विभङ्गज्ञान, अवधिज्ञानावरणीयकर्मके क्षयोपशमसे; मनःपर्यायज्ञान, मनःपर्याय-ज्ञानावरणीयकर्मके क्षयोपशमसे और चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन, क्रमसे चक्षुर्दर्शनावरणीय, अचक्षुर्दर्शनावरणीय और अवधिदर्शनावरणीयकर्मके क्षयोपशमसे प्रगट होते हैं। दान आदि पाँच लब्धियाँ दानान्तराय आदि पाँच प्रकारके अन्तरायकर्मके क्षयोपशमसे होती हैं। अनन्तानुबन्धिकषाय और दर्शनमोहनीयके क्षयोपशमसे सम्यक्त्व होता है। अप्रत्याख्यानावरणीयकषायके क्षयोपशमसे देशविरतिका आविर्भाव होता है और प्रत्याख्यानावर-

णीयकषायके क्षयोपशमसे सर्वविरतिका। मति-अज्ञान आदि क्षायोपशमिक-भाव अभव्यके अनादि-अनन्त और विभङ्गज्ञान सादि-सान्त है। मतिज्ञान आदि भाव भव्यके सादि-सान्त और दान आदि लब्धियाँ तथा अचक्षुर्दर्शन अनादि-सान्त हैं ॥ ६५ ॥

अन्नाणमसिद्धत्ता,-संजमलेसाकसायगइवेया।
मिच्छं तुरिए भव्वा,-भव्वत्तजियत्त परिणामे ॥६६॥

अज्ञानमसिद्धत्वाऽसंयमलेश्याकषायगतिवेदाः।
मिथ्यात्वं तुर्ये भव्याऽभव्यत्वजीवत्वानि परिणामे ॥ ६६ ॥

अर्थ—अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम, लेश्या, कषाय, गति, वेद और मिथ्यात्व, ये भेद चौथे (औदयिक) भावके हैं। भव्यत्व, अभव्यत्व और जीवत्व, ये पारिणामिक-भाव हैं ॥६६॥

भावार्थ—औदयिक-भावके इक्कीस[1] भेद हैं। जैसेः—अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम, छह लेश्याएँ, चार कषाय, चार गतियाँ, तीन वेद और मिथ्यात्व। अज्ञानका मतलब ज्ञानका अभाव और मिथ्याज्ञान दोनोंसे है। ज्ञानका अभाव ज्ञानावरणीयकर्मके उदयका और मिथ्याज्ञान मिथ्यात्वमोहनीयकर्मके उदयका फल है; इसलिये दोनों प्रकारका अज्ञान[2] औदयिक है। असिद्धत्व, संसारावस्थाको कहते हैं। यह, आठ

१—निद्रा, सुख, दुःख, हास्य, शरीर आदि असंख्यात भाव, जो भिन्न-भिन्न कर्मके उदयसे होते हैं, वे सभी औदयिक हैं, तथापि इस जगह श्रीउमास्वाति आदि पूर्वाचार्योंके कथनका अनुसरण करके स्थूल दृष्टिसे इक्कीस औदयिक-भाव बतलाये हैं।

२—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञानको पिछली गाथामें क्षायोपशमिक और यहाँ औदयिक कहा है। क्षायोपशमिक इस अपेक्षासे कहा है कि ये उपयोग मतिज्ञानावरणीय आदि कर्मके क्षयोपशम-जन्य है और औदयिक इस अपेक्षासे कहा है कि इनकी अयथार्थताका कारण मिथ्यात्वमोहनीयकर्मका उदय है।

कर्मके उदयका फल है। असंयम, विरतिका अभाव है। यह अप्रत्याख्यानावरणीयकषायके उदयका परिणाम है। मत-भेदसे लेश्याके तीन स्वरूप हैं:-(१) काषायिक-परिणाम, (२) कर्म-परिणति और (३) योग-परिणाम। ये तीनों औदयिक ही हैं; क्योंकि काषायिक-परिणाम कषायके उदयका, कर्म-परिणति कर्मके उदयका और योग-परिणाम शरीरनाम-कर्मके उदयका फल है। कषाय, कषायमोहनीयकर्मके उदयसे होता है। गतियाँ गतिनामकर्मके उदय-जन्य हैं। द्रव्य और भाव दोनों प्रकारका वेद औदयिक है। आकृतिरूप द्रव्यवेद अङ्गोपाङ्गनामकर्मके उदयसे और अभिलाषारूप भाववेद वेदमोहनीयके उदयसे होता है। मिथ्यात्व, अविवेकपूर्ण गाढतम मोह है, जो मिथ्यात्वमोहनीयकर्मके उदयका परिणाम है। औदयिक-भाव अभव्यके अनादि-अनन्त और भव्यके बहुधा अनादि-सान्त है।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व, ये तीन पारिणामिक-भाव हैं। प्राण धारण करना जीवत्व है। यह भाव संसारी और सिद्ध सब जीवोंमें मौजूद होनेके कारण भव्यत्व और अभव्यत्वकी अपेक्षा व्यापक (अधिक-देश-स्थायी) है। भव्यत्व सिर्फ भव्य जीवोंमें और अभव्यत्व सिर्फ अभव्य जीवोंमें है। पारिणामिक-भाव अनादि-अनन्त है।

पाँच भावोंके सब मिलाकर त्रेपन भेद होते हैं:—औपशमिकके दो, क्षायिकके नौ, क्षायोपशमिकके अठारह, औदयिकके इक्कीस और पारिणामिकके तीन ॥६६॥

चउ चउगईसु मीसग,-परिणामुदएहिं चउ सखइएहिं।
उवसमजुएहिं वा चउ, केवलि परिणामुदयखइए ॥६७॥
खयपरिणामे सिद्धा, नराण पणजोगुवसमसेढीए।
इय पनर संनिवाइय,-भेया वीसं असंभविणो ॥ ६८ ॥

चत्वारश्चतुर्गतिषु मिश्रकपरिणामोदयैश्चत्वारः सक्षायिकैः।
उपशमयुतैर्वा चत्वारः, केवली परिणामोदयक्षायिके ॥
क्षयपरिणामे सिद्धा, नराणां पञ्चयोग उपशमश्रेण्याम्।
इति पञ्चदश सांनिपातिकभेदा विंशतिरसंभविनः ॥ ६८ ॥

अर्थ—क्षायोपशमिक, पारिणामिक और औदयिक, इन तीन भावोंका त्रिक-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव चार गतिमें पाये जानेके कारण चार प्रकारका है। उक्त तीन और एक क्षायिक, इन चार भावोंका चतुः-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव तथा उक्त तीन और एक औपशमिक, इन चारका चतुः-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव चार गतिमें होता है। इसलिये ये दो सांनिपातिक-भाव भी चार-चार प्रकारके हैं। पारिणामिक, औदयिक और क्षायिकका त्रिक-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव सिर्फ शरीरधारी केवलज्ञानीको होता है। क्षायिक और पारिणामिकका द्विक-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव सिर्फ सिद्ध जीवोंमें पाया जाता है। पाँचों भावका पञ्च-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव, उपशमश्रेणिवाले मनुष्योंमें ही होता है। उक्त रीतिसे छह सांनिपातिक-भावोंके पंद्रह भेद होते हैं। शेष बीस सांनिपातिक-भाव असंभवी अर्थात् शून्य हैं। ॥६७॥६८॥

भावार्थ—औपशमिक आदि पाँच भावोंमेंसे दो, तीन, चार या पाँच भावोंके मिलनेपर सांनिपातिक-भाव होता है। दो भावोंके मेलसे होनेवाला सांनिपातिक 'द्विक-संयोग', तीन भावोंके मेलसे होनेवाला 'त्रिक-संयोग', चार भावोंके मेलसे होनेवाला 'चतुस्संयोग' और पाँच भावोंके मेलसे होनेवाला 'पञ्च-संयोग' कहलाता है।

द्विक-संयोगके दस भेदः—

१—औपशमिक + क्षायिक।

२—औपशमिक + क्षायोपशमिक।

३—औपशमिक + औदयिक।
४—औपशमिक + पारिणामिक।
५—क्षायिक + क्षायोपशमिक।
६—क्षायिक + औदयिक।
७—क्षायिक + पारिणामिक।
८—क्षायोपशमिक + औदयिक।
९—क्षायोपशमिक + पारिणामिक।
१०—औदयिक + पारिणामिक।

त्रिक-संयोगके दस भेदः—

१—औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक।
२—औपशमिक + क्षायिक + औदयिक।
३—औपशमिक + क्षायिक + पारिणामिक।
४—औपशमिक + क्षायोपशमिक + औदयिक।
५—औपशमिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक।
६—औपशमिक + औदयिक + पारिणामिक।
७—क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक।
८—क्षायिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक।
९—क्षायिक + औदयिक + पारिणामिक।
१०—क्षायोपशमिक + पारिणामिक + औदयिक।

चतुः-संयोगके पाँच भेदः—

१—औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक।
२—औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक।
३—औपशमिक + क्षायिक + औदयिक + पारिणामिक।
४—औपशमिक + क्षायोपशमिक + औदयिक + पारिणामिक।
५—क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक + पारिणामिक।

पञ्च-संयोगका एक भेद: —

१—औपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + औदयिक + पारिणामिक

सब मिलाकर सांनिपातिक-भावके छब्बीस भेद हुए। इनमेंसे जो छह भेद जीवोंमें पाये जाते हैं, उन्हींको इन दो गाथाओंमें दिखाया है।

त्रिक-संयोगके उक्त दस भेदोंमेंसे दसवाँ भेद, जो क्षायोपशमिक, पारिणामिक और औदयिकके मेलसे बना है, वह चारों गतिमें पाया जाता है। सो इस प्रकार:—चारों गतिके जीवोंमें क्षायोपशमिक-भाव भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक-भाव जीवत्व आदिरूप और औदयिक-भाव कषाय आदिरूप है। इस तरह इस त्रिक-संयोगके गति-रूप स्थान-भेदसे चार भेद हुए।

चतुः-संयोगके उक्त पाँच भेदोंमेंसे पाँचवाँ भेद चारों गतिमें पाया जाता है; इसलिये इसके भी स्थान-भेदसे चार भेद होते हैं। चारों गतिमें क्षायिक-भाव क्षायिकसम्यक्त्वरूप, क्षायोपशमिक-भाव भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक-भाव जीवत्व आदिरूप और औदयिक-भाव कषाय आदिरूप है।

चतुः-संयोगके पाँच भेदोंमेंसे चौथा भेद चारों गतिमें पाया जाता है। चारों गतिमें औपशमिक-भाव सम्यक्त्वरूप, क्षायोपशमिक-भाव भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक-भाव जीवत्व आदिरूप और औदयिक-भाव कषाय आदिरूप समझना चाहिये। इस चतुः-संयोग सांनिपातिकके भी गतिरूप स्थान-भेदसे चार भेद हुए।

त्रिक-संयोगके उक्त दस भेदोंमेंसे नौवाँ भेद सिर्फ भवस्थ केवलियोंमें होता है; इसलिये वह एक ही प्रकारका है। केवलियोंमें पारिणामिक-भाव जीवत्व आदिरूप, औदयिक-भाव गति आदिरूप और क्षायिक-भाव केवलज्ञान आदिरूप है।

द्विक-संयोगके उक्त दस भेदोंमेंसे सातवाँ भेद सिर्फ सिद्ध जीवोंमें पाये जानेके कारण एक ही प्रकारका है। सिद्धोंमें पारिणामिक-

भाव जीवत्व आदिरूप और क्षायिक-भाव केवलज्ञान आदिरूप है।

पञ्च-संयोगरूप सांनिपातिक-भाव सिर्फ उपशमश्रेणिवाले मनुष्योंमें होता है। इस कारण वह एक ही प्रकारका है: उपशमश्रेणिवाले मनुष्योंमें क्षायिक-भाव सम्यक्त्वरूप, औपशमिक-भाव चारित्ररूप, क्षायोपशमिक-भाव भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक-भाव जीवत्व आदिरूप और औदयिक-भाव लेश्या आदिरूप है।

इस प्रकार जो छह सांनिपातिक-भाव संभववाले हैं, इनके ऊपर लिखे अनुसार स्थान-भेदसे सब मिलाकर पन्द्रह भेद होते हैं॥६७॥६८॥

कर्मके[1] और धर्मास्तिकाय आदि अजीवद्रव्योंके भाव।

मोहेव समो मीसो, चउघाइसु अट्ठकंमसु च सेसा।
धम्माइ पारिणामिय,-भावे खंधा उदइए वि॥ ६९॥

मोह एव शमो मिश्रश्चतुर्घातिष्वष्टकर्मसु च शेषाः।
धर्मादि पारिणामिकभावे स्कन्धा उदयेऽपि॥ ६९॥

अर्थ—औपशमिक[2]-भाव मोहनीयकर्मके ही होता है। मिश्र (क्षायोपशमिक) भाव चार घातिकर्मोंके ही होता है। शेष तीन (क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक) भाव आठों कर्मके होते हैं।

धर्मास्तिकाय आदि अजीवद्रव्यके पारिणामिक-भाव हैं: किन्तु पुद्गल-स्कन्धके औदयिक और पारिणामिक, ये दो भाव हैं॥६९॥

भावार्थ—कर्मके सम्बन्धमें औपशमिक आदि भावोंका मतलब

१—कर्मके भाव, पञ्चसंग्रह द्वा० ३की २५वीं गाथामें वर्णित हैं।

२—औपशमिक शब्दके दो अर्थ हैं:—

(१) कर्मकी उपशम आदि अवस्थाएँ ही औपशमिक आदि भाव हैं। यह, अर्थ कर्मके भावोंमें लागू पड़ता है।

(२) कर्मकी उपशम आदि अवस्थाओंसे होनेवाले पर्याय औपशमिक आदि भाव हैं। यह अर्थ, जीवके भावोंमें लागू पड़ता है, जो ६४ और ६६वीं गाथामें बतलाये हैं।

उसकी अवस्था-विशेषोंसे है। जैसेः—कर्मकी उपशम-अवस्था उसका औपशमिक-भाव, क्षयोपशम-अवस्था क्षायोपशमिक-भाव, क्षय-अवस्था क्षायिक-भाव, उदय-अवस्था औदयिक-भाव और परिणमन-अवस्था पारिणामिक-भाव है।

उपशम-अवस्था मोहनीयकर्मके सिवाय अन्य कर्मोंकी नहीं होती; इसलिये औपशमिक-भाव मोहनीयकर्मका ही कहा गया है। क्षयोपशम चार घातिकर्मका ही होता है; इस कारण क्षायोपशमिक-भाव घातिकर्मका ही माना गया है। विशेषता इतनी है कि केवलज्ञानावरणीय और केवलदर्शनावरणीय, इन दो घातिकर्म-प्रकृतिओंके विपाकोदयका निरोध न होनेके कारण इनका क्षयोपशम नहीं होता। क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक, ये तीन भाव आठों कर्मके हैं; क्योंकि क्षय, परिणमन और उदय, ये तीन अवस्थाएँ आठों कर्मकी होती हैं। सारांश यह है कि मोहनीयकर्मके पाँचों भाव, मोहनीयके सिवाय तीन घातिकर्मके चार भाव और चार अघातिकर्मके तीन भाव हैं।

अजीवद्रव्यके भाव।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय, ये पाँच अजीवद्रव्य हैं। पुद्गलास्तिकायके सिवाय शेष चार अजीवद्रव्योंके पारिणामिक-भाव ही होता है। धर्मास्तिकाय, जीव-पुद्गलोंकी गतिमें सहायक बननेरूप अपने कार्यमें अनादि कालसे परिणत हुआ करता है। अधर्मास्तिकाय, स्थितिमें सहा-

१—पारिणामिक शब्दका 'स्वरूप-परिणमन', यह एक ही अर्थ है, जो सब द्रव्योंमें लागू पड़ता है। जैसेः—कर्मका जीव-प्रदेशोंके साथ विशिष्ट सम्बन्ध होना या द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदि भिन्न-भिन्न निमित्त पाकर अनेकरूपमें संक्रान्त (परिवर्तित) होते रहना कर्मका पारिणामिक-भाव है। जीवका परिणमन जीवत्वरूपमें, भव्यत्वरूपमें या अभव्यत्वरूपमें स्वतः बने रहना है। इसी तरह धर्मास्तिकाय आदि द्रव्योंमें समझ लेना चाहिये।

यक बननेरूप कार्यमें; आकाशास्तिकाय, अवकाश देनेरूप कार्यमें और काल, समय-पर्यायरूप स्व-कार्यमें अनादि कालसे परिणमन किया करता है। पुद्गलद्रव्यके पारिणामिक और औदयिक, ये दो भाव हैं। परमाणु-पुद्गलका तो केवल पारिणामिक-भाव है; पर स्कन्धरूप पुद्गलके पारिणामिक और औदयिक, ये दो भाव हैं। स्कन्धोंमें भी द्व्यणुकादि सादि स्कन्ध पारिणामिक-भाववाले ही हैं, लेकिन औदारिक आदि शरीररूप स्कन्ध पारिणामिक-औदयिक दो भाववाले हैं। क्योंकि ये स्व-स्व-रूपमें परिणत होते रहनेके कारण पारिणामिक-भाववाले और औदारिक आदि शरीरनामकर्मके उदय-जन्य होनेके कारण औदयिक-भाववाले हैं।

पुद्गलद्रव्यके दो भाव कहे हुए हैं, सो कर्म-पुद्गलसे भिन्न पुद्गलके समझने चाहिये। कर्म-पुद्गलके तो औपशमिक आदि पाँचों भाव हैं, जो ऊपर बतलाये गये हैं ॥६९॥

(११)—गुणस्थानोंमें मूल भाव।

(एक जीवकी अपेक्षासे।)

संमाइचउसु तिग चउ, भावा चउ पणुवसामगुवसंते।
चउ खीणापुव्व तिन्नि, सेसगुणट्ठाणगेगजिए ॥७०॥

सम्यगादिचतुर्षु त्रयश्चत्वारो, भावाश्चत्वारः पञ्चोपशमकोपशान्ते।
चत्वारः क्षीणाऽपूर्वे त्रयः, शेषगुणस्थानक एकजीवे ॥ ७० ॥

अर्थ—एक जीवको सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमें तीन या चार भाव होते हैं। उपशमक (नौवें और दसवें) और उपशान्त (ग्यारहवें) गुणस्थानमें चार या पाँच भाव होते हैं। क्षीणमोह तथा अपूर्व-

१—देखिये, परिशिष्ट 'फ।'

करण-गुणस्थानमें चार भाव होते हैं और शेष सब गुणस्थानोंमें तीन भाव ॥७०॥

भावार्थ[1]—चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें, इन चार गुणस्थानोंमें तीन या चार भाव हैं। तीन भाव ये हैं:—(१) औदयिकः—मनुष्य आदि गति; (२) पारिणामिकः–जीवत्व आदि और (३) क्षायोपशमिकः-भावेन्द्रिय, सम्यक्त्व आदि। ये तीन भाव क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-के समय पाये जाते हैं। परन्तु जब क्षायिक या औपशमिक-सम्यक्त्व हो, तब इन दोमेंसे कोई-एक सम्यक्त्व तथा उक्त तीन, इस प्रकार चार भाव समझने चाहिये।

नौवें, दसवें और ग्यारहवें, इन तीन गुणस्थानोंमें चार या पाँच भाव पाये जाते हैं। चार भाव उस समय, जब कि औपशमिक-सम्यक्त्वी जीव उपशमश्रेणिवाला हो। चार भावमें तीन तो उक्त ही और चौथा औपशमिक-सम्यक्त्व व चारित्र। पाँचमें उक्त तीन, चौथा क्षायिकसम्यक्त्व और पाँचवाँ औपशमिकचारित्र।

आठवें और बारहवें, इन दो गुणस्थानोंमें चार भाव होते हैं। आठवेंमें उक्त तीन और औपशमिक और क्षायिक, इन दोमेंसे कोई-एक सम्यक्त्व, ये चार भाव समझने चाहिये। बारहवेंमें उक्त तीन और चौथा क्षायिकसम्यक्त्व व क्षायिकचारित्र, ये चार भाव।

शेष पाँच (पहले, दूसरे, तीसरे, तेरहवें और चौदहवें) गुण-स्थानोंमें तीन भाव हैं। पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें औद-यिकः—मनुष्य आदि गति; पारिणामिकः—जीवत्व आदि और क्षायो-पशमिकः—भावेन्द्रिय आदि, ये तीन भाव हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें औदयिकः—मनुष्यत्व; पारिणामिकः—जीवत्व और क्षायिकः—ज्ञान आदि, ये तीन भाव हैं ॥७०॥

१—देखिये, परिशिष्ट 'ब।'

(१२)—संख्याका विचार ।

[सोलह गाथाओंसे ।]

संख्याके भेद-प्रभेद ।

संखिज्जेगमसंखं, परित्तजुत्तनियपयजुयं तिविहं ।
एवमणंतं पि तिहा, जहन्नमज्झुक्कसा सव्वे ॥ ७१ ॥

संख्येयमेकमसंख्यं, परित्तयुक्तनिजपदयुतं त्रिविधम् ।
एवमनन्तमपि त्रिधा, जघन्यमध्योत्कृष्टानि सर्वाणि ॥ ७१ ॥

अर्थ—संख्यात एक है। असंख्यातके तीन भेद हैं:—(१) परीत्त, (२) युक्त और (३) निजपदयुक्त अर्थात् असंख्यातासंख्यात । इसी तरह अनन्तके भी तीन भेद हैं । इन सबके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ये तीन-तीन भेद हैं ॥७१॥

भावार्थ—शास्त्रमें संख्या तीन प्रकारकी बतलायी है-(१) संख्यात, (२) असंख्यात और (३) अनन्त । संख्यातका एक प्रकार, असंख्यातके तीन और अनन्तके तीन, इस तरह संख्याके कुल सात भेद हैं । प्रत्येक भेदके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट-रूपसे तीन-तीन भेद करने-

१—संख्या-विषयक विचार, अनुयोग-द्वारके २३४ से लेकर २४१वें पृष्ठ तक है । और लोकप्रकाश-सर्ग १के १२२ से लेकर २१२वे श्लोक तकमें है । अनुयोगद्वार सूत्रमें सैद्धान्तिक-मत है । उसकी टीकामें मलधारी श्रीहेमचन्द्रसूरिने कार्मग्रन्थिक-मतका भी उल्लेख किया है । लोकप्रकाशमें दोनों मत संगृहीत हैं ।

श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ति-विरचित त्रिलोकसारकी १३से लेकर ५१ तककी गाथाओंमें संख्याका विचार है । उसमें पल्यके स्थानमें 'कुण्ड' शब्द प्रयुक्त है; वर्णन भी कुछ जुदे ढंगसे है । उसका वर्णन कार्मग्रन्थिक-मतसे मिलता है ।

'असंख्यात' शब्द बौद्ध-साहित्यमें है, जिसका अर्थ '१'के अङ्कपर एक सौ चालीस शून्य जितनी संख्या है । इसकेलिये देखिये, चिल्डर्न्स पाली-अँगरेजी कोषका ५६वाँ पृष्ठ ।

पर इक्कीस भेद होते हैं। सो इस प्रकारः—(१) जघन्य संख्यात, (२) मध्यम संख्यात और (३) उत्कृष्ट संख्यात; (४) जघन्य परीत्तासंख्यात, (५) मध्यम परीत्तासंख्यात और (६) उत्कृष्ट परीत्तासंख्यात; (७) जघन्य युक्तासंख्यात, (८) मध्यम युक्तासंख्यात और (९) उत्कृष्ट युक्तासंख्यात; (१०) जघन्य असंख्यातासंख्यात, (११) मध्यम असंख्यातासंख्यात और (१२) उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात; (१३) जघन्य परीत्तानन्त, (१४) मध्यम परीत्तानन्त और (१५) उत्कृष्ट परीत्तानन्त; (१६) जघन्य युक्तानन्त, (१७) मध्यम युक्तानन्त और (१८) उत्कृष्ट युक्तानन्त; (१९) जघन्य अनन्तानन्त, (२०) मध्यम अनन्तानन्त और (२१) उत्कृष्ट अनन्तानन्त ॥७१॥

संख्यातके तीन भेदोंका स्वरूप।

लहु संखिज्जं दुच्चिय, अओ परं मज्झिमं तु जा गुरुअं।
जंबूदीव पमाणय,-चउपल्लपरूवणाइ इमं ॥ ७२ ॥

लघु संख्येयं द्वावेवाऽतः परं मध्यमन्तु यावद्गुरुकम्।
जम्बूद्वीपप्रमाणकचतुष्पल्यप्ररूपणयेदम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—दोकी ही संख्या लघु (जघन्य) संख्यात है। इससे आगे तीनसे लेकर उत्कृष्ट संख्यात तककी सब संख्याएँ मध्यम संख्यात है। उत्कृष्ट संख्यातका स्वरूप जम्बूद्वीप-प्रमाण पल्योंके निरूपणसे जाना जाता है ॥७२॥

भावार्थ—संख्याका मतलब भेद (पार्थक्य)से है अर्थात् जिसमें भेद प्रतीत हो, वही संख्या है। एकमें भेद प्रतीत नहीं होता; इसलिये सबसे कम होनेपर भी एकको जघन्य संख्यात नहीं कहा है। पार्थक्यकी प्रतीति दो आदिमें होती है; इसलिये वे ही संख्याएँ हैं। इनमेंसे दोकी संख्या जघन्य संख्यात और तीनसे लेकर उत्कृष्ट

संख्यात तक बीचकी सब संख्याएँ मध्यम संख्यात हैं। शास्त्रमें उत्कृष्ट संख्यातका स्वरूप जाननेके लिये पल्योंकी कल्पना है, जो अगली गाथाओंमें दिखायी है ॥७२॥

पल्योंके नाम तथा प्रमाण।

पल्लाणवट्ठियसला,ग-पडिसलागामहासलागक्खा।
जोयणसहस्सोगाढा, सवेइयंता ससिहभरिया ॥७३॥

पल्या अनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकाख्या:।
योजनसहस्रावगाढा:, सवेदिकान्ता: सशिखभृता: ॥ ७३ ॥

अर्थ—चार पल्यके नाम क्रमशः अनवस्थित, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका हैं। चारों पल्य गहराईमें एक हजार योजन और ऊँचाईमें जम्बूद्वीपकी पद्मवर वेदिका पर्यन्त अर्थात् साढ़े आठ योजन प्रमाण समझने चाहिये। इन्हें शिखा पर्यन्त सरसोंसे पूर्ण करनेका विधान है ॥ ७३ ॥

भावार्थ—शास्त्रमें सत् और असत् दो प्रकारकी कल्पना होती है। जो कार्यमें परिणत की जा सके, वह 'सत्कल्पना', और जो किसी वस्तुका स्वरूप समझनेमें उपयोगीमात्र, पर कार्यमें परिणत न की जा सके, वह 'असत्कल्पना'। पल्योंका विचार असत्कल्पना है; इसका प्रयोजन उत्कृष्ट संख्यातका स्वरूप समझानामात्र है।

शास्त्रमें पल्य चार कहे गये हैं:—(१) अनवस्थित, (२) शलाका, (३) प्रतिशलाका और (४) महाशलाका। इनकी लम्बाई-चौड़ाई जम्बूद्वीपके बराबर—एक-एक लाख योजनकी, गहराई एक हजार योजनकी और ऊँचाई पद्मवर वेदिका-प्रमाण अर्थात् साढे आठ योजनकी कही हुई है। पल्यकी गहराई तथा ऊँचाई मेरुकी समतल भूमिसे समझना चाहिये। सारांश, ये कल्पित पल्य तलसे शिखा तकमें १००८½ योजन लिये जाते हैं।

अनवस्थितपल्य अनेक बनते हैं। इन सबकी लम्बाई-चौड़ाई एकसी नहीं है। पहला अनवस्थित (मूलानवस्थित) की लम्बाई-चौड़ाई लाख योजनकी और आगेके सब अनवस्थित (उत्तरानवस्थित) की लम्बाई-चौड़ाई अधिकाधिक है। जैसे:—जम्बूद्वीप-प्रमाण मूलानवस्थित पल्यको सरसोंसे भर देना और जम्बूद्वीप-से लेकर आगेके हर एक द्वीपमें तथा समुद्रमें उन सरसोंमेंसे एक-एकको डालते जाना। इस प्रकार डालते-डालते जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें मूलानवस्थित पल्य खाली हो जाय, जम्बूद्वीप (मूल-स्थान)से उस द्वीप या उस समुद्र तककी लम्बाई-चौड़ाईवाला नया पल्य बना लिया जाय। यही पहला उत्तरानवस्थित है।

इस पल्यमें भी ठाँस कर सरसों भरना और इन सरसोंमेंसे एक-एकको आगेके प्रत्येक द्वीपमें तथा समुद्रमें डालते जाना। डालते-डालते जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें इस पहले उत्तरानवस्थित-पल्यके सब सर्षप समाप्त हो जायँ, मूल स्थान (जम्बूद्वीप)से उस सर्षप-समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र पर्यन्त लम्बा–चौड़ा पल्य फिरसे बना लेना, यह दूसरा उत्तरानवस्थितपल्य है।

इसे भी सर्षपोंसे भर देना और आगेके प्रत्येक द्वीपमें तथा समुद्रमें एक-एक सर्षपको डालते जाना। ऐसा करनेसे दूसरे उत्तरा-नवस्थितपल्यके सर्षपोंकी समाप्ति जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें हो जाय, मूल स्थानसे उस सर्षप-समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र पर्यन्त विस्तृत पल्य फिरसे बनाना. यह तीसरा उत्तरानवस्थितपल्य है। इसको भी सर्षपोंसे भरना तथा आगेके द्वीप, समुद्रमें एक-एक सर्षप डालकर खाली करना। फिर मूल स्थानसे सर्षप-समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र पर्यन्त विस्तृत पल्य बना लेना और उसे भी सर्षपोंसे भरना तथा उक्त विधिके अनुसार खाली करना। इस प्रकार जितने उत्तरानवस्थितपल्य बनाये जाते हैं,

वे सभी प्रमाणमें पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा बड़े-बड़े ही होते जाते हैं। परिमाणकी अनिश्चितताके कारण इन पल्योंका नाम 'अनवस्थित' रक्खा गया है। यह ध्यानमें रखना चाहिये कि अनवस्थितपल्य लम्बाई-चौड़ाईमें अनियत होनेपर भी ऊँचाईमें नियत ही अर्थात् १००८$\frac{1}{2}$ योजन मान लिये जाते हैं।

अनवस्थितपल्योंको कहाँ तक बनाना? इसका खुलासा आगेकी गाथाओंसे हो जायगा।

प्रत्येक अनवस्थितपल्यके खाली हो जानेपर एक-एक सर्षप शलाकापल्यमें डाल दिया जाता है। अर्थात् शलाका पल्यमें डाले गये सर्षपोंकी संख्यासे यही जाना जाता है कि इतनी दफ़ा उत्तरानवस्थितपल्य खाली हुए।

हर एक शलाकापल्यके खाली होनेके समय एक-एक सर्षप प्रतिशलाकापल्यमें डाला जाता है। प्रतिशलाकापल्यके सर्षपोंकी संख्यासे यह विदित होता है कि इतनी बार शलाकापल्य भरा गया और खाली हुआ।

प्रतिशलाकापल्यके एक-एक बार भर जाने और खाली हो जानेपर एक-एक सर्षप महाशलाकापल्यमें डाल दिया जाता है, जिससे यह जाना जा सकता है कि इतनी दफ़ा प्रतिशलाकापल्य भरा गया और खाली किया गया ॥ ७३ ॥

पल्योंके भरने आदिकी विधि।

तादीवुदहिसु इक्कि, क्कसरिसवं खिवि य निट्ठिए पढमे।
पढमं व तदन्तं चिय, पुण भरिए तंमि तह खीणे ॥७४॥
खिप्पइ सलागपल्ले,-गु सरिसवो इय सलागखवणेणं।
पुन्नो बीयो य तओ, पुव्विं पि व तंमि उद्धरिए ॥७५॥

खीणे सलाग तइए, एवं पढमेहिं बीययं भरसु।
तेहिं तइयं तेहिय, तुरियं जा किर फुडा चउरो ॥७६॥

तावद्द्वीपोदधिष्वेकैकसर्षपं क्षिप्त्वा निष्ठिते प्रथमे।
प्रथममिव तदन्तमेव पुनर्भृते तस्मिन्तथा क्षीणे ॥ ७४ ॥
क्षिप्यते शलाकापल्ये एकस्सर्षप इति शलाकाक्षपणेन।
पूर्णो द्वितीयश्च ततः पूर्वमिव तस्मिन्नुद्धृते ॥ ७५ ॥
क्षीणे शलाका तृतीये एवं प्रथमैर्द्वितीयं भर।
तैस्तृतीयं तैश्च तुर्यं यावत्किल स्फुटाश्चत्वारः ॥ ७६ ॥

अर्थ—पूर्ण अनवस्थितपल्यमेंसे एक-एक सर्षप द्वीप-समुद्रमें डालना चाहिये, जिस द्वीप या समुद्रमें सर्षप समाप्त हो जायँ, उस द्वीप या समुद्र पर्यन्त विस्तीर्ण नया अनवस्थितपल्य बनाकर उसे सर्षपोंसे भरना चाहिये।

इनमेंसे एक-एक सर्षप द्वीप-समुद्रमें डालनेपर जब अनवस्थित-पल्य खाली हो जाय, तब शलाकापल्यमें एक सर्षप डालना चाहिये। इस तरह एक-एक सर्षप डालनेसे जब दूसरा शलाकापल्य भर जाय, तब उसे पूर्वकी तरह उठाना चाहिये।

उठाकर उसमेंसे एक-एक सर्षप निकालकर उसे खाली करना और प्रतिशलाकामें एक सर्षप डालना चाहिये। इस प्रकार अन-वस्थितसे शलाकाको और अनवस्थित-शलाका दोनोंसे तीसरे (प्रतिशलाका)को और पहले तीन पल्यसे चौथे (महाशलाका) पल्यको भर देना चाहिये। इस तरह चारों पल्योंको परिपूर्ण भर देना चाहिये ॥७४-७६॥

भावार्थ—सबसे पहिले लक्ष-योजन-प्रमाण मूल अनवस्थित-पल्यको सर्षपोंसे भरना और उन सर्षपोंमेंसे एक-एक सर्षपको

जम्बूद्वीप आदि प्रत्येक द्वीप तथा समुद्रमें डालना चाहिये, इस रीतिसे एक-एक सर्षप डालनेसे जिस द्वीप या समुद्रमें मूल अनवस्थितपल्य बिलकुल खाली हो जाय, जम्बूद्वीपसे (मूल स्थानसे) उस सर्षप-समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र तक लम्बा-चौड़ा नया पल्य बना लेना चाहिये, जो ऊँचाईमें पहले पल्यके बराबर ही हो। फिर इस उत्तरानवस्थितपल्यको सर्षपोंसे भर देना और एक-एक सर्षपको आगेके द्वीप-समुद्रमें डालना चाहिये। इस प्रकार एक-एक सर्षप निकालनेसे जब यह पल्य भी खाली हो जाय, तब इस प्रथम उत्तरानवस्थितपल्यके खाली हो जानेका सूचक एक सर्षप शलाका नामके पल्यमें डालना। जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें प्रथम उत्तरानवस्थित खाली हो जाय, मूल स्थान (जम्बूद्वीपसे) उस द्वीप या समुद्र तक विस्तीर्ण अनवस्थितपल्य फिर बनाना तथा उसे सर्षपोंसे भरकर आगेके द्वीप-समुद्रमें एक-एक सर्षप डालना चाहिये। उसके बिलकुल खाली हो जानेपर समाप्ति-सूचक एक सर्षप शलाकापल्यमें फिरसे डालना चाहिये। इस तरह जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें अन्तिम सर्षप डाला गया हो, मूल स्थानसे उस सर्षप-समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र तक विस्तीर्ण एक-एक अनवस्थितपल्य बनाते जाना और उसे सर्षपोंसे भर कर उक्त विधिके अनुसार खाली करते जाना और एक-एक अनवस्थित-पल्यके खाली हो चुकनेपर एक-एक सर्षप शलाकापल्यमें डालते जाना। ऐसा करनेसे जब शलाकापल्य सर्षपोंसे पूर्ण हो जाय, तब मूल स्थानसे अन्तिम सर्षपवाले स्थान तक विस्तीर्ण अनवस्थित-पल्य बनाकर उसे सर्षपोंसे भर देना चाहिये। इससे अब तकमें अनवस्थितपल्य और शलाकापल्य सर्षपोंसे भर गये। इन दोमेंसे शलाकापल्यको उठाना और उसके सर्षपोंमेंसे एक-एक सर्षपको उक्त विधिके अनुसार आगेके द्वीप-समुद्रमें डालना चाहिये। एक-

एक सर्षप निकालनेसे जब शलाकापल्य बिलकुल खाली हो जाय, तब शलाकापल्यके खाली हो जानेका सूचक एक सर्षप प्रतिशलाकापल्यमें डालना चाहिये। अब तकमें अनवस्थितपल्य सर्षपोंसे भरा पड़ा है, शलाकापल्य खाली हो चुका है और प्रतिशलाकापल्यमें एक सर्षप पड़ा हुआ है।

इसके पश्चात् अनवस्थितपल्यके एक-एक सर्षपको आगेके द्वीप-समुद्रमें डालकर उसे खाली कर देना चाहिये और उसके खाली हो चुकनेका सूचक एक सर्षप पूर्वकी तरह शलाकापल्यमें, जो खाली हो गया है, डालना चाहिये। इस प्रकार मूल स्थानसे अन्तिम सर्षपवाले स्थान तक विस्तीर्ण नया-नया अनवस्थितपल्य बनाते जाना चाहिये और उसे सर्षपोंसे भरकर उक्त विधिके अनुसार खाली करते जाना चाहिये। तथा प्रत्येक अनवस्थितपल्यके खाली हो चुकनेपर एक-एक सर्षप शलाकापल्यमें डालते जाना चाहिये। ऐसा करनेसे जब शलाकापल्य सर्षपोंसे फिरसे भर जाय, तब जिस स्थानमें अन्तिम सर्षप पड़ा हो, मूल स्थानसे उस स्थान तक विस्तीर्ण अनवस्थितपल्यको बनाकर उसे भी सर्षपोंसे भर देना चाहिये। अब तकमें अनवस्थित और शलाका, ये दो पल्य भरे हुए हैं और प्रतिशलाकापल्यमें एक सर्षप है।

शलाकापल्यको पूर्व-विधिके अनुसार फिरसे खाली कर देना चाहिये और उसके खाली हो चुकनेपर एक सर्षप प्रतिशलाकापल्यमें रखना चाहिये। अब तक अनवस्थितपल्य भरा हुआ है, शलाकापल्य खाली है और प्रतिशलाकापल्यमें दो सर्षप पड़े हुए हैं।

इसके आगे फिर भी पूर्वोक्त विधिके अनुसार अनवस्थितपल्यको खाली करना और एक-एक सर्षपको शलाकापल्यमें डालना चाहिये। इस प्रकार शलाकापल्यको बार-बार भर कर उक्त विधिके

अनुसार खाली करते जाना तथा खाली हो जानेका सूचक एक-एक सर्षप प्रतिशलाकापल्यमें डालते जाना चाहिये। जब एक-एक सर्षपके डालनेसे प्रतिशलाकापल्य भी पूर्ण हो जाय, तब उक्त प्रक्रियाके अनुसार अनवस्थितपल्यद्वारा शलाकापल्यको भरना और पीछे अनवस्थितपल्यको भी भर रखना चाहिये। अब तकमें अनवस्थित, शलाका और प्रतिशलाका, ये तीन पल्य भर गये हैं। इनमेंसे प्रतिशलाकाको उठाकर उसके सर्षपोंमेंसे एक-एक सर्षपको आगेके द्वीप-समुद्रमें डालना चाहिये। प्रतिशलाकापल्यके खाली हो चुकनेपर एक सर्षप जो प्रतिशलाकापल्यकी समाप्तिका सूचक है, उसको महाशलाकापल्यमें डालना चाहिये। अब तकमें अनवस्थित तथा शलाका-पल्य भरे पड़े हैं, प्रतिशलाकापल्य खाली है और महाशलाकापल्यमें एक सर्षप पड़ा हुआ है।

इसके अनन्तर शलाकापल्यको खाली कर एक सर्षप प्रतिशलाकापल्यमें डालना और अनवस्थितपल्यको खाली कर शलाकापल्यमें एक सर्षप डालना चाहिये। इस प्रकार नया-नया अनवस्थितपल्य बनाकर उसे सर्षपोंसे भरकर तथा उक्त विधिके अनुसार उसे खालीकर एक-एक सर्षपद्वारा शलाकापल्यको भरना चाहिये। हर एक शलाकापल्यके खाली हो चुकनेपर एक-एक सर्षप प्रतिशलाकापल्यमें डालना चाहिये। प्रतिशलाकापल्य भर जानेके बाद अनवस्थितद्वारा शलाकापल्य भर लेना और अन्तमें अनवस्थितपल्य भी भर देना चाहिये। अब तकमें पहले तीन पल्य भर गये हैं और चौथेमें एक सर्षप है। फिर प्रतिशलाकापल्यको उक्त रीतिसे खाली करना और महाशलाकापल्यमें एक सर्षप डालना चाहिये। अब तकमें पहले दो पल्य पूर्ण हैं। प्रतिशलाकापल्य खाली है और महाशलाकापल्यमें दो सर्षप हैं। इस तरह प्रतिशलाकाद्वारा महाशलाकाको भर देना चाहिये।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व पल्यके खाली हो जानेके समय डाले गये एक-एक सर्षपसे क्रमशः चौथा, तीसरा और दूसरा पल्य, जब भर जाय तब अनवस्थितपल्य, जो कि मूल स्थानसे अन्तिम सर्षपवाले द्वीप या समुद्र तक लम्बा-चौड़ा बनाया जाता है, उसको भी सर्षपोंसे भर देना चाहिये। इस क्रमसे चारों पल्य सर्षपोंसे ठसाठस भरे जाते हैं ॥ ७४-७६ ॥

सर्षप-परिपूर्ण पल्योंका उपयोग।

पढमतिपल्लुद्धरिया, दीवुदही पल्लचउसरिसवा य।
सव्वो वि एगरासी, रूवूणो परमसंखिज्जं ॥ ७७ ॥

प्रथमत्रिपल्योद्धृता, द्वीपोदधयः पल्यचतुःसर्षपाश्च।
सर्वोऽप्येकराशी, रूपोनः परमसंख्येयम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—जितने द्वीप-समुद्रोंमें एक-एक सर्षप डालनेसे पहले तीन पल्य खाली हो गये हैं, वे सब द्वीप-समुद्र और परिपूर्ण चार पल्योंके सर्षप, इन दोनोंकी संख्या मिलानेसे जो संख्या हो, एक कम वही संख्या उत्कृष्ट संख्यात है ॥७७॥

भावार्थ—अनवस्थित, शलाका और प्रतिशलाका-पल्यको बार-बार सर्षपोंसे भर कर उनको खाली करनेकी जो विधि ऊपर दिखलाई गई है, उसके अनुसार जितने द्वीपोंमें तथा जितने समुद्रोंमें एक-एक सर्षप पड़ा हुआ है, उन सब द्वीपोंकी तथा सब समुद्रोंकी संख्यामें चारों पल्यके भरे हुए सर्षपोंकी संख्या मिला देनेसे जो संख्या होती है, एक कम वही संख्या उत्कृष्ट संख्यात है।

उत्कृष्ट संख्यात और जघन्य संख्यात, इन दो के बीचकी सब संख्याको मध्यम संख्यात समझना चाहिये। शास्त्रोंमें जहाँ-कहीं संख्यात शब्दका व्यवहार हुआ है, वहाँ सब जगह मध्यम संख्यातसे ही मतलब है ॥ ७७ ॥

असंख्यात और अनन्तका स्वरूप।

[दो गाथाओंसे।]

रूवजुयं तु परित्ता,-संखं लहु अस्स रासि अब्भासे।
जुत्तासंखिज्जं लहु, आवलियासमयपरिमाणं ॥७८॥

रूपयुतं तु परीत्तासंख्यं लघ्वस्य राशेरभ्यासे।
युक्तासंख्ययं लघु, आवलिकासमयपरिमाणम् ॥७८॥

अर्थ—उत्कृष्ट संख्यातमें रूप[1] (एक की संख्या) मिलानेसे जघन्य परीत्तासंख्यात होता है। जघन्य परीत्तासंख्यातका अभ्यास[2] करनेसे जघन्य युक्तासंख्यात होता है। जघन्य युक्तासंख्यात ही एक आवलिकाके समयोंका परिमाण है ॥७८॥

भावार्थ—उत्कृष्ट संख्यातमें एक संख्या मिलानेसे जघन्य परीत्तासंख्यात होता है। अर्थात् एक-एक सर्षप डाले हुए द्वीप-समुद्रोंकी और चार पल्योंके सर्षपोंकी मिली हुई संपूर्ण संख्या ही जघन्य परीत्तासंख्यात है।

जघन्य परीत्तासंख्यातका अभ्यास करनेपर जो संख्या

१—दिगम्बर-शास्त्रोंमें भी 'रूप' शब्द एक संख्याके अर्थमें प्रयुक्त है। जैसे:-जीवकाण्डकी १०७ तथा ११०वीं गाथा आदि तथा प्रवचनसार-ज्ञेयाधिकारकी ७८वीं गाथा की टीका।

२—जिस संख्याका अभ्यास करना हो, उसके अङ्कको उतनी दफा लिखकर परस्पर गुणना अर्थात् प्रथम अङ्कको दूसरेके साथ गुणना और जो गुणन-फल आवे, उसको तीसरे अङ्कके साथ गुणना, इसके गुणन-फलको अगले अङ्कके साथ। इस प्रकार पूर्व-पूर्व गुणन-फलको अगले-अगले अङ्कके साथ गुणना, अन्तमें जो गुणन-फल प्राप्त हो, वही विवक्षित संख्याका अभ्यास है। उदाहरणार्थ—५का अभ्यास ३१२५ है। इसकी विधि इस प्रकार है:—५को पाँच दफा लिखना:—५, ५, ५, ५, ५। पहले ५को दूसरे ५के साथ गुणनेसे २५ हुए, २५को तीसरे ५के साथ गुणनेसे १२५, १२५को चौथे ५के साथ गुणनेसे ६२५, ६२५को पाँचवें ५के साथ गुणनेसे ३१२५ हुए।

—अनुयोगद्वार-टीका, पृ० २३९/१।

आती है, वह जघन्य युक्तासंख्यात है। शास्त्रमें आवलिकाके समयों-को असंख्यात कहा है, सो जघन्य युक्तासंख्यात समझना चाहिये। एक कम जघन्य युक्तासंख्यातको उत्कृष्ट परीत्तासंख्यात तथा जघन्य परीत्तासंख्यात और उत्कृष्ट परीत्तासंख्यातके बीचकी सब संख्याओंको मध्यम परीत्तासंख्यात जानना चाहिये ॥ ७८ ॥

बितिचउपंचमगुणणे, कमा सगासंख पढमचउसत्ता।
णंता ते रूवजुया, मज्झा रूवूण गुरु पच्छा ॥७९॥

द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमगुणने क्रमात् सप्तमासंख्यं प्रथमचतुर्थसप्तमाः।
अनन्तास्ते रूपयुता, मध्या रूपोना गुरवः पश्चात् ॥७९॥

अर्थ—दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें मूल-भेदका अभ्यास करनेपर अनुक्रमसे सातवाँ असंख्यात और पहला, चौथा और सातवाँ अनन्त होते हैं। एक संख्या मिलानेपर ये ही संख्याएँ मध्यम संख्या और एक संख्या कम करनेपर पीछेकी उत्कृष्ट संख्या होती है ॥ ७९ ॥

भावार्थ—पिछली गाथामें असंख्यातके चार भेदोंका स्वरूप बतलाया गया है। अब उसके शेष भेदोंका तथा अनन्तके सब भेदोंका स्वरूप लिखा जाता है।

असंख्यात और अनन्तके मूल-भेद तीन-तीन हैं, जो मिलनेसे छह होते हैं। जैसेः—(१) परीत्तासंख्यात, (२) युक्तासंख्यात और (३) असंख्यातासंख्यात; (४) परीत्तानन्त, (५) युक्तानन्त और (६) अनन्तानन्त। असंख्यातके तीनों भेदके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद करनेसे नौ और इस तरह अनन्तके भी नौ उत्तर-भेद होते हैं, जो ७१ वीं गाथामें दिखाये हुए हैं।

उक्त छह मूल भेदोंमेंसे दूसरेका अर्थात् युक्तासंख्यातका अभ्यास करनेसे नौ उत्तर-भेदोंमेंसे सातवाँ असंख्यात अर्थात् जघन्य असंख्यातासंख्यात होता है। जघन्य असंख्यातासंख्यातमेंसे एक घटानेपर पीछेका उत्कृष्ट भेद अर्थात् उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है। जघन्य युक्तासंख्यात और उत्कृष्ट युक्तासंख्यातके बीचकी सब संख्याएँ मध्यम युक्तासंख्यात हैं।

उक्त छह मूल भेदोंमेंसे तीसरेका अर्थात् असंख्यातासंख्यातका अभ्यास करनेसे अनन्तके नौ उत्तर भेदोंमेंसे प्रथम अनन्त अर्थात् जघन्य परीत्तानन्त होता है। जघन्य परीत्तानन्तमेंसे एक संख्या घटानेपर उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात होता है। जघन्य असंख्याता-संख्यात और उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यातके बीचकी सब संख्याएँ मध्यम असंख्यातासंख्यात हैं।

चौथे मूल भेदका अर्थात् परीत्तानन्तका अभ्यास करनेसे अनन्तका चौथा उत्तर भेद अर्थात् जघन्य युक्तानन्त होता है। एक कम जघन्य युक्तानन्त उत्कृष्ट परीत्तानन्त है। जघन्य परीत्तानन्त तथा उत्कृष्ट परीत्तानन्तके बीचकी सब संख्याएँ मध्यम परीत्तानन्त हैं।

पाँचवें मूल भेदका अर्थात् युक्तानन्तका अभ्यास करनेसे अनन्तका सातवाँ उत्तर भेद अर्थात् जघन्य अनन्तानन्त होता है। इसमेंसे एक कम करनेपर उत्कृष्ट युक्तानन्त होता है। जघन्य युक्तानन्त और उत्कृष्ट युक्तानन्तके बीचकी सब संख्याएँ मध्यम युक्तानन्त हैं। जघन्य अनन्तानन्तके आगेकी सब संख्याएँ मध्यम अनन्तानन्त ही हैं; क्योंकि सिद्धान्त-मतके अनुसार उत्कृष्ट अनन्तानन्त नहीं माना जाता॥ ७९॥

१—अनुयोगद्वार, पृ० [illegible] तथा २४१।

असंख्यात तथा अनन्तके भेदोंके विषयमें कार्मग्रन्थिक मत।[1]

इय सुत्तुत्तं अन्ने. वग्गियमिक्कसि चउत्थयमसंखं।
होइ असंखासंखं, लहु रूपजुयं तु तं मज्झं ॥ ८० ॥
रूवूणमाइमं गुरु, तिवग्गिउं तं इमे दस क्खेवे।
लोगाकासपएसा, धम्माधम्मेगजियदेसा ॥८१॥
ठिइ बंधज्झवसाया, अणुभागा जोगच्छेयपलिभागा।
दुण्ह य समाण समया, पत्तेयनिगोयए खिवसु ॥८२॥
पुणरवि तंमिति वग्गिय, परित्तणंत लहु तस्स रासीणं।
अब्भासे लहु जुत्ता, णंतं अभव्वजियपमाणं ॥ ८३ ॥
तव्वग्गे पुण जायइ, णंताणंत लहु तं च तिक्खुत्तो।
वग्गसु तह वि न तं हो,-इ णंत खेवे खिवसु छ इमे ॥८४॥[2]
सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई कालपुग्गला चेव।
सव्वमलोगनहं पुण, तिवग्गिउं केवलदुगंमि ॥८५॥
खित्ते णंताणंतं, हवेइ जिट्ठं तु ववहरइ मज्झं।
इय सुहुमत्थवियारो, लिहिओ देविंदसूरीहिं ॥८६॥

इति सूत्रोक्तमन्ये वर्गितं सकृच्चतुर्थकमसंख्यम्।
भवत्यसंख्यासंख्यं लघु रूपयुतं तु तन्मध्यम् ॥ ८० ॥
रूपोनमादिमं गुरु त्रिर्वर्गयित्वा तदिमान् दश क्षेपान्।
लोकाकाशप्रदेशा धर्माधर्मैकजीवप्रदेशाः ॥ ८१ ॥

1—ये ही दस क्षेप त्रिलोकसारकी ४२ से ४४ तक की गाथाओंमें निर्दिष्ट हैं।
2—ये ही छह क्षेप त्रिलोकसारकी ४९वीं गाथामें वर्णित हैं।

स्थितिबन्धाध्यवसाया अनुभागा योगच्छेदपरिभागाः।
द्वयोश्च समयोः समयाः प्रत्येकनिगोदकाः क्षिप ॥ ८२ ॥

पुनरपि तास्मंस्त्रिवर्गिते परीतानन्तं लघु तस्य राशीनाम्।
अभ्यासे लघु युक्तानन्तमभव्यजीवप्रमाणम् ॥ ८३ ॥

तद्वर्गे पुनर्जायतेऽनन्तानन्तं लघु तच्च त्रिकृत्वः।
वर्गयस्व तथापि न तद्भवत्यनन्तक्षेपान् क्षिप षडिमान् ॥ ८४ ॥

सिद्धा निगोदजीवा वनस्पतिः कालपुद्गलाश्चैव।
सर्वमलोकनभः पुनस्त्रिर्वर्गयित्वा केवलद्विके ॥ ८५ ॥

क्षिप्तेऽनन्तानन्तं भवति ज्येष्ठं तु व्यवहरति मध्यम्।
इति सूक्ष्मार्थविचारो लिखितो देवेन्द्रसूरिभिः ॥८६॥

अर्थ—पीछे सूत्रानुसारी मत कहा गया है। अब अन्य आचार्यों-का मत कहा जाता है। चतुर्थ असंख्यात अर्थात् जघन्य युक्ता-संख्यातका एक बार वर्ग करनेसे जघन्य असंख्यातासंख्यात होता है। जघन्य असंख्यातासंख्यातमें एक संख्या मिलानेसे मध्यम असंख्यातासंख्यात होता है ॥ ८० ॥

जघन्य असंख्यातासंख्यातमेंसे एक संख्या घटा दी जाय तो पीछेका गुरु अर्थात् उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है। जघन्य असं-ख्यातासंख्यातका तीन बार वर्ग कर नीचे लिखी दस असंख्यात

१—किसी संख्याका तीन बार वर्ग करना हो तो उस संख्याका वर्ग करना, वर्ग-जन्य संख्याका वर्ग करना और द्वितीय वर्ग-जन्य संख्याका भी वर्ग करना। उदाहरणार्थ—५का तीन बार वर्ग करना हो तो ५का वर्ग २५, २५का वर्ग ६२५, ६२५का वर्ग ३९०६२५; यह पाँचका तीन बार वर्ग हुआ।

२—लोकाकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक जीव, इन चारोंके प्रदेश असंख्यात-असंख्यात और आपसमें तुल्य हैं।

संख्यायें उसमें मिलाना। (१) लोकाकाशके प्रदेश, (२) धर्मास्ति-

ज्ञानावरणीय आदि प्रत्येक कर्मकी स्थितिके जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त समय-भेदसे असंख्यात भेद हैं। जैसे:—ज्ञानावरणीयकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम-प्रमाण है। अन्तर्मुहूर्तमे एक समय अधिक, दो समय अधिक, तीन समय अधिक, इस तरह एक-एक समय बढ़ते-बढ़ते एक समय कम तीस कोटाकोटी सागरोपम तककी सब स्थितियाँ मध्यम हैं। अन्तर्मुहूर्त और तीस कोटाकोटी सागरोपमके बीचमें असंख्यात समयोंका अन्तर है; इसलिये जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति एक-एक प्रकारकी होनेपर भी उसमें मध्यम स्थितियाँ मिलानेसे ज्ञानावरणीयकी स्थितिके असंख्यात भेद होते हैं। अन्य कर्मोंकी स्थितिके विषयमें भी इसी तरह समझ लेना चाहिये। हर एक स्थितिके बन्धमें कारणभूत अध्यवसायोंकी संख्या असंख्यात लोकाकाशके प्रदेशोंके बराबर कही हुई है।

"पइठिइ संखलोगसमा।"

——गा० ५५, देवेन्द्रसूरि-कृत पञ्चम कर्मग्रन्थ।

इस जगह सब स्थिति-बन्धके कारणभूत अध्यवसायोंकी संख्या विवक्षित है।

अनुभाग अर्थात् रसका कारण काषायिक परिणाम है। काषायिक परिणाम अर्थात् अध्यवसायके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि रूपसे असंख्यात भेद हैं। एक-एक काषायिक परिणामसे एक-एक अनुभाग-स्थानका बन्ध होता है; क्योंकि एक काषायिक परिणामसे गृहीत कर्म परमाणुओंके रस-स्पर्धकोंको ही शास्त्रमें अनुभाग बन्धस्थान कहा है। देखिये कम्मपयडीकी २९वी गाथा श्रीयशोविजयजी-कृत टीका। इसलिये काषायिक परिणाम जन्य अनुभाग स्थान भी काषायिक परिणामके तुल्य अर्थात् असंख्यात ही हैं। प्रसंगतः यह बात जाननी चाहिये कि प्रत्येक स्थिति-बन्ध मे असंख्यात अनुभाग-स्थान होते हैं; क्योंकि जितने अध्यवसाय उतने ही अनुभागस्थान होते हैं और प्रत्येक स्थिति-बन्धमे कारणभूत अध्यवसाय असंख्यात लोकाकाशप्रदेश-प्रमाण हैं।

योगके निर्विभाग अंश असंख्यात हैं। जिस अंशका विभाग केवलज्ञानसे भी न किया जा सके, उसको निर्विभाग अंश कहते हैं। इस जगह निगोदसे संज्ञी पर्यन्त सब जीवोंके योग-सम्बन्धी निर्विभाग अंशोंकी संख्या इष्ट है।

जिस शरीरका स्वामी एक ही जीव हो, वह 'प्रत्येकशरीर' है। प्रत्येकशरीर असंख्यात हैं; क्योंकि पृथ्वीकायिकसे लेकर त्रसकायिक पर्यन्त सब प्रकारके प्रत्येक जीव मिलानेसे असंख्यात ही हैं।

जिस एक शरीरके धारण करनेवाले अनन्त जीव हों, वह 'निगोदशरीर'। ऐसे निगोद-शरीर असंख्यात ही हैं।

कायके प्रदेश, (३) अधर्मास्तिकायके प्रदेश, (४) एक जीवके प्रदेश, (५) स्थिति-बन्ध-जनक अध्यवसाय-स्थान, (६) अनुभाग-विशेष, (७) योगके निर्विभाग अंश (८) अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी, इन दो कालके समय, (९) प्रत्येकशरीर और (१०) निगोदशरीर ॥८१॥८२॥

उक्त दस संख्याएँ मिलाकर फिर उसका तीन बार वर्ग करना। वर्ग करनेसे जघन्य परीत्तानन्त होता है। जघन्य परीत्तानन्तका अभ्यास करनेसे जघन्य युक्तानन्त होता है। यही अभव्य जीवोंका परिमाण है ॥ ८३ ॥

उसका अर्थात् जघन्य युक्तानन्तका वर्ग करनेसे जघन्य अनन्तानन्त होता है। जघन्य अनन्तानन्तका तीन बार वर्ग करना लेकिन इतनेहीसे वह उत्कृष्ट अनन्तानन्त नहीं बनता। इसलिये तीन बार वर्ग करके उसमें नीचे लिखी छह अनन्त संख्याएँ मिलाना ॥८४॥

(१) सिद्ध, (२) निगोदके जीव, (३) वनस्पतिकायिक जीव, (४) तीनों कालके समय, (५) संपूर्ण पुद्गल-परमाणु और (६) समग्र[1] आकाशके प्रदेश, इन छह की अनन्त संख्याओंको मिलाकर फिर-से तीन बार वर्ग करना और उसमें केवल-द्विकके पर्यायोंकी संख्या-[2]को मिलाना। शास्त्रमें अनन्तानन्तका व्यवहार किया जाता है, सो मध्यम अनन्तानन्तका, जघन्य या उत्कृष्टका नहीं। इस सूक्ष्मार्थविचार नामक प्रकरणको श्रीदेवेन्द्रसूरिने लिखा है ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

भावार्थ—गा० ७१से ७६ तकमें संख्याका वर्णन किया है, सो सैद्धान्तिक मतके अनुसार। अब कार्मग्रन्थिक मतके अनुसार वर्णन किया जाता है। संख्याके इक्कीस भेदोंमेंसे पहले सात भेदोंके स्वरूपके विषयमें सैद्धान्तिक और कार्मग्रन्थिक आचार्योंका कोई मत-भेद नहीं है; आठवें आदि सब भेदोंके स्वरूपके विषयमें मत-भेद है।

१—मूलके 'अलोक' पदसे लोक और अलोक दोनों प्रकारका आकाश विवक्षित है।

२—ज्ञेयपर्याय अनन्त होनेसे ज्ञानपर्याय भी अनन्त है।

कार्मग्रन्थिक आचार्योंका कथन है कि जघन्य युक्तासंख्यातका वर्ग करनेसे जघन्य असंख्यातासंख्यात होता है। जघन्य असंख्यातासंख्यातका तीन बार वर्ग करना और उसमें लोकाकाश-प्रदेश आदिकी उपर्युक्त दस असंख्यात संख्याएँ मिलाना। मिलाकर फिर तीन बार वर्ग करना। वर्ग करनेसे जो संख्या होती है, वह जघन्य परीत्तानन्त है।

जघन्य परीत्तानन्तका अभ्यास करनेसे जघन्य युक्तानन्त होता है। शास्त्रमें अभव्य जीव अनन्त कहे गये हैं, सो जघन्य युक्तानन्त समझना चाहिये।

जघन्य युक्तानन्तका एक बार वर्ग करनेसे जघन्य अनन्तानन्त होता है। जघन्य अनन्तानन्तका तीन बार वर्गकर उसमें सिद्ध आदिकी उपर्युक्त छह संख्याएँ मिलाना चाहिये। फिर उसका तीन बार वर्ग करके उसमें केवलज्ञान और केवलदर्शनके संपूर्ण पर्यायोंकी संख्याको मिलाना चाहिये। मिलानेसे जो संख्या होती है, वह 'उत्कृष्ट अनन्तानन्त' है।

मध्यम या उत्कृष्ट संख्याका स्वरूप जाननेकी रीतिमें सैद्धान्तिक और कार्मग्रन्थिकोंमें मत-भेद नहीं है, पर ७९ वीं तथा ८०वीं गाथामें बतलाये हुए दोनों मतके अनुसार जघन्य असंख्यातासंख्यातका स्वरूप भिन्न-भिन्न हो जाता है। अर्थात् सैद्धान्तिकमतसे जघन्य युक्तासंख्यातका अभ्यास करनेपर जघन्य असंख्यातासंख्यात बनता है और कार्मग्रन्थिकमतसे जघन्य युक्तासंख्यातका वर्ग करनेपर जघन्य असंख्यातासंख्यात बनता है; इसलिये मध्यम युक्तासंख्यात, उत्कृष्ट युक्तासंख्यात आदि आगेकी सब मध्यम और उत्कृष्ट संख्याओंका स्वरूप भिन्न-भिन्न बन जाता है। जघन्य असंख्यातासंख्यातमेंसे एक घटानेपर उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है। जघन्य युक्तासंख्यात और उत्कृष्ट युक्तासंख्यातके बीचकी सब

संख्याएँ मध्यम युक्तासंख्यात हैं। इसी प्रकार आगे भी किसी जघन्य संख्यामेंसे एक घटानेपर उसके पीछेकी उत्कृष्ट संख्या बनती है और जघन्यमें एक, दो आदिकी संख्या मिलानेसे उसके सजातीय उत्कृष्ट तककी बीचकी संख्याएँ मध्यम होती हैं।

सभी जघन्य और सभी उत्कृष्ट संख्याएँ एक-एक प्रकारकी हैं; परन्तु मध्यम संख्याएँ एक प्रकारकी नहीं हैं। मध्यम संख्यातके संख्यात भेद, मध्यम असंख्यातके असंख्यात भेद और मध्यम अनन्तके अनन्त भेद हैं; क्योंकि जघन्य या उत्कृष्ट संख्याका मतलब किसी-एक नियत संख्यासे ही है, पर मध्यमके विषयमें यह बात नहीं। जघन्य और उत्कृष्ट संख्यातके बीच संख्यात इकाइयाँ हैं, जघन्य और उत्कृष्टअसंख्यातके बीच असंख्यात इकाइयाँ हैं, एवं जघन्य और उत्कृष्ट अनन्तके बीच अनन्त इकाइयाँ हैं, जो क्रमशः 'मध्यम संख्यात', 'मध्यम असंख्यात' और 'मध्यम अनन्त' कहलाती हैं।

शास्त्रमें जहाँ-कहीं अनन्तानन्तका व्यवहार किया गया है, वहाँ सब जगह मध्यम अनन्तानन्तसे ही मतलब है।

(उपसंहार) इस प्रकरणका नाम "सूक्ष्मार्थविचार" रक्खा है; क्योंकि इसमें अनेक सूक्ष्म विषयोंपर विचार प्रगट किये गये हैं। ८०-८६।

तृतीयाधिकारके परिशिष्ट।

परिशिष्ट "प"।

पृष्ठ १७६, पङ्क्ति १०के 'मूल बन्ध-हेतु' पर—

यह विषय, पञ्चसंग्रह द्वा० ४की १९ और २०वीं गाथामें है, किन्तु उसके वर्णनमें यहाँकी अपेक्षा कुछ भेद है। उसमें सोलह प्रकृतियोंके बन्धको मिथ्यात्व-हेतुक, पैंतीस प्रकृतियोंके बन्धको अविरति-हेतुक, अरसठ प्रकृतियोंके बन्धको कषाय-हेतुक और सातवेदनीयके बन्धको योग-हेतुक कहा है। यह कथन अन्वय-व्यतिरेक, उभय-मूलक कार्य-कारण-भावको लेकर किया गया है जैसे:—मिथ्यात्वके सद्भावमें सोलहका बन्ध और उसके अभावमें सोलहके बन्धका अभाव होता है; इसलिये सोलहके बन्धका अन्वय-व्यतिरेक मिथ्यात्वके साथ घट सकता है। इसी प्रकार पैंतीसके बन्धका अविरतिके साथ, अरसठके बन्धका कषायके साथ और सातवेदनीयके बन्धका योगके साथ अन्वय-व्यतिरेक समझना चाहिये।

परन्तु इस जगह केवल अन्वय-मूलक कार्य-कारण-भावको लेकर बन्धका वर्णन किया है, व्यतिरेककी विवक्षा नहीं की है, इसीसे यहाँका वर्णन पञ्चसंग्रहके वर्णनसे भिन्न मालूम पड़ता है। अन्वयः—जैसे: मिथ्यात्वके समय, अविरतिके समय, कषायके समय और योगके समय सातवेदनीयका बन्ध अवश्य होता है, इसी प्रकार मिथ्यात्वके समय सोलहका बन्ध, मिथ्यात्वके समय तथा अविरतिके समय पैंतीसका बन्ध और मिथ्यात्वके समय, अविरतिके समय तथा कषायके समय शेष प्रकृतियोंका बन्ध अवश्य होता है। इस अन्वयमात्रको लक्ष्यमें रखकर श्रीदेवेन्द्रसूरिने एक, सोलह, पैंतीस और अरसठके बन्धको क्रमशः चतुर्हेतुक, एक-हेतुक, द्वि-हेतुक और त्रि-हेतुक कहा है। उक्त चारों बन्धोंका व्यतिरेक तो पञ्चसंग्रहके वर्णनानुसार केवल एक एक हेतुके साथ घट सकता है। पञ्चसंग्रह और यहाँकी वर्णन-शैलीमें भेद है, तात्पर्यमें नहीं।

तत्त्वार्थ-अ० ८ सू० १में बन्धके हेतु पाँच कहे हुए हैं, उसके अनुसार अ० ९ सू० १की सर्वार्थसिद्धिमें उत्तर प्रकृतियोंके और बन्ध-हेतुके कार्य-कारण-भावका विचार किया है। उसमें सोलहके बन्धको मिथ्यात्व-हेतुक, उन्तालीसके बन्धको अविरति-हेतुक, छहके बन्धको प्रमाद-हेतुक, अट्ठावनके बन्धको कषाय-हेतुक और एकके बन्धको योग-हेतुक बतलाया है। अविरतिके अनन्तानुबन्धिकषाय-जन्य, अप्रत्याख्यानावरणकषाय-जन्य और प्रत्याख्यानावरणकषाय-जन्य,

वे तीन भेद किये हैं। प्रथम अविरतिको पच्चीसके बन्धका, दूसरीको दसके बन्धका और तीसरीको चारके बन्धका कारण दिखाकर कुल उन्तालीसके बन्धक अविरति-हेतुक कहा है। पञ्चसंग्रहमें जिन अरसठ प्रकृतियोंके बन्धको कषाय-हेतुक माना है, उनमेंसे चारके बन्धको प्रत्याख्यानावरणकषाय-जन्य अविरति-हेतुक और छहके बन्धको प्रमाद-हेतुक सर्वार्थसिद्धिमें बतलाया है; इसलिये उसमें कषाय-हेतुक बन्धवाली अट्ठावन प्रकृतियाँ ही कही हुई हैं।

परिशिष्ट "फ"।

पृष्ठ २०६, पङ्क्ति १४के 'मूल भाव' पर—

गुणस्थानोंमें एक-जीवाश्रित भावोंकी संख्या जैसी इस गाथामें है, वैसी ही पञ्चसंग्रहके द्वार २की ६४वीं गाथामें है; परन्तु इस गाथाकी टीका और टबामें तथा पञ्चसंग्रहकी उक्त गाथाकी टीकामें थोड़ासा व्याख्या भेद है।

टीका-टबेमें 'उपशमक'-'उपशान्त' दो पदोंसे नौवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ, ये तीन गुणस्थान ग्रहण किये गये हैं और 'अपूर्व' पदसे आठवाँ गुणस्थानमात्र। नौवें आदि तीन गुणस्थानोंमें उपशमश्रेणिवाले औपशमिकसम्यक्त्वीको या क्षायिकसम्यक्त्वीको चारित्र औपशमिक माना है। आठवें गुणस्थानमें औपशमिक या क्षायिक किसी सम्यक्त्ववालेको औपशमिकचारित्र इष्ट नहीं है, किन्तु क्षायोपशमिक। इसका प्रमाण गाथामें 'अपूर्व' शब्दका अलग ग्रहण करना है; क्योंकि यदि आठवें गुणस्थानमें भी औपशमिकचारित्र इष्ट होता तो 'अपूर्व' शब्द अलग ग्रहण न करके उपशमक शब्दसे ही नौवें आदि गुणस्थानकी तरह आठवेंका भी सूचन किया जाता। नौवें और दसवें गुणस्थानके क्षपकश्रेणि-गत-जीव-सम्बन्धी भावोंका व चारित्रका उल्लेख टीका या टबेमें नहीं है।

पञ्चसंग्रहकी टीकामें श्रीमलयगिरिने 'उपशमक'-'उपशान्त' पदसे आठवेंसे ग्यारहवें तक उपशमश्रेणिवाले चार गुणस्थान और 'अपूर्व' तथा 'क्षीण' पदसे आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और बारहवाँ, ये क्षपकश्रेणिवाले चार गुणस्थान ग्रहण किये हैं। उपशमश्रेणिवाले उक्त चारों गुणस्थानमें उन्होंने औपशमिकचारित्र माना है, पर क्षपकश्रेणिवाले चारों गुणस्थानके चारित्रके सम्बन्धमें कुछ उल्लेख नहीं किया है।

ग्यारहवें गुणस्थानमें संपूर्ण मोहनीयका उपशम हो जानेके कारण सिर्फ औपशमिक-चारित्र है। नौवें और दसवें गुणस्थानमें औपशमिक-क्षायोपशमिक दो चारित्र हैं; क्योंकि इन दो गुणस्थानोंमें चारित्रमोहनीयकी कुछ प्रकृतियाँ उपशान्त होती हैं, सब नहीं। उपशान्त प्रकृतियोंकी अपेक्षासे औपशमिक और अनुपशान्त प्रकृतियोंकी अपेक्षासे क्षायोपशमिक-चारित्र समझना चाहिये। यद्यपि यह बात इस प्रकार स्पष्टतासे नहीं कही गई है परन्तु पञ्च० द्वा० ३की २५वीं गाथाकी टीका देखनेसे इस विषयमें कुछ भी संदेह नहीं रहता, क्योंकि उसमें सूक्ष्मसंपराय-चारित्रको, जो दसवें गुणस्थानमें ही होता है, क्षायोपशमिक कहा है।

उपशमश्रेणिवाले आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयके उपशमका आरम्भ या कुछ प्रकृतियोंका उपशम होनेके कारण औपशमिकचारित्र, जैसे पञ्चसंग्रह-टीकामें माना गया है, वैसे ही क्षपकश्रेणिवाले आठवें आदि तीनों गुणस्थानोंमें चारित्रमोहनीयके क्षयका आरम्भ या कुछ प्रकृतियोंका क्षय होनेके कारण क्षायिकचारित्र माननेमें कोई विरोध नहीं दीख पड़ता।

गोम्मटसारमें उपशमश्रेणिवाले आठवें आदि चारों गुणस्थानमें चारित्र औपशमिक ही माना है और क्षायोपशमिकका स्पष्ट निषेध किया है। इसी तरह क्षपकश्रेणिवाले चार गुण-स्थानोंमें क्षायिकचारित्र ही मानकर क्षायोपशमिकका निषेध किया है। यह बात कर्मकाण्डकी ८४५ और ८४६वीं गाथाओंके देखनेसे स्पष्ट हो जाती है।

परिशिष्ट "ब"।

पृष्ठ २०७, पङ्क्ति ३ के 'भावार्थ' शब्दपर—

यह विचार एक जीवमें किसी विवक्षित समयमें पाये जानेवाले भावोंका है।

एक जीवमें भिन्न-भिन्न समयमें पाये जानेवाले भाव और अनेक जीवमें एक समयमें या भिन्न-भिन्न समयमें पाये जानेवाले भाव प्रसङ्ग-वश लिखे जाते हैं। पहले तीन गुणस्थानोंमें औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक, ये तीन भाव चौथेसे ग्यारहवें तक आठ गुणस्थानोंमें पाँचों भाव बारहवें गुणस्थानमें औपशमिकके सिवाय चार भाव और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानमें औपशमिक-क्षायोपशमिकके सिवाय तीन भाव होते हैं।

अनेक जीवोंकी अपेक्षासे गुणस्थानोंमें भावोंके उत्तर भेद—

क्षायोपशमिक—पहले दो गुणस्थानोंमें तीन अज्ञान, चक्षु आदि दो दर्शन, दान आदि पाँच लब्धियाँ, ये १०; तीसरेमें तीन ज्ञान, तीन दर्शन, मिश्रदृष्टि, पाँच लब्धियाँ, ये १२; चौथेमें तीसरे गुणस्थानवाले १२ किन्तु मिश्रदृष्टिके स्थानमें सम्यक्त्व; पाँचवेंमें चौथे गुणस्थानवाले बारह तथा देशविरति, कुल १३; छठे, सातवेंमें उक्त तेरहमेंसे देश-विरतिको घटाकर उनमें सर्वविरति और मनःपर्यवज्ञान मिलानेसे १४; आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानमें उक्त चौदहमेंसे सम्यक्त्वके सिवाय शेष १३; ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानमें उक्त तेरहमेंसे चारित्रको छोड़कर शेष १२ क्षायोपशमिक भाव हैं। तेरहवें और चौदहवेंमें क्षायोपशमिकभाव नहीं हैं।

औदयिक—पहले गुणस्थानमें अज्ञान आदि २१; दूसरेमें मिथ्यात्वके सिवाय २०; तीसरे-चौथेमें अज्ञानको छोड़ १९; पाँचवेंमें देवगति नारकगतिके सिवाय उक्त उन्नीसमेंसे शेष १७, छठेमें तिर्यञ्चगति और असंयम घटाकर १५; सातवेंमें कृष्ण आदि तीन लेश्याओंको छोड़कर उक्त पन्द्रहमेंसे शेष १२; आठवें-नौवेंमें तेजः और पद्म-लेश्याके सिवाय १०; दसवेंमें क्रोध, मान, माया और तीन वेदके सिवाय उक्त दसमेंसे शेष ४; ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें संज्वलनलोभको छोड़ शेष ३ और चौदहवें गुणस्थानमें शुक्ललेश्याके सिवाय तीनमेंसे मनुष्यगति और असिद्धत्व, ये दो औदयिकभाव हैं।

क्षायिक—पहले तीन गुणस्थानोंमें क्षायिकभाव नहीं हैं। चौथेसे ग्यारहवें तक आठ गुणस्थानोंमें सम्यक्त्व, बारहवेंमें सम्यक्त्व और चारित्र दो और तेरहवें-चौदहवें दो गुणस्थानोंमें नव क्षायिकभाव हैं।

औपशमिक—पहले तीन और बारहवें आदि तीन, इन छह गुणस्थानोंमें औपशमिकभाव नहीं हैं। चौथेसे आठवें तक पाँच गुणस्थानोंमें सम्यक्त्व, नौवेंसे ग्यारहवें तक तीन गुणस्थानोंमें सम्यक्त्व और चारित्र, ये दो औपशमिकभाव हैं।

पारिणामिक—पहले गुणस्थानमें जीवत्व आदि तीनों; दूसरेसे बारहवें तक ग्यारह गुणस्थानोंमें जीवत्व, भव्यत्व दो और तेरहवें-चौदहवेंमें जीवत्व ही पारिणामिकभाव है। भव्यत्व अनादि-सान्त है। क्योंकि सिद्ध-अवस्थामें उसका अभाव हो जाता है। घातिकर्म क्षय होनेके बाद सिद्ध-अवस्था प्राप्त होनेमें बहुत विलम्ब नहीं लगता; इस अपेक्षासे तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानमें भव्यत्व पूर्वाचार्योंने नहीं माना है।

गोम्मटसार-कर्मकाण्ड की ८२० से ८७५ तककी गाथाओंमें स्थान-गत तथा पद-गत भङ्ग-द्वारा भावोंका बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

एक-जीवाश्रित भावोंके उत्तर भेदः—

क्षायोपशमिक—पहले दो गुणस्थानमें मति-श्रुत दो या विभङ्गसहित तीन अज्ञान, अचक्षु एक या चक्षु-अचक्षु दो दर्शन, दान आदि पाँच लब्धियाँ; तीसरेमें दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन, मिश्रदृष्टि, पाँच लब्धियाँ; चौथेमें दो या तीन ज्ञान, अपर्याप्त-अवस्थामें अचक्षु एक या अवधिसहित दो दर्शन और पर्याप्त-अवस्थामें दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, पाँच लब्धियाँ पाँचवेंमें दो या तीन ज्ञान, दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, देशविरति, पाँच लब्धियाँ; छठे सातवेंमें दो तीन या मनःपर्यायपर्यन्त चार ज्ञान, दो या तीन दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, पाँच लब्धियाँ; आठवें, नौवें और दसवेंमें सम्यक्त्वको छोड़ छठे और सातवें गुणस्थानवाले सब क्षायोपशमिक भाव। ग्यारहवें-बारहवेंमें चारित्रको छोड़ दसवें गुणस्थानवाले सब भाव।

औदयिक—पहले गुणस्थानमें अज्ञान, असिद्धत्व, असंयम, एक लेश्या, एक कषाय, एक गति, एक वेद और मिथ्यात्व; दूसरेमें मिथ्यात्वको छोड़ पहले गुणस्थानवाले सब औदयिक; तीसरे, चौथे और पाँचवेंमें अज्ञानको छोड़ दूसरेवाले सब; छठेसे लेकर नौवें तकमें असंयमके सिवाय पाँचवेंवाले सब; दसवेंमें वेदके सिवाय नौवेंवाले सब; ग्यारहवें-बारहवेंमें कषायके सिवाय दसवेंवाले सब; तेरहवेंमें असिद्धत्व, लेश्या और गति; चौदहवेंमें गति और असिद्धत्व।

क्षायिक—चौथेसे ग्यारहवें गुणस्थान तकमें सम्यक्त्व; बारहवेंमें सम्यक्त्व और चारित्र दो और तेरहवें चौदहवेंमें—नौ क्षायिकभाव।

औपशमिक—चौथेसे आठवें तक सम्यक्त्व; नौवेंसे ग्यारहवें तक सम्यक्त्व और चारित्र।

पारिणामिक—पहलेमें तीनों; दूसरेसे बारहवें तकमें जीवत्व और भव्यत्व दो; तेरहवें और चौदहवेंमें एक जीवत्व।

परिशिष्ट नं० १।

श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय संप्रदायके [कुछ] समान तथा असमान मन्तव्य।

(क)

निश्चय और व्यवहार-दृष्टिसे जीव शब्दकी व्याख्या दोनों संप्रदायमें तुल्य है। पृष्ठ—४। इस सम्बन्धमें जीवकाण्डका 'प्राणाधिकार' प्रकरण और उसकी टीका देखने योग्य है।

मार्गणास्थान शब्दकी व्याख्या दोनों संप्रदायमें समान है। पृष्ठ—४।

गुणस्थान शब्दकी व्याख्या-शैली कर्मग्रन्थ और जीवकाण्डमें भिन्नसी है, पर उसमें तात्त्विक अर्थ-भेद नहीं है। पृ०—४।

उपयोगका स्वरूप दोनों सम्प्रदायोंमें समान माना गया है। पृ०—५।

कर्मग्रन्थमें अपर्याप्त संज्ञीको तीन गुणस्थान माने हैं, किन्तु गोम्मटसारमें पाँच माने हैं। इस प्रकार दोनोंका संख्याविषयक मत-भेद है, तथापि वह अपेक्षाकृत है, इसलिये वास्तविक दृष्टिसे उसमें समानता ही है। पृ०—१२।

केवलज्ञानीके विषयमें संज्ञित्व तथा असंज्ञित्वका व्यवहार दोनों संप्रदायके शास्त्रोंमें समान है। पृ०—१३।

वायुकायके शरीरकी ध्वजाकारता दोनों संप्रदायको मान्य है। पृ०—२०।

छाद्मस्थिक उपयोगोंका काल-मान अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण दोनों संप्रदायोंको मान्य है । पृ०–२०, नोट ।

भावलेश्याके सम्बन्धकी स्वरूप, दृष्टान्त आदि अनेक बातें दोनों सम्प्रदायमें तुल्य हैं। पृ०–३३ ।

चौदह मार्गणाओंका अर्थ दोनों सम्प्रदायमें समान है तथा उनकी मूल गाथाएँ भी एकसी हैं । पृ०–४७, नोट ।

सम्यक्त्वकी व्याख्या दोनों सम्प्रदायमें तुल्य है। पृ०–५०, नोट ।

व्याख्या कुछ भिन्नसी होनेपर भी आहारके स्वरूपमें दोनों सम्प्रदायका तात्त्विक भेद नहीं है । श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें सर्वत्र आहारके तीन भेद हैं और दिगम्बर-ग्रन्थोंमें कहीं छह भेद भी मिलते हैं । पृ०–५०, नोट ।

परिहारविशुद्धसंयमका अधिकारी कितनी उम्रका होना चाहिये, उसमें कितना ज्ञान आवश्यक है और वह संयम किसके समीप ग्रहण किया जा सकता और उसमें विहार आदिका कालनियम कैसा है, इत्यादि उसके सम्बन्धकी बातें दोनों सम्प्रदायमें बहुत अंशोंमें समान हैं। पृ०–५९, नोट ।

क्षायिकसम्यक्त्व जिनकालिक मनुष्यको होता है, यह बात दोनों सम्प्रदायको इष्ट है। पृ०–६६, नोट ।

केवलीमें द्रव्यमनका सम्बन्ध दोनों सम्प्रदायमें इष्ट है । पृ०–१०१, नोट ।

मिश्रसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें मति आदि उपयोगों की ज्ञान-अज्ञान उभयरूपता गोम्मटसारमें भी है । पृ०–१०९, नोट ।

गर्भज मनुष्योंकी संख्याके सूचक उन्तीस अङ्क दोनों सम्प्रदायमें तुल्य हैं । पृ०–११७, नोट ।

इन्द्रियमार्गणामें द्वीन्द्रिय आदिका और कायमार्गणामें तेजःकाय आदिका विशेषाधिकत्व दोनों सम्प्रदायमें समान इष्ट है। पृ०-१२२, नोट।

वक्रगतिमें विग्रहोंकी संख्या दोनों सम्प्रदायमें समान है। फिर भी श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें कहीं-कहीं जो चार विग्रहोंका मतान्तर पाया जाता है, वह दिगम्बरीय ग्रन्थोंमें देखनेमें नहीं आया। तथा वक्रगतिका काल-मान दोनों सम्प्रदायमें तुल्य है। वक्रगतिमें अनाहारकत्वका काल-मान, व्यवहार और निश्चय, दो दृष्टियोंसे विचारा जाता है। इनमेंसे व्यवहार-दृष्टिके अनुसार श्वेताम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थमें विचार है और निश्चय-दृष्टिके अनुसार दिगम्बर-प्रसिद्ध तत्त्वार्थमें विचार है। अत एव इस विषयमें भी दोनों सम्प्रदायका वास्तविक मत-भेद नहीं है। पृ०-१४३।

अवधिदर्शनमें गुणस्थानोंकी संख्याके विषयमें सैद्धान्तिक एक और कार्मग्रन्थिक दो, ऐसे जो तीन पक्ष हैं, उनमेंसे कार्मग्रन्थिक दोनों ही पक्ष दिगम्बरीय ग्रन्थोंमें मिलते हैं। पृ०-१४६।

केवलज्ञानीमें आहारकत्व, आहारका कारण असातवेदनीयका उदय और औदारिक पुद्गलोंका ग्रहण, ये तीनों बातें दोनों सम्प्रदायमें समान मान्य हैं। पृ०-१४८।

गुणस्थानमें जीवस्थानका विचार गोम्मटसारमें कर्मग्रन्थकी अपेक्षा कुछ भिन्न जान पड़ता है। पर वह अपेक्षाकृत होनेसे वस्तुतः कर्मग्रन्थके समान ही है। पृ०-१६१, नोट।

गुणस्थानमें उपयोगकी संख्या कर्मग्रन्थ और गोम्मटसारमें तुल्य है। पृ०-१६७, नोट।

एकेन्द्रियमें सासादनभाव मानने और न माननेवाले, ऐसे जो

दो पक्ष श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें हैं, दिगम्बर-ग्रन्थोंमें भी हैं। पृ०—१७१, नोट।

श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें जो कहीं कर्मबन्धके चार हेतु, कहीं दो हेतु और कहीं पाँच हेतु कहे हुए हैं; दिगम्बर-ग्रन्थोंमें भी वे सब वर्णित हैं। पृ०—१७४, नोट।

बन्ध-हेतुओंके उत्तर भेद आदि दोनों संप्रदायमें समान हैं। पृ०—१७५, नोट।

सामान्य तथा विशेष बन्ध-हेतुओंका विचार दोनों संप्रदायके ग्रन्थोंमें है। पृ०—१८१, नोट।

एक संख्याके अर्थमें रूप शब्द दोनों सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें मिलता है। पृ०—२१८, नोट।

कर्मग्रन्थमें वर्णित दस तथा छह क्षेप त्रिलोकसारमें भी हैं। पृ०—२२१, नोट।

उत्तर प्रकृतियोंके मूल बन्ध-हेतुका विचार जो सर्वार्थसिद्धिमें है, वह पञ्चसंग्रहमें किये हुए विचारसे कुछ भिन्नसा होनेपर भी वस्तुतः उसके समान ही है। पृ०—२२७।

कर्मग्रन्थ तथा पञ्चसंग्रहमें एक-जीवाश्रित भावोंका जो विचार है, गोम्मटसारमें बहुत अंशोंमें उसके समान ही वर्णन है। पृ०—२२९।

(ख)

श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें तेजःकायको वैक्रियशरीरका कथन नहीं है, पर दिगम्बर-ग्रन्थोंमें है। पृ०—१९, नोट

श्वेताम्बर संप्रदायकी अपेक्षा दिगम्बर संप्रदायमें संज्ञि-असंज्ञीका व्यवहार कुछ भिन्न है। तथा श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें हेतुवादोपदेशिकी

आदि संज्ञाओंका विस्तृत वर्णन है, पर दिगम्बर-ग्रन्थोंमें नहीं है। पृ०—३९।

श्वेताम्बर-शास्त्र-प्रसिद्ध करणपर्याप्त शब्दके स्थानमें दिगम्बर-शास्त्रमें निर्वृत्त्यपर्याप्त शब्द है। व्याख्या भी दोनों शब्दोंकी कुछ भिन्न है। पृ०—४१।

श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें केवलज्ञान तथा केवलदर्शनका क्रमभावित्व, सहभावित्व और अभेद, ये तीन पक्ष हैं, परन्तु दिगम्बर-ग्रन्थोंमें सहभावित्वका एक ही पक्ष है। पृ०—४३।

लेश्या तथा आयुके बन्धाबन्धकी अपेक्षासे कषायके जो चौदह और बीस भेद गोम्मटसारमें हैं, वे श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें नहीं देखे गये। पृ०—५५, नोट।

अपर्याप्त-अवस्थामें औपशमिकसम्यक्त्व पाये जाने और न पाये जानेके सबन्धमें दो पक्ष श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें हैं, परन्तु गोम्मटसारमें उक्त दोमेंसे पहिला पक्ष ही है। पृ०—७०, नोट।

अज्ञान-त्रिकमें गुणस्थानोंकी संख्याके सम्बन्धमें दो पक्ष कर्मग्रन्थमें मिलते हैं, परन्तु गोम्मटसारमें एक ही पक्ष है। पृ०—८२, नोट

गोम्मटसारमें नारकोंकी संख्या कर्मग्रन्थ-वर्णित संख्यासे भिन्न है। पृ०—११९, नोट।

द्रव्यमनका आकार तथा स्थान दिगम्बर संप्रदायमें श्वेताम्बरकी अपेक्षा भिन्न प्रकारका माना है और तीन योगोंके बाह्याभ्यन्तर कारणोंका वर्णन राजवार्तिकमें बहुत स्पष्ट किया है। पृ०—१३४।

मनःपर्यायज्ञानके योगोंकी संख्या दोनों सम्प्रदायमें तुल्य नहीं है। पृ०—१५४।

श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें जिस अर्थकेलिये आयोजिकाकरण, आवार्जित-करण और आवश्यककरण, ऐसी तीन संज्ञाएँ मिलती हैं, दिगम्बर-ग्रन्थोंमें उस अर्थकेलिये सिर्फ आवर्जितकरण, यह एक संख्या है। पृ०–१५५।

श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें कालको स्वतन्त्र द्रव्य भी माना है और उपचरित भी। किन्तु दिगम्बर-ग्रन्थोंमें उसको स्वतन्त्र ही माना है। स्वतन्त्र पक्षमें भी कालका स्वरूप दोनों संप्रदायके ग्रन्थोंमें एकसा नहीं है। पृ०–१५७।

किसी-किसी गुणस्थानमें योगोंकी संख्या गोम्मटसारमें कर्म-ग्रन्थकी अपेक्षा भिन्न है। पृ०–१६३, नोट।

दूसरे गुणस्थानके समय ज्ञान तथा अज्ञान माननेवाले ऐसे दो पक्ष श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें हैं, परन्तु गोम्मटसारमें सिर्फ दूसरा पक्ष है। पृ०–१६९, नोट।

गुणस्थानोंमें लेश्याकी संख्याके संबन्धमें श्वेताम्बर-ग्रन्थोंमें दो पक्ष हैं और दिगम्बर-ग्रन्थोंमें सिर्फ एक पक्ष है। पृ०–१७२, नोट।

[जीव सम्यक्त्वसहित मरकर स्त्रीरूपमें पैदा नहीं होता, यह बात दिगम्बर संप्रदायको मान्य है, परन्तु श्वेताम्बर संप्रदायको यह मन्तव्य इष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें भगवान् मल्लिनाथका स्त्रीवेद तथा सम्यक्त्वसहित उत्पन्न होना माना गया है।]

परिशिष्ट नं० २।

कार्मग्रन्थिकों और सैद्धान्तिकोंका मत-भेद ।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि दस जीवस्थानोंमें तीन उपयोगोंका कथन कार्मग्रन्थिक मतका फलित है। सैद्धान्तिक मतके अनुसार तो छह जीवस्थानोंमें ही तीन उपयोग फलित होते हैं और द्वीन्द्रिय आदि शेष चार जीवस्थानोंमें पाँच उपयोग फलित होते हैं। पृ०—२२, नोट।

अवधिदर्शनमें गुणस्थानोंकी संख्याके संबन्धमें कार्मग्रन्थिकों तथा सैद्धान्तिकोंका मत-भेद है। कार्मग्रन्थिक उसमें नौ तथा दस गुणस्थान मानते हैं और सैद्धान्तिक उसमें बारह गुणस्थान मानते हैं। पृ०—१४६।

सैद्धान्तिक दूसरे गुणस्थानमें ज्ञान मानते हैं, पर कार्मग्रन्थिक उसमें अज्ञान मानते हैं। पृ० १६९, नोट।

वैक्रिय तथा आहारक-शरीर बनाते और त्यागते समय कौनसा योग मानना चाहिये, इस विषयमें कार्मग्रन्थिकोंका और सैद्धान्तिकों-का मत-भेद है। पृ० -१७०, नोट।

सिद्धान्ती एकेन्द्रियमें सासादनभाव नहीं मानते, पर कार्मग्रन्थिक मानते हैं। पृ०—१७१, नोट।

ग्रन्थिभेदके अनन्तर कौनसा सम्यक्त्व होता है, इस विषयमें सिद्धान्त तथा कर्मग्रन्थका मत-भेद है। पृ०—१७१।

परिशिष्ट नं० ३।

चौथा कर्मग्रन्थ तथा पञ्चसंग्रह।

जीवस्थानोंमें योगका विचार पञ्चसंग्रहमें भी है। पृ०—१५, नोट।

अपर्याप्त जीवस्थानके योगोंके संबन्धका मत-भेद जो इस कर्मग्रन्थमें है, वह पञ्चसंग्रहकी टीकामें विस्तारपूर्वक है। पृ०—१६।

जीवस्थानोंमें उपयोगोंका विचार पञ्चसंग्रहमें भी है। पृ०—२०, नोट।

कर्मग्रन्थकारने विभङ्गज्ञानमें दो जीवस्थानोंका और पञ्चसंग्रहकारने एक जीवस्थानका उल्लेख किया है। पृ०-६८, नोट।

अपर्याप्त-अवस्थामें औपशमिकसम्यक्त्व पाया जा सकता है, यह बात पञ्चसंग्रहमें भी है। पृ०-७० नोट।

पुरुषोंसे स्त्रियोंकी संख्या अधिक होनेका वर्णन पञ्चसंग्रहमें है। पृ०-१२५, नोट।

पञ्चसंग्रहमें भी गुणस्थानोंको लेकर योगोंका विचार है। पृ०-१६३, नोट।

गुणस्थानमें उपयोगका वर्णन पञ्चसंग्रहमें है। पृ०-१६७, नोट।

बन्ध-हेतुओंके उत्तर भेद तथा गुणस्थानोंमें मूल बन्ध-हेतुओंका विचार पञ्चसंग्रहमें है। पृ०-१७५, नोट।

सामान्य तथा विशेष बन्ध-हेतुओंका वर्णन पञ्चसंग्रहमें विस्तृत है। पृ०-१८१, नोट।

गुणस्थानोंमें बन्ध, उदय आदिका विचार पञ्चसंग्रहमें है। पृ०—१८७, नोट।

गुणस्थानोंमें अल्प-बहुत्वका विचार पञ्चसंग्रहमें है। पृ०—१५२, नोट।

कर्मके भाव पञ्चसंग्रहमें हैं। पृ०—२०४, नोट।

उत्तर प्रकृतिओंके मूल बन्ध-हेतुका विचार कर्मग्रन्थ और पञ्चसंग्रहमें भिन्न-भिन्न शैलीका है। पृ०—२२७।

एक जीवाश्रित भावोंकी संख्या मूल कर्मग्रन्थ तथा मूल पञ्च-संग्रहमें भिन्न नहीं है, किन्तु दोनोंकी व्याख्याओंमें देखने योग्य थोड़ासा विचार-भेद है। पृ०—२२९।

परिशिष्ट नं० ४।

ध्यान देने योग्य कुछ विशेष-विशेष स्थल।

जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थानका पारस्परिक अन्तर। पृ०—५।

परभवकी आयु बाँधनेका समय-विभाग अधिकारी-भेदके अनुसार किस-किस प्रकारका है? इसका खुलासा। पृ०—२५, नोट।

उदीरणा किस प्रकारके कर्मकी होती है और वह कब तक हो सकती है? इस विषयका नियम। पृ०—२६, नोट।

द्रव्य-लेश्याके स्वरूपके सम्बन्धमें कितने पक्ष हैं? उन सबका आशय क्या है? भावलेश्या क्या वस्तु है और महाभारतमें, योग-दर्शनमें तथा गोशालकके मतमें लेश्याके स्थानमें कैसी कल्पना है? इत्यादिका विचार। पृ०—३३।

शास्त्रमें एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जो इन्द्रिय-सापेक्ष प्राणियोंका विभाग है, वह किस अपेक्षासे? तथा इन्द्रियके कितने भेद-प्रभेद हैं और उनका क्या स्वरूप है? इत्यादिका विचार। पृ०—३६।

संज्ञाका तथा उसके भेद-प्रभेदोंका स्वरूप और संज्ञित्व तथा असंज्ञित्वके व्यवहारका नियामक क्या है? इत्यादिपर विचार। पृ०—३८।

अपर्याप्त तथा पर्याप्त और उसके भेद आदिका स्वरूप तथा पर्याप्तिका स्वरूप। पृ०—४०।

केवलज्ञान तथा केवलदर्शनके क्रमभावित्व, सहभावित्व और अभेद, इन तीन पक्षोंकी मुख्य-मुख्य दलीलें तथा उक्त तीन पक्ष किस-किस नयकी अपेक्षासे हैं? इत्यादिका वर्णन। पृ०—४३।

बोलने तथा सुननेकी शक्ति न होनेपर भी एकेन्द्रियमें श्रुत-उपयोग स्वीकार किया जाता है, सो किस तरह ? इसपर विचार। पृ०-४५।

पुरुष व्यक्तिमें स्त्री-योग्य और स्त्री व्यक्तिमें पुरुष-योग्य भाव पाये जाते हैं और कभी तो किसी एक ही व्यक्तिमें स्त्री-पुरुष दोनोंके बाह्याभ्यन्तर लक्षण होते हैं। इसके विश्वस्त सबूत। पृ०--५३, नोट।

श्रावकोंकी दया जो सवा विस्वा कही जाती है, उसका खुलासा। पृ०—६१, नोट।

मन:पर्याय-उपयोगको कोई आचार्य दर्शनरूप भी मानते हैं, इसका प्रमाण। पृ०—६२, नोट।

जातिभव्य किसको कहते हैं ? इसका खुलासा। पृ०—६५, नोट।

औपशमिकसम्यक्त्वमें दो जीवस्थान माननेवाले और एक जीवस्थान माननेवाले आचार्य अपने-अपने पक्षकी पुष्टिकेलिये अपर्याप्त-अवस्थामें औपशमिकसम्यक्त्व पाये जाने और न पाये जानेके विषयमें क्या-क्या युक्ति देते हैं ? इसका सविस्तर वर्णन। पृ०—७०, नोट।

संमूर्च्छिम मनुष्योंकी उत्पत्तिके क्षेत्र और स्थान तथा उनकी आयु और योग्यता जाननेकेलिये आगमिक-प्रमाण। पृ०—७२, नोट।

स्वर्गसे च्युत होकर देव किन स्थानोंमें पैदा होते हैं ? इसका कथन। पृ०—७३, नोट।

चक्षुर्दर्शनमें कोई तीन ही जीवस्थान मानते हैं और कोई छह। यह मत-भेद इन्द्रियपर्याप्तिकी भिन्न-भिन्न व्याख्याओंपर निर्भर है। इसका सप्रमाण कथन। पृ०—७६, नोट।

कर्मग्रन्थमें असंज्ञी पञ्चेन्द्रियको स्त्री और पुरुष, ये दो वेद

माने हैं और सिद्धान्तमें एक नपुंसक, सो किस अपेक्षासे ? इसका प्रमाण । पृ०-७८, नोट ।

अज्ञान-त्रिकमें दो गुणस्थान माननेवालोंका तथा तीन गुणस्थान माननेवालोंका आशय क्या है ? इसका खुलासा । पृ०—८२ ।

कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओंमें छह गुणस्थान इस कर्म-ग्रन्थमें माने हुए हैं और पञ्चसंग्रह आदि ग्रन्थोंमें उक्त तीन लेश्या-ओंमें चार गुणस्थान माने हैं । सो किस अपेक्षासे ? इसका प्रमाण-पूर्वक खुलासा । पृ० —८८ ।

जब मरणके समय ग्यारह गुणस्थान पाये जानेका कथन है, तब विग्रहगतिमें तीन ही गुणस्थान कैसे माने गये ? इसका खुलासा । पृ०-८९ ।

स्त्रीवेदमें तेरह योगोंका तथा वेद सामान्यमें बारह उपयोगोंका और नौ गुणस्थानोंका जो कथन है, सो द्रव्य और भावमेंसे किस-किस प्रकारके वेदको लेनेसे घट सकता है ? इसका खुलासा । पृ०-९७, नोट ।

उपशमसम्यक्त्वके योगोंमें औदारिकमिश्रयोगका परिगणन है, सो किस तरह सम्भव है ? इसका खुलासा । पृ०-९८ ।

मार्गणाओंमें जो अल्पाबहुत्वका विचार कर्मग्रन्थमें है, वह आगम आदि किन प्राचीन ग्रन्थोंमें है ? इसकी सूचना । पृ०-११५, नोट ।

कालकी अपेक्षा क्षेत्रकी सूक्ष्मताका सप्रमाण कथन । पृ०-११७नोट ।

शुक्ल, पद्म और तेजो-लेश्यावालोंके संख्यातगुण अल्प-बहुत्वपर शङ्का-समाधान तथा उस विषयमें टबाकारका मन्तव्य । पृ०-१३०, नोट

तीन योगोंका स्वरूप तथा उनके बाह्य-आभ्यन्तर कारणोंका स्पष्ट कथन और योगोंकी संख्याके विषयमें शङ्का-समाधान तथा द्रव्यमन, द्रव्यवचन और शरीरका स्वरूप । पृ०-१३४, ।

सम्यक्त्व सहेतुक है या निर्हेतुक? क्षायोपशमिक आदि भेदोंका आधार, औपशमिक और क्षायोपशमिक-सम्यक्त्वका आपसमें अन्तर, क्षायिकसम्यक्त्वकी उन दोनोंसे विशेषता, कुछ शङ्का-समाधान, विपाकोदय और प्रदेशोदयका स्वरूप, क्षयोपशम तथा उपशम-शब्दकी व्याख्या, एवं अन्य प्रासाङ्गिक विचार। पृ०–१३६।

अपर्याप्त-अवस्थामें इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके पहिले चक्षुर्दर्शन नहीं माने जाने और चक्षुर्दर्शन माने जानेपर प्रमाणपूर्वक विचार। पृ०–१४१।

वक्रगतिके संबन्धमें तीन बातोंपर सविस्तर विचार:-(१) वक्रगतिके विग्रहोंकी संख्या, (२) वक्रगतिका काल-मान और (३) वक्रगतिमें अनाहारकत्वका काल-मान। पृ०–१४३।

अवधिदर्शनमें गुणस्थानोंकी संख्याके विषयमें पक्ष-भेद तथा प्रत्येक पक्षका तात्पर्य अर्थात् विभङ्गज्ञानसे अवधिदर्शनका भेदाभेद। पृ०-१४६।

श्वेताम्बर दिगम्बर संप्रदायमें कवलाहार-विषयक मत-भेदका समन्वय। पृ०–१४८।

केवलज्ञान प्राप्त कर सकनेवाली स्त्रीजातिकेलिये श्रुतज्ञान-विशेषका अर्थात् दृष्टिवादके अध्ययनका निषेध करना, यह एक प्रकारसे विरोध है। इस सम्बन्धमें विचार तथा नय-दृष्टिसे विरोधका परिहार। पृ०–१४९।

चक्षुर्दर्शनके योगोंमेंसे औदारिकमिश्रयोगका वर्जन किया है, सो किस तरह सम्भव है? इस विषयपर विचार। पृ०–१५४।

केवलिसमुद्घातसम्बन्धी अनेक विषयोंका वर्णन, उपनिषदोंमें तथा गीतामें जो आत्माकी व्यापकताका वर्णन है, उसका जैन-दृष्टिसे मिलान और केवलिसमुद्घात-जैसी क्रियाका वर्णन अन्य किस दर्शनमें है? इसकी सूचना। पृ०–१५५।

जैनदर्शनमें तथा जैनेतर-दर्शनमें कालका स्वरूप किस-किस प्रकारका माना है ? तथा उसका वास्तविक स्वरूप कैसा मानना चाहिये ? इसका प्रमाणपूर्वक विचार । पृ०–१५७ ।

छह लेश्याका सम्बन्ध चार गुणस्थान तक मानना चाहिये या छह गुणस्थान तक ? इस सम्बन्धमें जो पक्ष हैं, उनका आशय तथा शुभ भावलेश्याके अशुभ द्रव्यलेश्या और अशुभ द्रव्यलेश्याके समय शुभ भावलेश्या, इस प्रकार लेश्याओंकी विषमता किन जीवोंमें होती है ? इत्यादि विचार । पृ०–१७२, नोट ।

कर्मबन्धके हेतुओंकी भिन्न-भिन्न संख्या तथा उसके सम्बन्धमें कुछ विशेष ऊहापोह । पृ०–१७४, नोट ।

आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक और आभिनिवेशिक-मिथ्यात्वका शास्त्रीय खुलासा । पृ०–१७६, नोट ।

तीर्थंकरनामकर्म और आहारक-द्विक, इन तीन प्रकृतियोंके बन्धको कहीं कषाय-हेतुक कहा है और कहीं तीर्थंकरनामकर्मके बन्धको सम्यक्त्व-हेतुक तथा आहारक द्विकके बन्धको संयम-हेतुक, सो किस अपेक्षासे ? इसका खुलासा । पृ० १८१, नोट ।

छह भाव और उनके भेदोंका वर्णन अन्यत्र कहाँ-कहाँ मिलता है ? इसकी सूचना । पृ०–१९६, नोट ।

मति आदि अज्ञानोंको कहीं क्षायोपशमिक और कहीं औदयिक कहा है, सो किस अपेक्षासे ? इसका खुलासा । पृ० १९९, नोट ।

संख्याका विचार अन्य कहाँ-कहाँ और किस-किस प्रकार है ? इसका निर्देश । पृ०–२०८, नोट ।

युगपद् तथा भिन्न-भिन्न समयमें एक या अनेक जीवाश्रित पाये जानेवाले भाव और अनेक जीवोंकी अपेक्षासे गुणस्थानोंमें भावोंके उत्तर भेद । पृ०–२३१ ।

अनुवादगत पारिभाषिक शब्दोंका कोष

शब्द ।	पृष्ठ ।	पङ्क्ति ।
अ ।		
अछाद्मस्थिकयथाख्यात	६१	२०
[अध्यवसाय]	२२३	१३
अनुभवसंज्ञा	३८	६
[अनुभाग]	२२३	१३
[अनुभागबन्धस्थान]	,,	१६
अन्तरकरण	१४०	४
[अन्तर्मुहूर्त]	२८	१
[अपवर्तनाकरण]	६	२
[अबाधाकाल]	६	[illegible]
अभवस्थ-अयोगी	१९४	२५
असत्कल्पना	२१०	१७
आ ।		
[आदेश]	४	९
आयोजिकाकरण	१५५	४
[आयंबिल]	६०	१
आवर्जितकरण	१५५	६
[आवलिका]	३१	१
आवश्यककरण	१५५	७
इ ।		
इत्वरसामायिक	५७	२३

शब्द ।	पृष्ठ ।	पङ्क्ति ।
उ ।		
उत्कृष्ट अनन्तानन्त	२२५	११
उत्कृष्ट असंख्याता— संख्यात	२२०	५
उत्कृष्ट परीत्तानन्त	२२०	१५
उत्कृष्ट परीतासंख्यात	२१९	३
उत्कृष्ट युक्तानन्त	२२०	१९
उत्कृष्ट युक्तासंख्यात	२२०	३
उत्कृष्ट संख्यात	२१७	१६
उदयस्थान	२८	१
उदीरणास्थान	२८	३
उपकरणेन्द्रिय	३७	१२
उपशम	१३९	२७
उपशमश्रेणिभावी औपशमिकसम्यक्त्व	६६	३
ऊ ।		
[ऊर्ध्वतासामान्य]	३	१४
ऊर्ध्वप्रचय	१५८	२५
ओ ।		
[ओघ]	४	१६
ओघसंज्ञा	३८	१५

शब्द।	पृष्ठ।	पङ्क्ति।
औ।		
औपपातिकशरीर	९२	१३
औपशमिक	११८	१
औपशमिकचारित्र	१९७	१४
क।		
करण	४१	१०
करण-अपर्याप्त	४०	८
करणपर्याप्त	४०	१३
[काषायिक परिणाम]	२२३	१३
क्षयोपशम	१३८	५
क्षायोपशमिक	१३८	१
ग।		
ग्रन्थिभेदजन्य औपशमिकसम्यक्त्व	६५	१३
गतित्रस	८१	१०
घ।		
[घन]	१२१	१
[घनीकृत लोक]	११८	४
छ।		
छाद्मस्थिकयथाख्यात	६१	१५
ज।		
जघन्य अनन्तानन्त	२२०	१८
जघन्य असंख्यातासंख्यात	२२०	१

शब्द।	पृष्ठ।	पङ्क्ति।
जघन्य परीतानन्त	२२०	७
जघन्य परीतासंख्यात	२१८	११
जघन्य युक्तानन्त	२२०	१३
जघन्य युक्तासंख्यात	२१८	१५
जघन्य संख्यात	२०९	२४
[जातिभव्य]	६५	२
[जीवसमास]	५	९
	३	१५
ज्ञानसंज्ञा	३८	५
त।		
तिर्यक्प्रचय	१५८	२५
[तिर्यक्सामान्य]	३	१६
द।		
दीर्घकालोपदेशिकी-संज्ञा	३८	२२
दृष्टिवादोपदेशिकीसंज्ञा	३८	२६
द्रव्यप्राण	३	४
द्रव्यमन	१३५	१३
द्रव्यलेश्या	३३	४
द्रव्यवचन	११५	१९
[द्रव्यवेद]	५३	१
[द्रव्यसम्यक्त्व]	१७३	१६
द्रव्येन्द्रिय	३६	२०

शब्द।	पृष्ठ।	पङ्क्ति।
न।		
[निगोदशरीर]	२२३	२८
निरतिचारछेदोपस्था-पर्यायसंयम	५८	२१
[निर्जरा]	६	७
[निर्विभाग अंश]	२२२	२२
निर्विशमानकपरिहार-विशुद्धसंयम	६०	२०
निर्विष्टकायिकपरिहार-विशुद्धसंयम	६०	२१
निर्वृत्ति-अपर्याप्त	४१	२
निर्वृत्तीन्द्रिय	३६	२४
निश्चयमरण	८९	१७
नोकषाय	१७८	१७
प।		
पर्याप्ति	४१	२१
[पल्योपम]	२८	६
[पूर्व]	२५	४
पूर्वप्रतिपन्न	१५३	१३
[प्रतर]	११८	४
प्रतिपद्यमान	१५३	१२
[प्रत्येकशरीर]	२२३	२५
प्रथमोपशमसम्यक्त्व	६६	१

शब्द।	पृष्ठ।	पङ्क्ति।
प्रदेशोदय	१३७	१६
ब।		
[बन्धनकरण]	६	४
बन्धस्थान	२७	२४
भ।		
भवप्रत्यय	११४	१७
भवस्थ-अयोगी	१९४	२४
भाव	१९६	११
भावप्राण	३	५
भावलेश्या	३३	१८
[भाववेद]	५३	१
[भावसम्यक्त्व]	१३७	१५
भावेन्द्रिय	३६	२१
म।		
मध्यम अनन्तानन्त	२२०	२२
मध्यम असंख्याता-संख्यात	२२०	१०
मध्यम परीत्तानन्त	२२०	१५
मध्यम परीत्तासंख्यात	२१९	४
मध्यम युक्तानन्त	२२०	२०
मध्यम युक्तासंख्यात	२२०	५
मध्यम संख्यात	२१७	२२
य।		
यावत्कथितसामायिक	५८	६

शब्द ।	पृष्ठ ।	पंक्ति ।
र ।		
[रज्जु]	११८	४
ल ।		
लब्धि-अपर्याप्त	४०	५
लब्धित्रस	८१	१०
लब्धिपर्याप्त	४०	१०
लब्धिप्रत्ययशरीर	९२	१५
लब्धीन्द्रिय	३७	१४
[लवसत्तम देव]	७१	११
लिङ्गशरीर	९४	४
व ।		
वक्रगति	१४४	१५
[वर्ग]	११७	१
[वर्गमूल]	११८	६
विग्रह	१४३	१०
विपाकोदय	१३७	१५
विशुद्ध्यमानसूक्ष्मसंपरायसंयम	६१	९
[विशेष]	४	९
[विशेष बन्ध-हेतु]	१८१	१४
[विशेषाधिक]	१२२	६
[विस्तार]	४	९
[विस्वा]	६२	३
वैभाविक	७	५
व्यावहारिकमरण	१९	१५
श ।		
शतपृथक्त्व	१९३	१६
शरीर	१३५	२१
स ।		
सत्कल्पना	२१०	१५
सत्तास्थान	२७	२५
[समय]	२५	१
सरागसंयम	८४	२४
[सागरोपम]	२८	६
सातिचारछेदोपस्थापनीयसंयम	५८	१८
[सामान्य]	४	१६
[सामान्य बन्ध-हेतु]	१८१	१३
सूक्ष्मशरीर	९४	४
[सूचिश्रेणि]	११८	५
[संक्रम]	६	८
[संक्रमणकरण]	६	५
संक्लिश्यमानसूक्ष्मसंपरायसंयम	६१	५
[संक्षेप]	४	१५
संज्ञा	३८	३
[स्थितकल्पी]	५८	२
[स्थितास्थितकल्पी]	,,	३
ह ।		
हेतुवादोपदेशिकीसंज्ञा	३८	१५

चौथे कर्मग्रन्थ का कोष।

अ।

गाथाङ्क।	प्राकृत।	संस्कृत।	हिन्दी।
७२	अओपर	अतःपर	इससे अगाड़ी।
४८	अंतदुग	अन्ताद्विक	'सयोगकेवली' और 'अयोग-केवली' नामक अन्तके दो-तेरहवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान।
४७	अंताइम	अन्तादिम	अखीरका और शुरूका।
२३, २८	अंतिम	अन्तिम	अखीरका।
७३	अक्खा	आख्या	नाम।
३६, ३८	अग्गि	अग्नि	अग्निकायिक'-नामक जीव-विशेष
१२,१६,२०,२५, ३२,४२	अचक्खु	अचक्षुष्	'अचक्षुर्दर्शन'-नामक दर्शन-विशेष [६२-६][1]
५८	अछहास	अषट्हास	छह हास्यादिको छोड़कर।

१—[ ] इस कोष्ठकके अन्दरके अङ्क, पृष्ठ और पङ्क्तियोंके अङ्क हैं, उस जगह उन शब्दोंका विशेष अर्थ उल्लिखित है।

गा० ।	प्रा० ।	सं० ।	हिं० ।
३,१२,१६,२०,२१,२३, २६,३०,४२,४६,४८,५६	अजय	अयत	'अयत'-नामक चौथा गुणस्थान तथा उत्तर मार्गणा-विशेष [६२-१]
४७,५०,५४,५५, ६२,६३	अजो(यो गि)न	अयोगिन	चौदहवें गुणस्थानवाला जीव।
८२	अज्झवसाय	अध्यवसाय	परिणामांक दर्जे।
७-२,८-३,२२,३५, ५९,६०-२,६१-२	अट्ठ (ट्ठ)	अष्ट	आठ।
६९	अट्ठकम्म	अष्टकर्म	आठ कर्म।
६४	अट्ठार	अष्टादश	अठारह।
५५	अण	अन	'अनन्तानुबन्धी'-नामक कषाय-विशेष।
७३	अणवट्ठिय	अनवस्थित	'अनवस्थित'-नामक पल्य-विशेष। [२११-४]
१८,२३,२४,३४,४४	अणहार	अनाहार	'अनाहारक'-नामक उत्तर मार्गणा-विशेष।
१२	अणागार	अनाकार	विशेषता-रहित। [६३-५]
५१	अणाभिगहिय	अनाभिग्राहिक	'अनाभिग्राहिक'-नामक मिथ्यात्व-विशेष। [१७६-६]

गा० ।	प्रा० ।	सं० ।	हिं० ।
५१	अणाभोग	अनाभोग	'अनाभोग'-नामक मिथ्यात्व-विशेष। [१७७-२]
८२	अणुभाग	अनुभाग	'अनुभाग' नामक बन्ध-विशेष।
३८,४२,४३-२, ४४-२,६३,७१, ७९,८३,८४	अणंत	अनन्त	'अनन्त'-नामक संख्या-विशेष।
३७,३८,३९-२, ४१-२, ४२	अणंतगुण	अनन्तगुण	अनन्तगुना।
८४,८६	अणंताणंत	अनन्तानन्त	'अनन्तानन्त'-नामक संख्या-विशेष।
८१	अधम्मदेस	अधर्म-देश	'अधर्म'-नामक द्रव्यके प्रदेश।
६,११,२६,३०,६६	अना (न्ना)ण	अज्ञान	मिथ्या ज्ञान।
२०,३२	अनाणतिग	अज्ञान-त्रिक	'कुमति', 'कुश्रुति' और 'विभङ्ग'-नामक तीन अज्ञान।
६२	अनियट्टी	अनिवृत्ति	'अनिवृत्तिबादरसंपराय'-नामक नौवाँ गुणस्थान।
१०,३८	अनिल	अनिल	'वायुकायिक'-नामक जीव-विशेष। [५२-१६]

गा० । प्रा० ।	सं० ।	हिं० ।
६२—अनुदीरगु	अनुदीरक	'उदीरणा' न करनेवाला जीव ।
४,३५,८०—अन्न	अन्य	और—दूसरे ।
३३—अन्नाणमीस	अज्ञानमिश्र	अज्ञान-मिश्रित ज्ञान ।
२, ३, ४—अपजत्त	अपर्याप्त	'अपर्याप्त'-नामक जीव-विशेष । [११-२]
३,४,६,७,१५-२, १८-२,४५—अपज्ज	अपर्याप्त	"
५७,६१,६३—अपमत्त	अप्रमत्त	'अप्रमत्त'-नामक सातवाँ गुणस्थान।
५९—अपमत्ततं	अप्रमत्तान्त	'अप्रमत्त'-नामक सातवें गुणस्थान तक ।
५७,५९,६२,७०—अपुव्व	अपूर्व	'अपूर्वकरण'-नामक आठवाँ गुणस्थान ।
४६—अपुव्वपणग	अपूर्वपञ्चक	'अपूर्वकरण'-नामक आठवें से लेकर बारहवें तक पाँच गुणस्थान ।

गा०।	प्रा०।	सं०।	हिं०।
१	अप्पबहू	अल्पबहु	कम और ज्यादः [७–४]।
५९	अबंधग	अबन्धक	बन्धन न करनेवाला जीव-विशेष।
७८,८३	अब्भास	अभ्यास	'अभ्यास'-नामक गणितका संकेत-विशेष [२१८-१८]।
१९,२६,३२	अभव(व्व)	अभव्य	सिद्ध न होनेवाला जीव-विशेष।
४३	अभवियर	अभव्येतर	'अभव्य' और 'भव्य' नामक जीव-विशेष।
८३	अभव्वजिय	अभव्यजीव	'अभव्य'-नामक जीव विशेष।
६६	अभव्वत्त	अभव्यत्व	'अभव्यत्व'-नामक मार्गणा विशेष।
५१	अभिगहिय	आभिग्रहिक	'आभिग्रहिक'-नामक मिथ्यात्व-विशेष [१७६-४]।
५१	अभिनिवेसिय	आभिनिवेशिक	आभिनिवेशिक'-नामक मिथ्यात्व-विशेष [१७६-७]।
८५	अलोगनह	अलोकनभस्	अलोकाकाश।
५८	अलोभ	अलोभ	लोभको छोड़कर।
५०	अलेसा	अलेश्य	लेश्या-रहित।

गा० ।	प्रा० ।	सं० ।	हि० ।
११	—अवहि	अवधि	'अवधिज्ञान'-नामक ज्ञान-विशेष। [५६–११]
३७,८३	—अवि	अपि	भी।
५७	—अविउव्वियाहार	अवैक्रियाहार	'वैक्रिय' और 'आहारक'-नामक काययोग विशेषको छोड़कर।
५०,५१,५६,५७	—अविरइ	अविरति	पापों से विरक्त न होना।
६३	—अविरय	अविरत	चौथे गुणस्थानवाला जीव।
२४	—असच्चमोस	असत्यमृष	'असत्यमृष'-नामक मन तथा वचनयोग विशेष [९१–३]।
६६	—असिद्धत्त	असिद्धत्व	'असिद्धत्व'-नामक औदायिक भाव विशेष [१९९–१७]।
२,३,१५-२,२३, २७,३२,३६,	—अस(स्स)न्नि	असंज्ञी	मनरहित जीव [१० १९]।
३८,४०-२,४२, ४४,६३,७१,८०,	—असंख	असंख्य	'असंख्य'-नामक गणना-विशेष।
८०	—असंखासंख	असंख्यासंख्य	'असंख्यासंख्य'-नामक गणना-विशेष।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३७,३९,४२,४४	—असंखगुण	असंख्यगुण	असंख्यात गुना ।
६६	—असंजम [२००-१]	असंयम	'असंयम'-नामक औदयिक भाव विशेष ।
६८	—असंभविन्	असंभविन्	न हो सकनेवाली बात ।
५५	—अह	अथ	प्रारम्भमें ।
१२,२०,२९,३३, ३७, ४१,	—अहखाय [६१-१२,]	यथाख्यात	'यथाख्यात'-नामक चरित्र विशेष ।
४९	—अहिगय	अधिकृत	अधिकार में आया हुआ ।
३८,२,४०-६२	—अहिय	अधिक	ज्यादा ।
		आ	
१,२१-२,६१, ६९,७०	—आइ (ई)	आदि	प्रथम ।
८१	—आइम	आदिम	प्राथमिक ।
४८	—आइमदुग	आदिमद्विक	पहिले दो—पहिला और दूसरा गुणस्थान ।
६१	—आउ	आयुष्	'आयुष्'-नामक कर्म-विशेष ।
७८	—आवलिया	आवलिका	'आवलिका'-नामक कालका भाग विशेष ।

गा०	प्र०	सं०	हि०
६०	आसुहुम	आसूक्ष्म	'सूक्ष्मसंपराय' नामक दसवें गुणस्थान तक।
९,१६,२२,२४, २५,३१,४९,५३	आहार (ग) [५०-६,९२-२५,]	आहार (-क)	'आहारक' नामक मार्गणा, शरीर तथा कर्म-विशेष।
२६,४६,४७, ५५,५६,	आहार (-ग) दु (-ग)	आहार(-क) द्वि(-क)	'आहारक' और 'आहारक मिश्र' नामक योग-विशेष।
४७	आहारमीस	आहारकमिश्र	'आहारक मिश्र'-नामक काययोग-विशेष।
१४	आहारेयर [६८ ११]	आहारेतर	'आहारक' और 'अनाहारक' नामक दो मार्गणा विशेष।
५	इंदिय[४८-१]	इन्द्रिय	'इन्द्रिय'-नामक मार्गणा-विशेष।
८०	इक्कसिं	सकृत्	एक बार।
२२,५७,	इक्का(गा)र	एकादश	ग्यारह।
७४	इक्किक्क	एकैक	एक-एक।
१०,१५,२७, ३२,५०,	इग [५२-२]	एक	एक तथा 'एकेन्द्रिय'-नामक जीवजाति विशेष।

गा०	प्र०		सं०	हि०
५१	इगगुण		एकगुण	पहिला गुणस्थान ।
५२	इगपच्चय		एकप्रत्ययक	एक कारणसे होनेवाला बन्ध-विशेष ।
६४	इगवीस		एकविंशति	इक्कीस ।
१८	इत्तो		इतः	यहाँसे ।
११,२६,३९	इत्थि [५१-१०]		स्त्री	'स्त्रीवेद' नामक वेद-विशेष ।
७२	इदम्	इमं	इदम्	यह
८१,८४	इदम्	इम	इमान्	इनको
७८	इदम्	अस्स	अस्य	इसका
४	इदम्	एसु	एषु	इनमें
२४,५२,६८,७५,८०,८६	इय		इति	समाप्त और इस प्रकार ।
४४,४७,६३	इयर		इतर	उलटा-प्रतिपक्षी ।
२,४९	इह		इह	यहाँ ।

उ

गा०	प्र०	सं०	हि०
२९,३६,४६,५२,५४,६०,	उ	तु	तो

७१—वेइयंत — वांद्कान्त — बादका तक ।

॥ ७

गा०	प्रा०	सं०	हि०
६१	उइरंति[1]	उदीरयन्ति	उदित होते हैं ।
७१	उक्कस्स	उत्कृष्ट	सबसे बड़ा ।
५२	उत्तर	उत्तर	अवान्तर विशेष तथा 'औदयिक'-नामक भाव विशेष ।
७,८,६०-२,६७-२, ६९,	उदय (इअ) [६-१,११७-६, २०५-३]	उदय	'उदय' नामक कर्मोंकी अवस्था-विशेष ।
७,८,	उदीरणा [६-५]	उदीरणा	'उदीरणा-' नामक कर्मोंकी अवस्था-विशेष ।
७५,७७	उद्धरिअ	उद्धरित	निकाल लेना ।
४,५,२४,२९, ४६,४७,	उरल [१३-८]	औदारिक	'औदारिक' नामक काय योग विशेष ।
२६,२७,२८	उरलदुग	औदारिक द्विक	'औदारिक'-और 'औदारिकमिश्र'-नामक काययोग विशेष ।
४,२८,२९, ४९,५६,	उरलमीस (मिस्स) (-जोग)	औदारिकमिश्र (-योग)	'औदारिकमिश्रयोग'-नामक काय योग-विशेष ।
१,५,३०,३५, ६५,	उवओग [५-८]	उपयोग	'उपयोग'–नामक मार्गणा-विशेष

१ क्रियापद शब्द विभक्ति-सहित रक्खे गये हैं ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
५९,७०	—उवरिम	उपरिम	ऊपर का।
१३,२२,२६,३४, ४३,६४,६७,	—उवसम[६५-९, १९६-२४,२०५-१]	उपशम	उपशम-नामक सम्यक्त्व तथा भाव-विशेष।
६८	—उवसमसेढी	उपशम श्रेणि	'उपशम श्रेणि'-नामक श्रेणि-विशेष।
७०	—उवसामग	उपशामक	नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान।
५८,६०,६१, ६२,७०,	—उवसंत	उपशान्त	'उपशान्त मोह' नामक ग्यारहवाँ गुणस्थान।
		ऊ	
१६-२,२७,३१,४६, ५५,७७,७९,८१	—ऊण	ऊन	कम।
		ए	
८,५९,७०,७१,७५	—एग	एक	एक।
८१	—एगजियदेस	एकजीवदेश	एक जीवके प्रदेश।
७७	—एगरासी	एकराशि	एक समुदाय।
२,१५,३६,३८,४९,	—ए(इ)गिंदि[१०-११]	एकेन्द्रिय	एक इन्द्रियवाला जीव-विशेष।
६९,८५	—एव	एव	ही।
७१,७६	—एवं	एवम्	इस प्रकार।

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
		ओ	
७३	ओगाढ	अवगाढ	गहराई।
१४,२१,२५	ओहिदुग	अवधिद्विक	'अवधिज्ञान' और 'अवधिदर्शन' नामक को उपमार्गणा-विशेष।
३४	ओहिदंस	अवधिदर्शन	'अत्रधिदर्शन'-नामक दर्शन-विशेष।
१२ ४०,४२	ओही [६१-१]	अवधि	'अवधिदर्शन' तथा 'अवधिज्ञान'।
		क	
२,३५,७९	कम	क्रम	बारी-बारी।
४,२४-२,२७,२८-२, २९,४७,५५, ५६-२	कम्म (-ण)	कार्मण	'कार्मणशरीर'-नामक योग तथा शरीर-विशेष।
९,११,१६,२५, ३१,५०,,२०,५७, ५२,६६	कसाय [४९-१२]	कषाय	'कषाय'-नामक मार्गणा-विशेष तथा कषाय।
१३	काऊ [६४-६]	कापोत	'कापोत'-नामक लेश्या-विशेष।
९,३५,३९	काय [४९-३]	काय	'काय'-नामक मार्गणा तथा योग-विशेष।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
८५	काल	काल	'काल'-नामक द्रव्य-विशेष ।
१३	किण्हा [६३-१९]	कृष्णा	'कृष्णा'-नामक लेश्या-विशेष ।
१	किम्	किम्	कुछ ।
७६	किर	किल	पादपूर्त्यर्थ ।
३९	कीव	क्लीब	'नपुंसकवेद'-नामक उपमार्गणा-विशेष ।
११,४२	केवल [५६-१६]	केवल	'केवलज्ञान'-नामक ज्ञान-विशेष तथा 'केवलदर्शन'-नामक दर्शन-विशेष ।
६५	केवल जुयल	केवल युगल	"
६,१७,२१,२८, ३१,३३,३७,४८, ८५	केवलदु(-ग)	केवलद्विक	"
१२	केवलदंसण [६३-३]	केवलदर्शन	'केवलदर्शन'-नामक दर्शन-विशेष ।
४१,६७	केवलिन	केवलिन्	केवलज्ञानी-भगवान् ।
११	कोह [५५-२]	क्रोध	'क्रोध' नामक कषाय-विशेष ।
४०	कोहिन्	क्रोधिन्	क्रोधवाला जीव ।

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
		ख	
१३	—खइग [६६-१२]	क्षायिक	'क्षायिक'-नामक सम्यक्त्व-विशेष।
२२,३३,४४,६७-२, ६४,६८	—ख(-इ)य[१९६-१६,२०५-२]	क्षायिक	'क्षायिक'-नामक सम्यक्त्व तथा भाव-विशेष।
७५	—खवण	क्षपण	डालना।
८६	—खित्त	क्षिप्त	डाला हुआ।
७५	—खिप्पइ	क्षिप्यते	डाला जाता है।
७४	—खिविय	क्षिप्त्वा	डालकर।
८२,८४	—खिवसु	क्षिप	डालो।
५८,६०,६२-२, ७०,७४,७५,७६	—खीण	क्षीण	'क्षीणमोह'-नामक बारहवाँ गुण-स्थान तथा नष्ट।
८१,८४	—खे(-क्खे)व	क्षेप	'क्षेप'-नामक संख्या-विशेष।
६९	—खंध	स्कन्ध	पुद्गलों का समूह।
		ग	
९,६६	—गइ [४७-११]	गति	'गति'-नामक मार्गणा-विशेष।
१९	—गइतस	गतित्रस	'तेजःकाय' और 'वायुकाय'-नामक स्थावर-विशेष।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३,१८,२३,३५,५२	—गुण	गुण	गुणस्थान ।
५४,५६	—गुणचत्त	एकोनचत्वारिंशत्	उन्तालीस ।
१,७०	—गुणठा(ट्ठा)ण(-ग) [४७]	गुणस्थान(-क)	गुणस्थान ।
७९	—गुणण	गुणन	गुणा करना ।
७२,७९,८१	—गुरु(-अ)	गुरु(-क)	उत्कृष्ट ।
		च	
२३,६९,८४,८५	—च	च	और, फिर ।
२,५,७,१०,१५, १८,१९,२०-२, २१,२७,३०,३४-२,३५-३,३८,५० ५२,६०,६७-३, ७०-४,७७,७९-२	—चउ [५२-८]	चतुर	चार ।
६६	—चउगइ	चतुर्गति	'मनुष्यगति', 'देवगति', 'तिर्यग्गति' और 'नरकगति'-नामक चार गतियाँ ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
६९	चउघाइन्	चतुर्घातिन्	'ज्ञानावरण', 'दर्शनावरण', 'मोहनीय' और 'अन्तराय'-नामक चार कर्म ।
८०	चउत्थय	चतुर्थक	चौथा ।
२	चउदस	चतुर्दश	चौदह ।
५२,५३	चउपच्चअ	चतुःप्रत्ययक	चार कारणोंसे होनेवाला बन्ध-विशेष ।
७२	चउपल्लपरूवणा	चतुष्पल्यप्ररूपणा	चार 'पल्यों' का वर्णन ।
८,३६,६३,७६	चउर्	चतुर्	चार ।
६,३२	चतुरिंदि	चतुरिन्द्रिय	चार इन्द्रियोंवाला जीव-विशेष ।
५४,५७	चउवीस	चतुर्विंशति	चौबीस ।
६-२,१२,१७, २०,२८,३४	चक्खु [६२-४]	चक्षुष्	'चक्षुर्दर्शन'-नामक दर्शन-विशेष ।
६४ ६५	चरण	चारित्र	'चारित्र' ।
१६,१७,१८,२०, २१,२२,२७	चरम	चरिम	अखीरका ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
६०	चरिमदुग	चरिमद्विक	अन्तके दो (तेरहवां और चौदहवां गुणस्थान।)
७४	चिय	एव	ही।
		छ	
४,८-२,१७,१८,२३,२७,३६,३७,५९,६१,५०-२,६१	छ(-क, ग)	षट् (-क)	छह।
१०	छक्काय [५१-९]	षट्काय	पाँच 'स्थावर' और एक 'त्रस', इस तरह छह काय।
५५	छचत्त	षट्चत्वारिंशत्	छयालीस।
५१	छजियवह [२७७ १०]	षड्जीववधः	पाँच 'स्थावर' और एक 'त्रस' इस तरह छह प्रकारके जीवोंका वध।
७,२५	छलेस	षड्लेश्या	कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल' नामक छह लेश्याएँ।
५४,५६	छवीस	षड्विंशति	छब्बीस।
५४	छहिअचत्त	षडधिकचत्वारिंशत्	छयालीस।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१२,२१,२८,४२	छेअ [५८-१२]	छेद	'छेदोपस्थानीय'-नामक संयम-विशेष ।
		ज	
४८	जय	यत	छठा गुणस्थान ।
१०,१८	जल [५२-१५]	जल	'जलकाय'-नामक स्थावर जीव-विशेष ।
१०	जलण [५२-१६]	ज्वलन	'अग्निकाय'-नामक स्थावर जीव-विशेष ।
७१	जहन्न	जघन्य	सबसे छोटा ।
७२,७६	जा	यावत्	जबतक ।
८४	जायइ	जायते	होता है ।
३५,७०	जिअ (य)	जीव	जीव ।
१,२,४५	जिअ(य)ठाण [३-१]	जीवस्थान	'जीवस्थान' ।
३०	जिअलक्खण	जीवलक्षण	जीवका लक्षण ।
८६	जिट्ठ	ज्येष्ठ	बड़ा ।
१,५३	जिण	जिन	राग-द्वेषको जीतनेवाला ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
६६	—जियत्त [२०० १४]	जीवत्व	'जीवत्व'-नामक पारिणामिक भाव विशेष।
३,१५,२७,६७, ७८,७९,८०	—जुअ(य)	युत	सहित।
७१,८३	—जुत्त	युक्त	सहित।
७८	—जुत्तासंखिज्ज [२१८-१५]	युक्तासंख्यात	'युक्तासंख्यात'-नामक संख्या-विशेष।
१,९,२२.२४,३१ २९,४६,५०,५२, ५३,५८,६८	—जोग (अ) (य) [५-११,४९-६]	योग	'योग'-नामक मार्गणा-विशेष।
८२	—जोगछेय	योगच्छेद	योगके निर्विभाग अंश।
६२,६३	—जोगिन्	योगिन्	तेरहवें गुणस्थानवाला जीव।
७३	—जोयणसहस्स	योजनसहस्र	हजार योजन।
७२	—जंबूद्दीवपमाणय	जम्बूद्वीपप्रमाणक	'जम्बू'-नामक द्वीपके बराबर।
		ठ	
३७	—ठाण	स्थान	गुणस्थान या मार्गणास्थान।
८२	—ठिइबंध	स्थितिबन्ध	कर्म-बन्धकी काल-मर्यादा।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
		त	
६५,७६-२	तइय	तृतीय	तीसरा।
७४,७५,८१	तस्मि	तस्मिन्	उसमें।
८३	तस्स	तस्य	उसका।
१८,२६,२७-२, २९,४७,४८,७९,	तद् ते	ते	वे।
७६-२	तेहिं (हि)	तैः	उनके द्वारा।
५,३३,८०,८१, ८४-२,	तं	तत्	वह।
६१,७५	तओ	ततः	उससे।
७४	तदंत	तदन्त	उसके अखीरमें।
१०,१६,२५	तणु (-जोग) [५३-४,१३४-१४,]	तनु (-योग)	'काय-योग'-नामक योग-विशेष।
४	तणुपज्ज	तनुपर्याप्त	'पर्याप्त' शरीर।
८४	तव्वग्ग	तद्वर्ग	उसका वर्ग।
१०,१६,१९,२५, ३१,३८	तस [५२-२०]	त्रस	'त्रस'-नामक जीव-विशेष।

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
७४,८४	तह	तथा	इसी प्रकार।
७४	ता	तावत्	तबतक।
२,७,२०,२१,३०, ३२,३३,३८,४८, ५२,५७,७०,७७, ७९,३४,३५,३६. ३८,७०	ति (-ग)	त्रि (-क)	तीन।
३२,३३,४८	तिअनाण	त्र्यज्ञान	'कुमति', 'कुश्रुत' और 'विभङ्ग'-नामक अज्ञान।
८४	तिक्खुत्तो	त्रिकृत्वः	तीन बार।
५५	तिचत्त	त्रिचत्वारिंशत्	तेंतालीस।
५२,५३	तिपच्चअ	त्रिप्रत्ययक	तीन कारणोंसे होनेवाला बन्ध-विशेष।
१०,१७,६४	तिय(गइ)[५२-६]	त्रिक	तीन, तीन इन्द्रियोंवाला जीव-विशेष।
५४	तियहिअचत्त	त्रिकाधिकचत्वा-रिंशत्	तेंतालीस।

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
१०,१६,१५,२६, 30,३७	तिरि (-य) (-गई) [५१-१७]	तिर्यञ्च (-गति)	'तिर्यग्गति'-नामक गति-विशेष।
८१ ८५	तिवग्गिउं	त्रिवर्गितुम्	तीन बार वर्ग करनेके लिये।
८३	तिवग्गिय	त्रिवर्गित	तीन बार वर्ग किया हुआ।
७१	तिविह	त्रिविध	तीन प्रकार।
७१	तिहा	त्रिधा	तीन प्रकार।
७२,८० ८६	तु	तु	तो।
६६,७६	तुरिय	तुरीय	चौथा।
४१	तुल्ल	तुल्य	बराबर।
५०	तेउतिग	तेजस्त्रिक	'तेजः', 'पद्म' और शुक्ल' ये तीन लेश्याएँ।
१३,१५	तेऊ [६४-१२]	तेजः	'तेजः'-नामक लेश्या-विशेष।
२६,१५-२,७,२२	तेर(-स)	त्रयोदशन्	तेरह।
११,५०	त्ति	इति	समाप्त तथा इस प्रकार।

थ

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
१५,२७,३२	थावर	स्थावर	'स्थावर'नामक जीवोंकी जाति विशेष
१८	थी	स्त्री	'स्त्री वेद'-नामक मार्गणा-विशेष।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३७,३८-२,३९-२,४०,४१,४२,४३-३,४४-२,६२	थोव	स्तोक	थोड़ा।
	द		
११,३६	दग	दक	'जलकाय'-नामक स्थावरजीव-विशेष।
६,१६,२०,३१,५४,५८,८१	दस	दश	दस।
६५	दाणाइलद्धि	दानादिलब्धि	दान आदि पाँच लब्धियाँ।
७४,७५	दीवुदही	द्वीपोदधि	द्वीप और समुद्र।
६-२,८,१५-२,१८,१९-२,२०,२१,२३-२,३५-२,३७,३८,४२,४४,४७,६२-२,६४,८२	दु(-ग)	द्वि	दो।
१६,३२	दुअनाण	द्व्यज्ञान	'मत्यज्ञान' और 'श्रुताज्ञान'-नामक दो अज्ञान।

१८

गा०	प्रा०	सं०	हि०
५२	दुपच्चअ	द्विप्रत्ययक	दो कारणोंसे होनेवाला बन्ध-विशेष
३०	दुकेवल	द्विकेवल	'केवलज्ञान' और 'केवलदर्शन'-नामक उपयोग-विशेष।
५४,५५	दु(-ग)वीस	द्वाविंशति	बाईस।
७२	दुन्निय	द्वावेव	दो ही।
५६	दुमिस्स	द्विमिश्र	'औदारिकमिश्र' और 'वैक्रियमिश्र'-नामक योग-विशेष।
४५	दुविह	द्विविध	दो तरहसे।
३२,४८	दुदंस(-ण)	द्विदर्श(-न)	'चक्षुर्दर्शन' और 'अचक्षुर्दर्शन'-नामक दर्शन-विशेष।
३५	देव	देव	देवगति।
८६	देविंदसूरि	देवेन्द्रसूरि	देवेन्द्रसूरि (इस ग्रन्थके कर्ता)।
१२,१७,२२,२९,३३,४२,४६,४८,५६,६३	देस(-जय) [६१–६३]	देश	'देशविरति' नामक पाँचवाँ गुणस्थान।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
४२	नयण	नयन	'चक्षुर्दर्शन'-नामक उपयोग-विशेष।
२१,३५,४३-२,६२	दो	द्वि	दो।
६,९,३०,३४,४८-२	दंस(-ण) [४५-२०]	दर्शन	'दर्शन'-नामक उपयोग-विशेष।
३२	दंसणदुग	दर्शनद्विक	'चक्षुर्दर्शन' और 'अचक्षुर्दर्शन'-नामक दर्शन-विशेष।
३३,४८	दंस(-ण)तिग	दर्शनत्रिक	'चक्षुर्दर्शन' और 'अचक्षुर्दर्शन' और अवधिदर्शन'-नामक दर्शन-विशेष।
		ध	
८१	धम्मदेस	धर्मदेश	'धर्म'-नामक द्रव्यके प्रदेश।
६९	धम्म	धर्मादि	'धर्म' नामक अजीव द्रव्य-विशेष।
		न	
४७,४९-२,५४,८४	न	न	नहीं।
११,१६,२५	नपु (पुं) (-स) [५३-१६]	नपुंसक	नपुंसक।
१	नमिय	नत्वा	नमस्कार करके।

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
३१	—नयणेयर	नयनेतर	'चक्षुर्दर्शन' और 'अचक्षुर्दर्शन'-नामक उपयोग-विशेष।
११,१५,१८,१९, २५,३१,३७,६८	—नर [५३-१५]	नर	'पुरुषवेद' और 'मनुष्यगति'-नामक मार्गणा-विशेष तथा मनुष्य।
१०,२५	—नरगइ [५१-१५]	नरगति	'मनुष्यगति'-नामक उपमार्गणा-विशेष।
१४,१९,२६	—नरय	नरक	'नरकगति' नामक उपमार्गणा-विशेष।
२०,२१,२९,३०, ३१,५२,५४-२, ६४	—नव	नव	नौ।
९,३०,३४-२,४९,	—नाण [४९-१६]	ज्ञान	ज्ञान और सम्यग्ज्ञान।
३३,४८	—नाणतिग	ज्ञानत्रिक	'मतिज्ञान', श्रुतज्ञान' और 'अवधि-ज्ञान'-नामक तीन ज्ञान-विशेष।
८५	—निगोयजीव	निगोदजीव	'निगोद'-नामक जीव-विशेष।
७४	—निट्ठिय	निष्ठित	पूरा हो जाना।

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
३३	—नियदुग	निजद्विक	अपने दो ।
७१	—नियपयजुय	निजपदयुत	अपने पदसे युक्त ।
१०,३०,३६,३७	—नि(ना)रय(-गइ) [५१ १८]	निरयगति	'नरकगति'-नामक गति-विशेष ।
१३	—नीला [६४-१]	नीला	'नीला'-नामक लेश्या-विशेष ।
		प	
७९	—पच्छा	पश्चात्	फिर ।
४३	—पच्छाणुपुव्वि	पश्चानुपूर्वी	पीछेके क्रमसे ।
२,३,५-२,६,८, १७-२,४५	—पज्ज(ज)(-त्त) [११-३]	पर्याप्त	'पर्याप्त'-नामक जीव-विशेष ।
१७	—पज्जियर	पर्याप्तेतर	'पर्याप्त' और 'अपर्याप्त'-नामक जीव विशेष ।
७३	—पडिसलागा [२१२-१६]	प्रतिशलाका	'प्रतिशलाका'-नामक पल्य-विशेष ।
३,७,१५,२०, २३-२,२८,३६, ७४-२,७६,७७, ७९	—पढम	प्रथम	पहिला ।

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
१६,२३	पढमतिलेसा	प्रथमत्रिलेश्या	पहिली तीन (कृष्ण, नील और कापोत) लेश्याएँ।
६४	पढमभाव	प्रथमभाव	पहिला (औपशमिक) भाव।
१७,१९,३०,३१, ३५,३८,४५,५१, ५२,६१,६२,६५-२,६८,७०	पण	पञ्च	पाँच।
५३	पणतीस	पञ्चत्रिंशत्	पैंतीस।
५४,५५	पणपन्न	पञ्चपञ्चाशत्	पचपन।
१०,१८,१९,२५,३१	पणिंदि [५२-१०]	पञ्चेन्द्रिय	पाँच इन्द्रियोंवाला जीव।
८२	पत्तेयनिगोयअ	प्रत्येकनिगोदक	'प्रत्येकनिगोद'-नामक जीव विशेष।
५२,६८	पनर	पञ्चदश	पन्द्रह।
५४	पन्न	पञ्चाशत्	पचास।
४७,५६	पमत्त	प्रमत्त	'प्रमत्त'-नामक छठा गुणस्थान।
६१	पमत्तंत	प्रमत्तान्त	'प्रमत्त'-नामक छठे गुणस्थान तक।
८३	पमाण	प्रमाण	प्रमाण।
१३,१४	पम्हा [६४-१७]	पद्मा	'पद्मा'-नामक लेश्या विशेष।

गा० प्रा०	सं०	हि०
७७—परमासंखिज्ज [२१७-१६]	परमासंख्येय	'उत्कृष्टासंख्यात' नामक संख्या-विशेष।
६४,६६,६७-२,६८—परिणाम [१९७-३, २०५-३]	परिणाम	'पारिणामिक' नामक भाव-विशेष।
७१,८३—परित्तणंत	परित्तानन्त	'परित्तानन्त' नामक संख्या-विशेष।
७१,७८—परित्तासंख [२१८-११]	परित्तासंख्यात	'परित्तासंख्य'-नामक संख्या-विशेष।
१२,२१,२९,४१—परिहार [५९-७]	परिहार	'परिहारविशुद्ध' नामक संयम-विशेष।
८२—पलिभाग	परिभाग	निर्विभागी अंश।
७२,७७-२—पल्ल	पल्य	'पल्य' नामक प्रमाण-विशेष।
२७,३६—पवण	पवन	'वायुकाय'-नामक जीव-विशेष।
६५—पारिणामियभाव	पारिणामिकभाव	'पारिणामिक'-नामक भाव-विशेष।
४९,७१,७५—पि	अपि	भी।
८५—पुग्गल	पुद्गल	'पुद्गल'-नामक द्रव्य-विशेष
५७,७४,८३,८४,८५—पुण	पुनः	फिर।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
७४	पुन्न	पूर्ण	पूरा।
३९	पुरिस	पुरुष	'पुरुषवेद'-नामक उपमार्गणा-विशेष
७५	पुव्वि	पूर्व	पहिला।
५८	पुव्वुत्त	पूर्वोक्त	पहिले कहा हुआ।
८,२७,६१	पंच	पञ्च	पाँच।
७९	पंचम	पञ्चम	पाँचवाँ।
२	पंचिंदि [१०-१७]	पञ्चेन्द्रिय	पाँच इन्द्रियोंवाला जीव।
		फ	
७६	फुड	स्फुट	स्पष्ट।
		ब	
२,३,५,७,१५, ५८,५९	बायर [१०-३]	बादर	स्थूल और 'अनिवृत्तिबादर'-नामक नौवाँ गुणस्थान।
५,१५,२०,३०, ३५,५१	बार(-स)	द्वादश	बारह।
२,१०,३२,७९	बि(-य)	द्वि, द्वितीय	दो (द्वीन्द्रिय जीव) और दूसरा।

गा० प्रा०	सं०	हि०
५६—बिकसाय	द्वितीयकषाय	'अप्रत्याख्यानावरण'-नामक कषाय-विशेष।
६५,७५,७६—बीय(..य)	द्वितीय	दूसरा।
१,७,८,५०,५२—बंध [५-१६]	बन्ध	कर्मबन्ध।
५९—बंधइ	बध्नाति	बाँधता है।

भ

गा० प्रा०	सं०	हि०
७६—भरसु	भर	भरो।
७४—भरिय	भरित	भरा हुआ।
१,२५,७४—भव(व्व) [४९-२४]	भव्य	'भव्य'-नामक जीवोंका वर्ग-विशेष।
१३,१६—भवि(व्वि)यर [६५-४]	भव्येतर	'भव्य' और 'अभव्य'-नामक जीवोंके वर्ग-विशेष।
१,७०—भाव [७-५]	भाव	जीवोंके परिणाम।
५—भास	भाषा	'असत्यामृष'-नामक वचन-योग-विशेष।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१०,१५,३६,३८	भू [१२-१४]	भू	पृथ्वीकाय।
१४,६४,६८	भेय	भेद	प्रकार।
		म	
११,१४,२१, २५,४०	मइ(-नाण) [५६-४]	मति (-ज्ञान)	'मति'-नामक ज्ञान-विशेष।
४१	मइअन्नाण	मत्यज्ञान	'मत्यज्ञान'-नामक अज्ञान-विशेष।
१	मग्गणठाण [४-३]	मार्गणास्थान	'मार्गणास्थान'।
२३	मग्गणा	मार्गणा	'मार्गणास्थान'।
७१,७९,८०,८६	मज्झ	मध्य	मध्यम।
७२	मज्झिम	मध्यम	मध्यम।
१०,१७,२४,२८-२,२९,३५,३९, ४६,४७	मण(-जोग) [५२-२४,५६-४,१३४-६]	मनः(-योग)	'मनोयोग'-नामक योग-विशेष।
५१	मणकरणानियम [१७७-८]	मनःकरणानियम	'मन' और 'इन्द्रियों'को मर्यादाके अन्दर न रखना।
११,६,१७,२१, २८,३०,४८,३४	मणनाण	मनोज्ञान	'मनःपर्यव'-नामक ज्ञान-विशेष।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
४०	मणनाणिन्	मनोज्ञानिन्	'मनःपर्यवज्ञान'वाला जीव।
११,४९	मय [-५-३]	मद, मत	'मानकषाय' और मानी हुई बात।
७३	महासलागा [२१२-७०]	महाशलाका	'महाशलाका'-नामक पल्य-विशेष।
४०	माइन्	मायिन्	मायाकषायवाले जीव।
४०	माणिन्	मानिन्	मानकषायवाले जीव।
११	माय [६३-१]	माया	'मायाकषाय'।
३,१३,१६,२६, ४४,४५,५०,५१, ५५-२,६३,६६	मिच्छ [६७-११]	मिथ्यात्व	'मिथ्यात्व' नामक पहिला गुणस्थान
५३	मिच्छअविरइपच्चइअ	मिथ्यात्वाविरति-प्रत्ययक	'मिथ्यात्व' और 'अविरति'से उत्पन्न होनेवाला बन्ध-विशेष।
१९,४४	मिच्छदुग	मिथ्यात्वद्विक	'मिथ्यात्व' और 'सास्वादन'-नामक पहिला और दूसरा गुणस्थान।
२२	मिच्छतिग	मिथ्यात्वत्रिक	'मिथ्यात्व' 'सास्वादन' और 'मिश्र-दृष्टि'-नामक तीन गुणस्थान।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
५३	मिच्छपच्चइय	मिथ्यात्वप्रत्ययक	'मिथ्यात्व'-से होनेवाला बन्ध-विशेष।
५५,५७	मिस्स(मीस)दुग	मिश्रद्विक	'औदारिकमिश्र' और 'वैक्रियमिश्र' नामक योग-विशेष।
१३,१७,२४-२, २९,३३,४४,४६, ४८-२,५५,५९, ६१,६३,६४,६७, ६९	मीस(-ग) [६७-८, ९०-२०,५१-२२, ९३-१,११७-१, २०५-२]	मिश्र(-क)	तीसरा गुणस्थान, योग-विशेष, अज्ञान, सम्यक्त्व-विशेष और भाव-विशेष।
५६	मुत्तु	मुक्त्वा	छोड़कर।
६०,६९	मोह	मोह	'मोहनीय'-नामक कर्म-विशेष।
		य	
९,१०,१३,२२, ३४,७५,७६,७७, ८२	य	च	और।
		र	
५७	रहिय	रहित	रहित।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
७८,८३	—रासि	राशि	समूह।
७७,७८,७९-२, ८०,८१	—रूव(प) [२१८-१६]	रूप	एक।

ल

गा०	प्रा०	सं०	हि०
६५	—लद्धी	लब्धि	पाँच लब्धियाँ।
७८-२,८०,८३-२,८४	—लहु	लघु	जघन्य।
७२	—लहुसंखिज्ज [२०९-२४]	लघुसंख्येय	'जघन्य संख्यात'-नामक संख्या-विशेष।
८६	—लिहिअ	लिखित	लिखा।
१,९,११,३६, ४३,६६	—लेसा [५-१३, ४९-२२]	लेश्या	छह लेश्याएँ।
८१	—लोगागासपएस	लोकाकाशप्रदेश	लोक-आकाशके प्रदेश।
११,२०	—लोभ [५६-२]	लोभ	'लोभकषाय'।
४०	—लोभिन्	लोभिन्	लोभकषायवाले जीव।

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
		व	
१७,६७,७४,७५	—व(वा)	वा, इव	अथवा और जैसे।
२४,२७,२८-२, २९,४६	—वइ	वचस्	वचन।
८४	—वग्गसु	वर्गयस्व	वर्ग करो।
८०	—वग्गिय	वर्गित	वर्ग किया हुआ।
३४,५३,५५	—वज्ज	वर्ज	छोड़कर।
१०,१९,३६,३८	—वण [५२-१७]	वन	वनस्पतिकाय।
८५	—वणस्सइ	वनस्पति	वनस्पतिकाय।
१०,१७,३५,३९,४०	—वयण [५३-२, १३४-१०]	वचन	शब्द।
८६	—ववहरइ	व्यवहरति	कहा जाता है।
१६,६०,६९,७७,८४	—वि	अपि	ही और भी।
२९,४६,४९	—विउव्व(•ग)	वैक्रिय(•क)	'वैक्रिय'-नामक शरीर तथा योग-विशेष।
५,२७-२,२९,४६	—विउव्व(व)दुग	वैक्रियद्विक	'वैक्रिय' और 'वैक्रियमिश्र'-नामक योग-विशेष।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
४,४७	विउव्व(व)मीस [९२-१८]	वैक्रियमिश्र	'वैक्रियमिश्र'-नामक योग-विशेष।
२४	विउव्विय	वैक्रिय	'वैक्रिय'-नामक योग विशेष।
३,१५,१९,२७,३६	विगल	विकल	दो, तीन और चार इन्द्रियवाले जीव।
६,१८,५५,५८,६१	विणा	विना	सिवाय।
२८,३०,३३,४७, ५३,५५,६०	विणु	विना	सिवाय।
१४,४०	विभं(ब्भं)ग	विभङ्ग	मिथ्या अवधिज्ञान।
३५	विरइदुग	विरतिद्विक	'देशविरति' और 'सर्वविरति'-नामक पाँचवें और छठे गुणस्थान।
६	विहुण	विहीन	रहित।
६८	वीस	विंशति	बीस।
१,१८	वुच्छं	वक्ष्ये	कहूँगा।
९,११,२०,३१, ६१,६६	वेअ(य) [४९ १०]	वेद	'वेद'-नामक मार्गणा-विशेष।
७१	वेइयंत	वेदिकान्त	वेदिका तक।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१३,२२,३४,४४	वेयग [६६-१०]	वेदक	क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि जीव ।
५८	वेयति	वेदत्रि	स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ।
	स		
२१,४५,५८,६१	सग	सप्त	सात ।
५२	सगवन्न	सप्तपञ्चाशत्	सत्तावन ।
७९	सगासंख	सप्तमासंख्यं	सातवाँ असंख्यात ।
२४	सच्चेयर [१०-१४, १७, ११-१६, १९]	सत्येतर	सत्य और असत्य ।
२२,३६	सठाण	स्वस्थान	अपना-अपना गुणस्थान ।
७,८-३,२३,५४, ५९-२,६०-२,७९	सत्त	सप्तन्	सात ।
२,३-२,४,५,६, ८,९,१४,१७, १८,१९,२५,३१, ४५-२	सन्नि [१०-१९, ५०-४]	संज्ञिन्	मनवाला प्राणी ।
७,१४,४५	सन्निदुग	संज्ञिद्विक	पर्याप्त और अपर्याप्तसंज्ञी ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
१३,४५	सन्नियर [६७-१६]	संज्ञीतर	मनवाला और बे-मन प्राणी ।
६४,६८	सन्निवाइय [१९७-९]	सान्निपातिक	'सान्निपातिक'-नामक एक भाव-विशेष ।
४०,६२,६९,८२	सम	सम	बराबर ।
२१,२८,४२	समइ(ई)य	सामायिक	'सामायिक' नामक संयम-विशेष।
८२	समय	समय	कालका निर्विभागी अंश ।
७८	समयपरिमाण	समयपरिमाण	समयोंकी मिक़दार ।
९,४५,६४,६५-२,७०	सम्म [४९-२५]	सम्यग्	'सम्यग्दर्शन' ।
१४	सम्मत्ततिग	सम्यक्त्वत्रिक	'औपशमिक', 'क्षायिक' और 'क्षायोपशमिक'-नामक तीन सम्यक्त्व विशेष ।
२५	सम्मदुग	सम्यक्त्वद्विक	'क्षायिक' और 'क्षायोपशमिक' ।
४७,५८	सयो(जो)गि	सयोगिन्	'सयोगी'-नामक तेरहवाँ गुणस्थान ।
७४,७५,७७	सरिसव	सर्षप	सरसों ।
७३,७५,७६	सलाग [२१२-१२]	शलाका	'शलाका'-नामक पल्य-विशेष ।
७५	सलागपल्ल	शलाकापल्य	शलाकापल्य ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
३,५,१६,१९,२५, ४५,५०,७१, ७७,८५	सव्व	सर्व	सब।
७३	सखिहभरिय	सशिखभृत	शिखा--ऊपर तक भरा हुआ।
११	सागार [५७-८]	साकार	आकारवाले-विशेष उपयोग।
१२	सामाइय[५७-२०]	सामायिक	'सामायिक'-नामक संयम-विशेष।
५१	साय	सात	सातवेदनीय कर्म।
१३,१८,२६,४३, ४५,४९,५५,६३	सासा(स)ण [६७-१]	सासादन	'सासादन'-नामक दूसरा गुणस्थान।
४९	सासणभाव	सासादनभाव	'सासादन'की अवस्था।
६८,८५	सिद्ध	सिद्ध	मुक्त जीव।
११-२,१४,२१, २५,४०,४९	सुअ(य) [५६-६]	श्रुत	शास्त्र।
१३,१४,२२,३१, ३७,५०	सुक्का [६४-२२]	शुक्का	'शुक्का'-नामक लेश्या-विशेष।
८०	सुत्तुत्त	सूत्रोक्त	सूत्रोंमें कहा हुआ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
४१	सुयअन्नाण	श्रुताज्ञान	'श्रुताज्ञान'-नामक मिथ्याज्ञान-विशेष।
१०,१४,१८,२६,३०	सुरगइ [५१-१३]	सुरगति	देवगति।
२,५,१२,१८,२२, २९,३७,४१,५८, ५९,६१,६२	सुहुम [९-१८, ६०-२३]	सूक्ष्म	'सूक्ष्म'-नामक वनस्पतिकायके जीव-विशेष।
८६	सुहुमत्थवियार	सूक्ष्मार्थविचार	'सूक्ष्मार्थविचार' अपर-नामक यह ग्रन्थ।
१,७,३७,४५,५३, ६५,६९,७०	सेस	शेष	बाकी।
५२,५३,५४,५८	सोल(-स)	षोडश	सोलह।
४१,४२,४३-२,४४	संख	संख्य	संख्यातगुना।
३९,४१,६२,६३	संखगुण	संख्यगुण	संख्यातगुना।
१,७१	संखिज्ज	संख्येय	संख्या।
९,३४	संजम [४९-१८]	संयम	'संयम'।
५८	संजलणति	संज्वलनत्रिक	संज्वलन क्रोध, मान और माया।

गा० प्रा०	सं०	हि०
७,८,६०—संत [६·८]	सत्ता	'सत्ता'।
६०—संतुदय	सत्तोदय	'सत्ता' और 'उदय'।
५१—संसइय [१७६·९]	सांशयिक	'सांशयिक'-नामक मिथ्यात्व-विशेष।
	ह	
८६—हवेइ	भवति	होता है।
५०,५४—हेउ	हेतु	सबब।
८०,८४—होइ	भवति	होता है।

* समाप्त *